मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति

डॉ० बैजनाथ पुरी

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)

हिन्दी समिति प्रभाग ग्रंथमाला

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति

लेखक

डॉ० बैजनाथ पुरी

अवकाशप्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष
प्राचीन भारतीय इतिहास एवं पुरातत्व विभाग
—लखनऊ विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन हिन्दी भवन
महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ

प्रकाशक :

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, हिन्दी समिति प्रभाग लखनऊ

ग्रन्थ माला संख्या २२१

मूल्य : २८ रु० ५० पैसा

मुद्रक :

लीडर प्रेस,

इलाहाबाद

प्रस्तावना

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के हिन्दी समिति प्रभाग द्वारा सद्य: प्रकाशित 'मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति' नामक पुस्तक लखनऊ विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास एवं 'पुरातत्व विभाग' के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष डा० बैजनाथपुरी की मौलिक गवेषणात्मक कृति है जिसका सम्बन्ध प्राचीन इतिहास तथा संस्कृति दोनों से है। इसमें प्रतिपाद्य विषय का अनुशीलन भौगोलिक परिचय; इतिहास, संस्कृति, साहित्य, बौद्ध धर्म एवं कला के संदर्भों में शोधात्मक ढंग से करके प्रत्येक क्षेत्र में भारतीय संस्कृति का प्रदेय आकलित किया गया है। पुस्तक दो भागों में है। प्रथम में तिएनशान एवं कुएनलुन के बीच स्थित नगरों एवं राज्यों के इतिहास तथा सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न अंगों का वर्णन है, दूसरे भाग में पेरीफेरी के अन्तर्गत आने वाले निकटवर्ती देशों—तिब्बत, मंगोलिया, चीन, अफगानिस्तान तथा पूर्वी ईरान में बौद्ध धर्म एवं कला का चित्रण भारतीय प्रभाव के संदर्भ में किया गया है। भाषा सरल, शैली गवेषणात्मक एवं विवेचन तार्किक तथा प्रमाण-पुष्ट है। इस शृंखला की पहली पुस्तक 'सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास' १९६० में प्रकाशित हुई थी। अब तक उसके तीन संस्करण हो चुके हैं। अत: उस शृंखला में लेखक ने मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति का प्रसारण इस दूसरी पुस्तक में चित्रित किया है। डा० पुरी की दोनों पुस्तकें एशिया में प्राचीन भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक गुरुत्व, धर्म तथा संस्कृति-प्रचारकों द्वारा धर्म तथा संस्कृति-प्रचार सम्बन्धी उनकी साहसिक यात्राओं को प्रमाणित करती हैं तथा धर्म एवं संस्कृति के प्रति भारतीयों की अनन्य निष्ठा को सोदाहरण प्रस्तुत करती हैं। विद्वान लेखक ने प्रमाणपूर्वक यह बताया है कि मध्य एशिया में प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रसार ईसा की प्रथम शताब्दी में साहसिक भारतीय व्यापारियों, धर्म-प्रेमी ब्राह्मणों, संस्कृति प्रेमी बौद्ध भिक्षुओं तथा धर्म-निष्ठ निरस्कृत राजकुमारों द्वारा हुआ।

आशा है यह पुस्तक प्राचीन भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के विद्यार्थियों, शोधकर्ताओं तथा भारतीय संस्कृति-प्रेमियों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी तथा हिन्दी वाङमय के एक महत्वपूर्ण अभाव की पूर्ति करेगी।

रामलाल सिंह
कार्यकारी उपाध्यक्ष
उ० प्र० हिन्दी संस्थान

१६–४–८१

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक के माध्यम से विद्वान् लेखक ने भारतीय संस्कृति के प्रसारण की कहानी को उजागर करने का श्लाघनीय प्रयास किया है।

विद्यार्थियों एवं शोधकर्ताओं से लेखक का अभिन्न सम्बंध रहा है। यही कारण है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन विद्यार्थियों की आवश्यकताओं, समस्याओं तथा सुविधाओं को ध्यान में रखते हुए लेखक ने बड़े मनोयोग से किया है।

बामियान-बल्ख से चीनी तुर्किस्तान एवं तुन-हुआंग तक के विशाल क्षेत्र का इतिहास एवं संस्कृति को अपने लघु कलेवर में संजोये हुए हिन्दी भाषा में अपने विषय की यह प्रथम अनूठी कृति है।

इस पुस्तक में विषय को, भौगोलिक परिचय, इतिहास, संस्कृति, साहित्य तथा बौद्ध धर्म और कला के संदर्भ में, लेखक ने, क्रमबद्ध रूप से, सरल और सुबोध भाषा-शैली में प्रस्तुत किया है।

पुस्तक की विषय सामग्री विद्यार्थियों की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में विभक्त की गयी है। प्रथम भाग में केवल तिएन-शान एवं कुन-लुन के बीच स्थित प्राचीन कौशेय (रेशम) मार्ग पर स्थित नगरों एवं राज्यों का इतिहास तथा जनजीवन के विभिन्न अंगों का चित्रण मिलता है। पुस्तक के द्वितीय भाग में परिणाह (पेरीफेरी) के अंतर्गत आने वाले निकटवर्ती देशों में बौद्धधर्म एवं कला और उस पर भारतीय प्रभाव के संदर्भ में विषय का निरूपण हुआ है। उसमें तिब्बत, मंगोलिया, चीन, अफ़गानिस्तान एवं पूर्वी ईरान में बौद्धधर्म एवं कला का प्रस्तुतीकरण हुआ है।

पुस्तक के प्रथम भाग में सात तथा द्वितीय भाग में पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय के अंत में लेखक द्वारा दी गयी टिप्पणियों ने पुस्तक की उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया है।

अपने विषय के अप्रतिम और विद्वान् लेखक की यह अनूठी कृति अपने सुधी

पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हमें अपार आनंद एवं संतोष का अनुभव हो रहा है ।

हमें विश्वास है कि लेखक की पूर्व प्रकाशित पुस्तक "सुदूरपूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास" की ही भाँति प्रस्तुत ग्रन्थ का भी हिन्दी-जगत् में पूर्ण समादर होगा ।

प्रस्तुत ग्रन्थ विश्वविद्यालय स्तर के विद्यार्थियों, शोध-कर्ताओं तथा जिज्ञासु पाठकों के लिए अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होगा--ऐसा हमें विश्वास है ।

रमेश चन्द्र दुबे
निदेशक

१ मार्च १९८१

प्राक्कथन

प्राचीन भारतीय संस्कृति का प्रसारण दक्षिण-पूर्व एशिया एवं मध्य एशिया में ईसवी की प्रथम शताब्दी से हुआ। इसका श्रेय भारतीय व्यापारियों, ब्राह्मणों तथा बौद्ध भिक्षुओं और कुछ निरस्कृत राजकुमारों को था। इस संदर्भ में 'सुदूर पूर्व में भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास' शीर्षक मेरी पुस्तक 1960 में प्रकाशित हुई थी और अब तक उसके तीन संस्करण हो चुके हैं। अत. द्वितीय क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के प्रसारण की कहानी प्रस्तुत करना अनिवार्य हो गया। दो वर्ष पहले हिन्दी समिति ने मुझे इस विषय पर पुस्तक लिखने के लिए आमंत्रित किया और मैंने यह प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। वामियान-बल्ख से चीनी तुर्किस्तान एवं तुन-हुआंग तक के इस विशाल क्षेत्र का इतिहास एवं संस्कृति लिखने का कार्य सरल न प्रतीत हुआ। भारतीय विद्वानों ने उपलब्ध खरोष्ठी लेखों के आधार पर कुछ लेखों में सांस्कृतिक अवयवों का चित्रण करने का प्रयास अवश्य किया तथा 'भारत और मध्य एशिया' और 'भारत और अफगानिस्तान' शीर्षक दो पुस्तकें भी अंग्रेजी में वृहत्तर भारत के सन्दर्भ में प्रकाशित हुईं। सम्पूर्ण रूप से इस क्षेत्र का न तो इतिहास और न संस्कृति का ही चित्रण हो सका। हां! आरेल स्टाइन लिखित 'सेरेन्डिया' एवं 'एंशिएंट खोतान' में उत्खनन एवं उपलब्ध सामग्री का उल्लेख मिलता है पर विद्यार्थियों के लिए इन ग्रन्थों को पढ़ना और उनसे परीक्षार्थ सामग्री संचित करना दुर्लभ है। इस दृष्टिकोण से मैंने अपनी पहली पुस्तक की भांति इसमें भी विषय का अध्ययन भौगोलिक परिचय, इतिहास, संस्कृति, साहित्य, तथा बौद्ध धर्म और कला के सन्दर्भ में किया है। पुस्तक दो भागों में है: एक में तो केवल तिएन-शान एवं कुन-लुन के बीच स्थित प्राचीन कौशेय (रेशम) मार्ग पर स्थित नगरों एवं राज्यों का इतिहास तथा जनजीवन के विभिन्न अंगों का चित्रण है और दूसरे में निकटवर्ती देश, जो परिणाह (पेरीफेरी) के अन्तर्गत आते हैं, में बौद्धधर्म एवं कला और उस पर भारतीय प्रभाव के सन्दर्भ में विवरण प्रस्तुत किया गया है। इनमें तिब्बत, मंगोलिया, चीन, अफगानिस्तान एवं पूर्वी ईरान में बौद्ध धर्म एवं

कला को प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में मैंने नोट्स भी दे दिए हैं जो विशेष अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे।

पुस्तक लिखते समय मुझे प्रो० बरो से उनके कुछ लेख प्राप्त हुए हैं इसलिए उनका मैं आभारी हूं। मेरे मित्र भारतीय पुरातत्व विभाग के श्री वी० के० थापर ने मुझे कुछ पुस्तकें उपलब्ध करा दीं। इसलिए वह भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। लखनऊ के प्रान्तीय संग्रहालय से भी मुझे कुछ पुस्तकें प्राप्त हुईं। अन्य ग्रन्थ तथा लेख मुझे लखनऊ विश्वविद्यालय के पुस्तकालय एवं अपने निजी संग्रह में मिल गए इसलिए पुस्तक के लिखने में कोई बाधा नहीं हुई।

हिन्दी संस्थान के सचिव, श्री हरिश्चन्द्र, का भी मैं आभारी हूं जिनके प्रयास से इस पुस्तक का शीघ्र प्रकाशन हो सका। आशा है यह पुस्तक विद्यार्थियों एवं शोध कर्त्ताओं के लिए विशेष रूप से उपयोगी होगी। चित्रों के लिए मैं भारतीय पुरात्व विभाग एवं राष्ट्रीय संग्राहालय का आभारी हूं।

पुस्तक के मुद्रण काल में मेरी प्रिय पुत्री तरुणा पुरी का 15 जनवरी 1980 को एक मार्ग दुर्घटना में आकस्मिक देहावसान हो गया। 19 वर्ष की छोटी सी आयु में वक्ता, कवित्री एवं लेखिका के रूप में तरुणा ने अंग्रेजी एवं हिन्दी की सेवा की। यह ग्रन्थ उसी की स्मृति में उसी बेटी को समर्पित है।

बैजनाथ पुरी

विषय-सूची

भाग १

भाग 2

भाग 1

अध्याय 1

भौगोलिक परिचय

प्राचीन मध्य एशिया से उस विशाल क्षेत्र का संकेत है जिसकी सीमाएं पूर्व में चीन की वृहत् दीवार से पश्छिम में कास्पियन तथा अरल सागर और उत्तर में साइबेरिया (तियागा) से दक्षिण में तिव्वत तक फैली हुई थी। यहाँ पर आदि काल से दो प्रकार के निवासी रहते थे जो भौगोलिक परिस्थिति के कारण एक-दूसरे से भिन्न थे तथा दोनों की अपनी सामाजिक परम्पराएँ और मूल्य थे। उत्तरी क्षेत्र के निवासी कंजर या घुमंतू थे जिनका निवास स्थान कहीं पर सीमित न था। उनके विपरीत दक्षिण क्षेत्रीय निवासी एक ही स्थान पर रहते थे। इन लोगों को तभी अपना घरबार छोड़ना पड़ा, जब किसी दूसरी बलवान जाति ने इनको हराकर इसके लिए बाध्य किया। यह क्रम भी बराबर जारी रहा तथा मध्य एशिया के इतिहास में इसके बहुत से उदाहरण हैं। अत: पारस्परिक संघर्ष एवं आर्थिक कठिनाइयाँ जातियों के निरस्तीकरण का कारण बनी रहीं। विजयी जाति भी अधिक काल तक उस क्षेत्र पर अपना अधिकार न रख सकी। उसे भी किसी नयी शक्ति और परिस्थिति के सामने झुकना पड़ा तथा निरस्त होकर नया स्थान ढूँढ़ना पड़ा। इन राजनैतिक शक्तियों के पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप स्थानीय क्षेत्रीय संस्कृति अछूती न रह सकी; विभिन्न जातियों के योगदान ने इसे मिश्रित रूप दिया।

संघर्षों के अतिरिक्त यातायात के साधनों द्वारा दक्षिण क्षेत्रीय निवासियों के भूमध्य देशों तथा ईरान, भारत और चीन के साथ भी व्यापारिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए। चीन के प्रसिद्ध रेशम (चीनांशुक) व्यापारी मध्य एशिया के मार्गों से अपना माल पश्चिम की ओर रोम तक ले जाते थे।[1] इसीलिए इस मार्ग को रेशम व्यापार मार्ग के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। भारतीय व्यापारी भी इन दोनों के साथ सम्बन्ध बनाये हुए थे। इनके अतिरिक्त भारत से बौद्ध विद्वान भी शांति और सन्मार्ग का संदेश लेकर इसी मार्ग से चीन, मंगोलिया तथा कोरिया और जापान की ओर गये। उन्होंने मध्य एशिया में अपने केन्द्र स्थापित किये, धर्म का प्रचार और प्रस्तार किया तथा भारतीय सांस्कृतिक

परम्पराओं से यहाँ के निवासियों को अवगत कराया। वहाँ से प्राप्त पुरातात्त्विक अवशेष अतीत के भारतीय सम्पर्कों तथा सांस्कृतिक प्रभावों पर पूर्णतया प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति वहाँ के इतिहास की एक कड़ी बन गयी है जो उससे जुड़ी हुई है। यह संस्कृति मध्य एशिया के किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं रही वरन् इसका प्रसरण दूर-दूर तक हुआ। प्राचीन भारतीय संस्कृति के इस अध्याय का पठन-पाठन एवं मूल्यांकन मध्य एशिया के विभिन्न क्षेत्रों के इतिहास तथा भूगोल के संदर्भ में ही किया जा सकता है।

मध्य एशिया अथवा 'अन्तरंग एशिया' प्राचीन काल से ही विभिन्न जातियों तथा उनकी संस्कृतियों का संगम रहा है।[2] व्यापार, धर्म तथा सांस्कृतिक विचारधाराओं ने विभिन्न दिशाओं से भौगोलिक कठिनाइयों को झेलते हुए यहाँ प्रवेश किया। सीथियन, कुषाण, हूण तथा उदगुर, तुर्क और मंगोल एवं अन्य जातियों ने इसी को अपनी कर्मभूमि भी बनाया। इसीलिए यहाँ की संस्कृति और कला पर यूनानी, ईरानी, भारतीय तथा चीनी प्रभाव दिखायी पड़ता है। देश के इतिहास में सर्वप्रथम सीथियन अथवा शक लोगों ने कदाचित दक्षिण रूस, मुख्यतया साइबेरिया से यहाँ प्रवेश किया। इन्हें इण्डो-यूरोपियन वर्ग में रखा जाता है। ईसवी की प्रथम शताब्दी में ह्यूंग-नू, यूची तथा वू-सून के बीच संघर्ष का यह क्षेत्र बना। पाँचवीं शताब्दी में श्वेत हूण अथवा हेपतालों ने यहीं से पश्चिम की ओर बढ़कर अपना साम्राज्य स्थापित किया। ये लोग कदाचित मंगोल अथवा तुर्की मंगोल थे। इनके बाद क्रमशः छठवीं शताब्दी में तुर्क एवं उदगुर और दसवीं में ओगुज अथवा गुज; बारहवीं में मंगोल और पन्द्रहवीं शताब्दी में उज़बेगों का दबाव पड़ा। इस प्रकार विभिन्न जातियों ने इस क्षेत्र पर अपना प्रभाव जमाया और यहाँ की संस्कृति तथा भाषा पर भी उनकी छाप पड़ी। भारतीय बौद्ध धर्म-प्रवर्तक, व्यापारी इत्यादि भी इस कार्य में पीछे न रहे और ईसवी की प्रथम शताब्दी अथवा इससे पहले से भी उन्होंने यहाँ पहुँच कर बौद्ध मठ तथा बिहार स्थापित किये, धर्म का प्रचार किया, साहित्य और कला से इसे ओतप्रोत किया तथा यहाँ की जनता में बुद्ध जी के सन्देश तथा सद्भावना का प्रसरण किया। भारतीय राजवंश भी यहाँ पर स्थापित हुए जिनका श्रेय मौर्य तथा कुषाण शासकों को था जिनका राज्य मध्य एशिया की सीमा तक क्रमशः पहुँच रहा था अथवा यह प्रदेश उनके साम्राज्य का भाग था।

खोतान में तो विजय राजवंश ने बहुत काल तक राज्य किया और राजाओं के नामकरण से उनके भारतीय होने में कोई सन्देह नहीं है। भारतीय प्रभाव केवल ऐतिहासिक युग तक ही सीमित नहीं है, विभिन्न स्थानों से प्राप्त कला कृतियाँ तथा साहित्यिक अवशेष इसका ठोस प्रमाण है तथापि पुरातात्त्विक उत्खनन से प्रागैतिहासिक काल तथा उससे पहले प्रस्ताश्म युग के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं।

राजनैतिक दृष्टिकोण से वर्तमान मध्य एशिया में केवल उज़बेगिस्तान, तुर्कमान, किरज़िग, ताजिक तथा कज़ाग प्रजातन्त्र राज्यों को ही सम्मिलित किया जाता है, पर प्राचीन काल में पूर्वी तुर्किस्तान, मंगोलिया और तिब्बत भी इसका अंग थे। अफगानिस्तान तथा ईरान का पूर्वी भाग भी सांस्कृतिक दृष्टिकोण से मध्य एशिया का अंग रहे हैं। इसीलिए वर्तमान राजकीय सीमाएँ प्राचीन मध्य एशिया की भाँति इतनी विस्तृत नहीं है, विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त प्राचीन अवशेषों से वहाँ की प्राचीन कला तथा संस्कृति का अध्ययन किया जा सकता है। मध्य एशिया के अन्तर्गत रूसी तथा चीनी तुर्किस्तान एक ही सांस्कृतिक परम्परा का अंग है। अफगानिस्तान तथा ईरान के पूर्वी भाग तथा वहाँ से प्राप्त अवशेषों तथा सांस्कृतिक सम्पर्कों का अध्ययन पृथक है। चीन, मंगोलिया, कोरिया तथा जापान मध्य एशिया का अंग न होकर पूर्वी एशिया में आते हैं पर इन देशों पर भी भारतीय संस्कृति—मुख्यतया बौद्ध धर्म, साहित्य तथा कला का पूर्णतया प्रभाव पड़ा। इस क्षेत्र का अध्ययन स्वतंत्र रूप से अलग ही होगा। तिब्बत का अपना ही इतिहास तथा अस्तित्व है। चीन के साथ इसके राजनैतिक सम्बन्धों का प्रभाव भारतीय-तिब्बती सांस्कृतिक परम्पराओं पर बिलकुल भी नहीं पड़ा। यहाँ के शासकों ने तो भारत से विद्वान आमंत्रित किये जिनकी देन तिब्बत में बौद्ध धर्म, कला, साहित्य तथा लिपि है। इसलिए भारत के साथ इसके सम्बन्धों का अपना इतिहास है। मध्य एशिया के साथ भौगोलिक दृष्टिकोण के सन्दर्भ में इसका अध्ययन अनिवार्य है। तिब्बत का कुछ समय तक मध्य एशिया के दक्षिणी क्षेत्र पर अधिकार रहा।

भौगोलिक भाग एवं जलवायु[3]

मध्य एशिया के अधिकतर भाग में या तो पहाड़ हैं अथवा वृहत् मरुस्थल है जहाँ पर मनुष्य नहीं रह सकता है। पर इसकी बहुत सी नदियों के किनारे तथा घाटियों में और पहाड़ियों के तरल भाग में आदि काल से जन-बस्ती रही है

जहाँ खेती के अतिरिक्त पशुपालन का व्यवसाय भी होता रहा है। यहाँ की भौगोलिक परिस्थिति निकट पूर्वी देशों से मिलती है। वर्तमान मध्य एशिया के इसी क्षेत्र में शोषस्थली अमु नदी के दोनों ओर विस्तृत है, दक्षिण में सिर नदी पर अर्द्ध मरुस्थल है, आमु नदी के बाएँ तट पर स्थित कर कुम (काली कालूई क्षेत्र) और दाहिनी तट पर क्यूजुल कुम (लाल कालुई क्षेत्र) है। फरगना की घाटी तथा दक्षिणी ज़फरशान के पूर्व में कहीं-कहीं पर भूमि खण्ड है और पर्वतीय क्षेत्र के भाग में तिएनशान, मालाई तथा त्रानसलाई और पामीर का पठार है। यह मध्य एशिया के भाग वर्तमान समाजवादी रूसी जनतंत्र राज्य के अन्तर्गत है और यहाँ के निवासियों की भाषा के आधार पर विभिन्न राज्यों का नामकरण किया गया है जैसे ताजिकिस्तान, उजबेगिस्तान इत्यादि। पूर्वी तुर्किस्तान का पृथक अस्तित्व है। यह चीन गणराज्य के पश्चिमी भाग में सिक्यांग का अंग है तथा उत्तर में मंगोलिया और दक्षिण में तिब्बत के बीच में स्थित है। इसे एशिया का 'सबसे आन्तरिक हृदय' के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। ऊँचे-ऊँचे पर्वत प्रायः चारों ओर से इसे घेरे हैं ? उत्तर में तिएन-शान, दक्षिण में कुन-लुंग और पश्चिम में पामीर के पठार इसको अपने घेरे में रक्खे हैं। पूर्व में नान-शान है जो कुन-लुंग का ही भाग है। लोब का दलदली भाग गोवी मरुस्थल के कोने पर स्थित है। सम्पूर्ण मध्य एशिया के लगभग 1500 मील पूर्व से पश्चिम और 600 मील उत्तर से दक्षिण क्षेत्र में कुछ ही ऐसे स्थान हैं जहाँ पर बस्ती है, अन्यथा अधिकतर भाग तकला माकान एवं लोबी मरुस्थल से घिरा है जो 800 मील से अधिक दूरी तक फैला है।

मध्य एशिया की जलवायु महाद्वीपीय है जहाँ जाड़े में बहुत ठण्ड पड़ती है तथा शीत हवाएँ चलती हैं तथा ग्रीष्म ऋतु में बड़ी गर्मी पड़ती है। उत्तर-पूर्वीय क्षेत्र में तो हिमपात भी होता है। करकुम क्षेत्र में रात्रि में शीत की लहर बहती है पर दिन में धूप निकलती है और गर्म रहता है। जाड़ा थोड़े ही दिन का होता है तथा इसके पूर्व और पश्चात् काल में पानी बरसता है जिससे वहाँ की भूमि दलदल का रूप धारण कर लेती है। पर्वतीय क्षेत्र की नदियाँ अपने साथ मिट्टी तथा बालू ले जाती हैं और मोहाने पर जमा होकर वहाँ की धरती को उपजाऊ बना देती है। इन नदियों से सिंचाई का काम भी लिया जाता है यद्यपि यह केवल उतने काल तक ही हो सकता है जब पहाड़ों की पिघली बर्फ से इनमें खूब पानी हो। मरुस्थल क्षेत्र में भी वर्षा के कारण कुछ समय

तक हरियाली हो जाती है। कृषि के लिए कृत्रिम सिंचाई नहरों-नालियों के पानी का उपयोग किया जाता है। मरुद्यानों में मुख्य रूप से कपास की खेती होती है जो मध्य काल से चली आती है। इनके अतिरिक्त खाद्य सामग्री तथा फलों का भी उत्पादन होता है। यहाँ के बड़े-बड़े तरबूज तो बाहर भी भेजे जाते हैं तथा मध्य काल में यह बगदाद तथा फारस तक भेजे जाते थे। कृषि के अतिरिक्त पशुपालन में मुख्यतया भेड़ों का पोषण होता है तथा यहाँ के घोड़े भी प्रसिद्ध हैं। अरल सागर तथा आमू नदी के मोहाने पर मछलियों को पकड़ने का भी धंधा होता है। इन भौगोलिक परिस्थितियों तथा प्राकृतिक साधनों ने प्राचीन सभ्यताओं के विकास में अपना अनुदान दिया तथा समय-समय पर मोड़ भी दिया। नदियों के किनारे-किनारे और उनके मोहाने पर ही सभ्यताएँ विकसित हुई। प्रमुखतया दक्षिण में आमु नदी (आक्सस) तथा उत्तर में सिरनदी (जैक्सार्टेस) सभ्यता का केन्द्र थीं। इन दोनों के बीच में जफरशान नदी, जो पहले आमु की सहायक नदी थी, का भी अनुदान रहा है। इनके अतिरिक्त दक्षिण की मुर्गाव, जिससे पहले मर्व मरुद्यान को पानी मिलता है, तथा तेजेन्द भी उल्लेखनीय है। यह दोनों करकुम के मरुस्थल में लुप्त होती हैं। इस विशाल क्षेत्र में प्राचीन कालीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। पुरापाषाण एवं नवपाषाण और कांसीय युगीन उपकरण (औजार) सिरदरया के मोहाने पर मिले।

वर्तमान रूसी तथा चीनी तुर्किस्तान दोनों ही प्राचीन मध्य एशिया के भाग है और यहाँ की भौगोलिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों ने प्राचीन निवासियों के जीवन में बड़ा परिवर्तन किया। उस समय तारिम की घाटी और आमु-अंक्षु क्षेत्र के बीच यातायात के मार्ग थे जिनके द्वारा पूर्व तथा पश्चिम देशों के बीच कौशेय (रेशम) का व्यापार होता था। व्यापार के अतिरिक्त विभिन्न देशों के साथ सांस्कृतिक आदानप्रदान भी हुआ। आमु क्षेत्र प्राचीन सागडियाना तथा बैक्ट्रिया—में उस समय ईरानी रहते थे और उन पर यूनानी तथा ईरानी प्रभाव था। उनका चीन के साथ व्यापारिक सम्पर्क मध्य एशिया के उत्तरी तथा दक्षिणी भाग के दो यातायातीय मार्गों द्वारा होता था। इनके अतिरिक्त मध्य एशिया के इतिहास में जिन प्राचीन जातियों का अनुदान रहा वे सीथियन, हूण, यूची, हेफथाली तथा तुर्क इत्यादि रहे हैं। इस सम्पूर्ण क्षेत्र का इतिहास वास्तव में विभिन्न जातियों के बीच संघर्ष की कहानी ही रही है। संघर्षों ने जातियों को एक स्थान से दूसरी ओर प्रस्थान करने पर बाध्य किया तथा उसी

वेग में पश्चिम तथा दक्षिण की ओर बढ़ते हुए क्रमशः उनका भारत में भी प्रवेश हुआ। यहाँ के इतिहास में उनका अपना स्थान रहा है। भारत तथा मध्य एशिया, विशेषतया कुषाणों के समय में, राजनैतिक सूत्र में बंधे हुए थे और ईसवी की प्रथम शताब्दी से भारतीय विद्वानों, बौद्ध धर्म प्रचारकों तथा व्यापारियों का मध्य एशिया तथा उसी मार्ग से चीन, मंगोलिया तथा कोरिया और जापान की ओर प्रवेश हुआ। भारतीय संस्कृति तथा धार्मिक विचार धारा ने मरुस्थल भूमि को सींचा तथा वहाँ पर बहुत से बौद्ध विहार तथा मन्दिरों का निर्माण हुआ। शिक्षा-क्षेत्र में भी भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद स्थानीय भाषाओं में हुआ। कला भी पूर्णतया विकसित हुई। इसके विकास तथा सांस्कृतिक प्रसरण में भारतीयों का मुख्य हाथ तो था ही, पर मध्य एशिया के विशाल क्षेत्र के निवासी भी इसमें पीछे न रहे। इस सम्बन्ध में उनका तथा उनकी परम्पराओं का उल्लेख भी आवश्यक है।

विभिन्न जातियाँ

सीथियन-सीथी[4]

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है मध्य एशिया निवासी दो विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में रहते थे—दक्षिण रूस से मंचूरिया तक के शोषस्थली भाग के निवासी घुमन्तू और इसके विपरीत पूर्वी तुर्किस्तान सम्मिलित मरुद्यानों के निवासी स्थायी थे। उत्तरी क्षेत्रीय यायावरीय तथा प्रवासी जातियाँ दो विभिन्न क्षेत्रों में थीं—दक्षिणी रूस से इनेस्सी घाटी के भाग में जो व्यक्ति रहते थे वे सीथियन अथवा सीथी कहलाते थे और इनको आर्यों का वंशज माना गया है। इनके विपरीत बाहरी तथा अन्दरी मंगोलिया निवासी तुर्की-मंगोल वंशीय थे तथा मंचूरिया और उसके पूर्व के निवासी भी इसी वर्ग के थे। दक्षिण में सिरदरिया (जैक्सार्टेस) तथा आमु (आक्सस) के बीच के निवासी ईरानी थे। पूर्वी तुर्किस्तान, जो पामीर से चीनी सीमा तक विस्तृत हैं, में आर्यवंशीय उपभाषीय व्यक्ति रहते थे। यायावरीय व्यक्तियों के एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर प्रस्थान करने के कारण राजनैतिक क्षेत्र में बड़ी हलचल हुई जिसका प्रभाव मध्य एशिया तथा ईरानी, चीनी और भारतीय राज्यों पर भी हुआ।

सीथियन- सीथियों का उल्लेख प्रसिद्ध इतिहासकार हेरोडोटस तथा अकीमी लेखों में मिलता है। यूनानी इतिहासकारों में इनको स्कूथोई तथा असीरियों ने

अष्कुजे नामों से सम्बोधित किया है। ईरान तथा भारत में इनका सक अथवा शक नाम से उल्लेख किया गया है। इन्हीं सीथी-सीथियन-शक यायावरीय वर्ग में कुछ अन्य जातियाँ भी सम्मिलित थीं जो ईरानी अथवा हिन्द-यूरोपीय उपभाषा का प्रयोग बोलचाल में करती थीं। प्राचीन ईरानी लेखों में तीन सीथियन जातियों का उल्लेख है जो उत्तरी भाग में रहती थीं। प्रथम जाति 'होमवर्क' का उल्लेख ईरानी तथा भारतीय वृतान्तों में मिलता है और इसका स्थान फरगना क्षेत्र था जो उस समय काशागर तक विस्तृत था। दूसरी जाति 'शकतिग्रखोद' अथवा 'नुकीली टोपी वाले' शकों की थी जो अरल सागर की ओर तक फैली थी तथा उनका मुख्य केन्द्र जैक्सार्टेज की दक्षिणी घाटी था। 'शक तिरद्रय' वर्ग के लोग दक्षिण रूस में समुद्र के पार (कदाचित अरब सागर से संकेत रहा होगा) रहते थे। हेरोडोटस ने कुछ अन्य सम्बन्धित जातियों का भी उल्लेख किया है, जैसे सरमाटियन, मस्सगेटेस, अरिमस्पेस, इसीडोनेस इत्यादि। सरमाटियन दक्षिण रूस में रहने वाले शकों के पड़ोसी थे तथा मस्सगेटेस, जैसाकि उनके नाम से संकेत होता है, मछुए (मत्स्य) थे जो अरल सागर के निकट रहते थे और ईरानी भाषा बोलते थे। अन्य दो जातियों के लोग उत्तरी शोषस्थली के पूर्वी भाग में रहते थे। अरिमस्पेस कदाचित ईरानी भाषीय सीथी-सीथियन थे और इसीडोनेस को फिनोइग्रियन माना गया है। ईरानियों की भाँति सीथियनों का सामाजिक-आर्थिक जीवन वैदिक कालीन आर्यों की व्यवस्था के समान था। उनका समाज योद्धाओं, पुरोहितों (ब्राह्मण) तथा कृषकों में बँटा था। हेरोडोटस के मतानुसार यह लोग वेस्त, जुपीटर, अपालो, वीनस-उरनिया, हरक्यूलीज, मार्स तथा नेपटून इत्यादि देवताओं की उपासना करते थे। वेस्त की समानता वैदिक वस्तोस्पति—गृह देवता से की जाती है। सीथियन और आर्यों की समानता उनके आर्थिक विचारधारा–मुख्यतया देवताओं को बलि प्रदान करने के आधार पर प्रतीत होती है। सीथियों का सांस्कृतिक क्षेत्र विस्तृत था और यह उत्तर-पूर्व में साइबेरिया की इनेसी की घाटी तक था। यह लोग कांस का प्रयोग करते थे तथा इसी धातु के बने प्राचीन चाकू, छूरी तथा कढ़ाईनुमा प्याले मिले हैं। इनकी संस्कृति ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ईसवी की तृतीय शताब्दी तथा आन्त-रिक मंगोलिया से पश्चिम में हंगेरी तक फैली थी। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से यायावरीय–घुमन्तू–जातियों का अपने मूल निवासस्थान से पश्चिम की ओर प्रस्थान हो रहा है। चीन, मध्य एशिया, ईरान तथा भारत

की व्यवस्थापित सभ्यताओं पर इनका प्रभाव ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से पहले तो कहीं नहीं प्रतीत होता है पर इसके बाद ये भी इनके संसर्ग से अछूती न रह सकीं। सीथियन-सक-शक लोगों ने शकस्थान स्थापित किया तथा पश्चिमी भारत और मध्य भारत में मथुरा तक में इनके अनेक राज्य स्थापित हुए और उन्होंने भारतीय राजनीति में पूर्णरूप से भाग लिया तथा सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार उसी का अंग बन गये।

हूण[5]

शकों के बाद मध्य एशिया का दूसरा यायावरीय वर्ग हूणों का था जो प्राचीन चीनी इतिहास में ह्यूंग-नू के नाम से विख्यात था। प्राचीन ग्रीक तथा लैटिन साहित्य में इसको क्रमशः उन्नोई तथा हुन्नि नाम से सम्बोधित किया गया है। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी से चीनी इनसे परिचित थे, क्योंकि यह चीन के उत्तर में रहते थे। इसी शताब्दी के मध्य काल में शन–यू की अध्यक्षता में इनका एकीकरण हुआ तथा उस समय इनका मुख्य केन्द्र मंगोलिया में करकोरम के निकट था। भाषा तथा रीति-रिवाज के आधार पर कहा जाता है कि यह मंगोल न होकर तुर्क थे। इन्होंने एकीकरण के बाद चीन की ओर बढ़ना आरम्भ किया पर वहाँ के शिन शासकों ने इनके आक्रमणों को रोकने के लिए वृहत दीवार का निर्माण कराया। ईसा पूर्व 210 में ये भीतरी मंगोलिया से भगा दिये गये। अब हूण या ह्यूंग–नू पश्चिम की ओर से कांसु प्रान्त से प्रवेश करने का प्रयास करने लगे। चीनी श्रोतों के अनुसार पश्चिमी कांसु प्रान्त में उस समय यूची नामक जाति के व्यक्ति रहते थे। उनको पूर्णतया हराकर उनके शासक को हूणों ने मार डाला तथा कांसु से उनको निकाल दिया। इस कारण बाध्य होकर यूची जाति को पश्चिम तथा दक्षिण में नान–शान प्रान्त की ओर जाना पड़ा। कांसु पर अधिकार करने के बाद हूणों ने शक्तिशाली होकर पुनः चीन की ओर आक्रमण करना आरम्भ किया। हन वंश के शासक वू-टी (ई. पूर्व 140–87) ने अपने सेनाध्यक्षों की सहायता से हूणों को हराया तथा सभी स्थानों से खदेड़ दिया। प्रसिद्ध सेनानी हो–क्यु–पिंग ने उनको कांसु प्रान्त से भगा दिया। दो हूण वर्गीय ह्येन–सिएन तथा ह्यू–चू ने ई0 पू0 121 में चीनियों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया पर अन्य हूणों ने कांसु से हटकर तारिम नदी-क्षेत्र के उत्तरी भाग पर अधिकार करने का प्रयास किया। चीनियों ने ई0 पू0 121 में हूणों को कांसु प्रान्त से हटाने पर उसे चार सैनिक क्षेत्रों में बाँट दिया जिससे पूर्णतया नियं-

त्रण रह सके। ई0 पू0 108 में चीनी सेना ने लोवनोर तथा तुरफान पर अधिकार कर लिया। इसके बाद ईसा पूर्व 77 में चीनियों ने लोवनोर के निकट लू-लन के शासक को हूणों की सहायता करने पर दण्डित किया और वहां पर अपना एक सैनिक दुर्ग स्थापित किया। चीनी–हूण संघर्ष केवल उन दोनों तक ही सीमित न रह सका। चीनी सेना ने इली क्षेत्र की ओर बढ़कर एक अन्य यायावरीय जाति वू–सुन की सहायता की जो हूणों से संघर्ष कर रहे थे। हूण समर्थक क्यू–शे (तुरफान) राज्य पर ई0 पू0 67 में चीनियों का अधिकार हो गया तथा दो वर्ष बाद यारकन्द ने भी चीनी आधिपत्य स्वीकार कर लिया। काश्शार में भी ई0 पू0 60 में चीनियों की ओर से एक प्रान्तीय शासक नियुक्त हुआ और इस प्रकार चीनियों का राजनैतिक तथा सामाजिक विस्तार मध्य एशिया में दूर तक फैल गया। हूणों के आन्तरिक मामलों में भी चीनियों ने हस्तक्षेप किया। उनके गृह युद्ध में चीनियों ने हू–हन का समर्थन किया जो ई0 पू0 33 में उनकी सहायता से हूणों का सरदार बन बैठा। दूसरे हूण अभ्यर्थी चे–चे ने पश्चिम की ओर बढ़कर वर्तमान रूसी तुर्किस्तान में दूसरी यायावरीय जाति वू–सुन को हराया जो इली क्षेत्र में रहती थी। इनके अतिरिक्त दो अन्य जातियों–इमिल के हुकी तथा अरल क्षेत्र के किएन–कु को हराकर उसने टलस क्षेत्र पर अधिकार किया तथा वहीं बस गया। चीनी सेना ने पीछा करके ई0 पू0 36 में इसको पराजित किया और मार डाला। इस कबीले के बचे व्यक्ति वहाँ से पश्चिम की ओर भागे और कई शताब्दी बाद प्रसिद्ध हूण अट्टिला ने ईसवी की चौथी शताब्दी में यूरोप में हाहाकार मचा दिया। मंगोलिया में हूणों का पतन 155 ई0 में एक मंगोल शिएन–पि (शिर्वि) द्वारा हुआ। उसके सरदार ने हूणों का पीछा किया तथा इली तक बढ़कर वू–सुन को भी बुरी तरह पराजित किया। इस वर्ग का राज्य तो थोड़े समय तक रहा पर शिएन–पि का अल्पकालीन आधिपत्य मंचूरिया से वाल्कश तक विस्तृत था। शिएन–पि ने आन्तरिक मंगोलिया पर 156 ई0 में अधिकार करके कांसु प्रान्त पर आक्रमण किया। यह संघर्ष बहुत समय तक चलता रहा। ईसवी की तृतीय शताब्दी के आरम्भ में हूण जातियों ने पुनः आन्तरिक मंगोलिया में अपने को स्थापित कर लिया और फिर से इनके प्रसरण तथा विस्तार की कहानी आरम्भ होती है।

यू–ची[6]

हूणों के आक्रमणात्मक रूप के कारण मध्य एशिया की स्थायी निवासी जातियों

को अपना स्थान छोड़ने पर बाध्य होना पड़ा। पश्चिमी मध्य एशिया जिसकी समानता वर्तमान रूसी तुर्किस्तान तथा ईरान के पूर्वी भाग और अफगानिस्तान के उत्तरी भाग से की जा सकती है, तथा चीनी तुर्किस्तान—वर्तमान सिक्यांग प्रान्त में प्राचीन काल में विभिन्न जातियाँ रहती थीं। अकमानी (डेरियस तथा उसके वंशज) साम्राज्य के विघटन के पश्चात् यूनानियों का दबाव पश्चिमी क्षेत्र पर पड़ा। एक यूनानी राज्य की बैक्ट्रिया में स्थापना हुई जिसके अन्तर्गत हिन्दुकुश से उत्तर में आमु तक का भाग तथा कदाचित उत्तर-पश्चिम में चौरास्मे भी सम्मिलित थे। यह यूनानी राज्य अस्थायी ही रहा। ट्रान्स आक्सोनिया भाग में यूनानी आधिपत्य नाममात्र का ही था। वहाँ पर शुघदिक—शुलिक नामक ईरानी लोग रहते थे। उनके उत्तरी पड़ोसी शक—सक थे। इधर तारिम नदी घाटी—जो वर्तमान चीनी तुर्किस्तान में है—के विषय में चीनी श्रोत्रों—लेखों तथा पुरातात्विक अवशेषों—से ही जानकारी प्राप्त होती है। इसके उत्तरी क्षेत्र में—कूचा, कारशर तथा पश्चिमी कांसु तक एक आर्य जाति के लोग रहते थे जो यूचियों से मिलते जुलते थे। कदाचित यह प्राचीन सीथी-सीथियन से सम्बन्धित रहे होंगे क्योंकि इनकी भाषा भारतीय—यूरोपीय परम्परा से मिलती जुलती थी और इसके बारे में प्राचीन तुखारी के अवशेष पर्याप्त हैं। यूनानी इतिहासकार स्ट्राबो ने इनको तोखाराई नाम से सम्बोधित किया है और भारतीय इतिहास में भी इनका 'तुषार' के रूप में उल्लेख किया गया है। पुराणों के अनुसार भारत में यवनों के बाद 14 तुषार शासकों ने 105 अथवा 107 वर्ष तक राज्य किया। इनकी समानता कुषाणों से की जाती है जिन्होंने 100 वर्ष तक उत्तरी भारत में राज्य किया जैसा कि कनिष्क तथा उसके वंशजों के लेखों से प्रतीत होता है। चीनी श्रोत्रों के अनुसार कुषाण यूची जाति के ही एक अंग थे। एक सागडिएन परम्परा के अनुसार उत्तरी चीनी तुर्किस्तान की यह जाति चार भागों में विभाजित थी जो क्रमशः चीनी, तुर्किस्तान के उत्तरी भाग, बेशबालिक, कारशर और तुरफान में रहते थे। टालमी ने भी कांसु क्षेत्र में स्थित थगुराई जाति, थगुरोन पर्वत तथा थोगर नगर का उल्लेख किया है। इन क्षेत्रों के आधार पर यह कहा जाता है कि यूची जाति के लोगों की समानता तोखाराई अथवा तुषार से की जा सकती है।

यूची से सम्बन्धित एक अन्य सीथियन जाति के लोग वू—सून थे जो इली नदी की घाटी में बालकश झील के क्षेत्र में रहते थे। कुछ इतिहासकार इनकी समानता यूनानी लेखकों के असीआनी से करते हैं। पूर्वी तुर्किस्तान के अन्य मरुद्यानों काशगर, यारकन्द, खोतान, नीया, लो-लन (लोबनोर क्षेत्र) में तुंन-हुआंग तक भारतीय

यूरोपीय जाति के लोग रहते थे जिनके विषय में विशेष रूप से जानकारी नहीं है। कदाचित यह शक–सक से सम्बन्धित थे और पूर्वी ईरानी उपभाषा बोलते थे। चीनी साक्ष्यों के अनुसार ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में इनका अस्तित्व निश्चित है। वास्तव में इन्डो-आर्य भाषी जाति के लोगों का निवास क्षेत्र दक्षिण मरुद्यानों में चीन की पश्चिमी सीमा तक विस्तृत था। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने इस क्षेत्र को भारत का ही अंग माना है। उसके अनुसार उठते हुए सूर्य की ओर का भारत का यह भाग रेतीला है और इसके पूर्व का देश मरुस्थल है जहाँ के निवासी यायावरीय जाति के थे। वे कच्चा मांस खाते थे तथा वृद्ध पुरुष-स्त्रियों के अन्तिम संस्कार सीथियनों की परम्परा के अनुसार करते थे।

उपरोक्त वृतान्त से प्रतीत होता है कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से पहले जब कि हूणों ने चीन के पश्चिमी भाग पर अपना दबाव डालना आरम्भ कर दिया और यूचियों को अपने स्थान से निरस्त कर दिया, उस समय मध्य एशिया के चीनी तुर्किस्तान में हिन्द-यूरोपीय भाषावर्गीय व्यक्ति रहते थे और वे चीन की सीमा तक फैले थे। कांसु प्रान्त का एक बड़ा भाग इस आर्य जाति के अधिकार में था। यूचियों के दक्षिण में कुकनोर क्षेत्र था जिसे वर्तमान चीन का चिनगाई प्रान्त कहा जाता है। यहाँ के निवासी एक शक्तिशाली जाति के थे तथा वर्तमान तिब्बतियों के पूर्वज थे। चीनी श्रोत्रों के अनुसार उनका आर्य जातियों के साथ कुछ सम्बन्ध था। ईसा पूर्व चतुर्थ से दूसरी शताब्दी तक किअंग जाति के लोग पश्चिम की ओर चीनी क्षेत्र में बराबर आक्रमण करते रहे। त्रिकोणीय–हूण (ह्यूंग–नू), यूची तथा वू–सून जातियों के पारस्परिक संघर्षों ने मध्य एशिया के निरस्त्रीकरण के वेग को प्रोत्साहन दिया। यूचियों को अपने स्थान कांसु क्षेत्र से ईसा पूर्व 176 में भागना पड़ा। वे दो वर्ग में विभाजित थे—सिआओ अथवा छोटे यूची और ता अथवा बड़े यूची। सिआओ या छोटे यूची दक्षिण की ओर बढ़कर किअंग से मिल गये। बड़े यूची पश्चिम की ओर बढ़े और उन्होंने आगे बढ़कर और जातियों – मुख्यतया वू–सून तथा सीथियों को हराकर इतिहास में नया मोड़ दिया। यूची जाति के लोग प्रायः संघर्ष ही करते रहे तथा एक स्थान पर बराबर न रह सके। कांसु प्रान्त से ई0 पू0 176 से निरस्त्रीकरण के बाद इन्होंने ट्रांस आक्सोनिया पर ई0 पू0 160 में अधिकार कर लिया और आमु की घाटी में थोड़े समय बाद बस गये। यहीं पर उन्होंने अपना साम्राज्य बनाया तथा ईसा पूर्व 128 में चीनी सम्राट की ओर से एक विशेष राजदूत इनके पास हूणों के विरुद्ध सहायता के लिए आया। यूचियों ने

हूणों के विरुद्ध चीनियों का साथ न देकर अपने राज्य को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया तथा बाद में काबुल और उत्तरी पश्चिमी भारत पर आक्रमण कर अधिकार कर लिया। इसी यूची जाति के कुषाण भी एक अंग थे जिन्होंने अन्य चार उप-जातियों को हराकर अपना आधिपत्य स्थापित किया तथा अपने राज्य को विशाल रूप दिया। भारतीय प्राचीन साहित्य में इनको तुषार नाम से सम्बोधित किया गया है।

हफथाली–श्वेत हूण[7]

चीनी श्रोत्रों के अनुसार इनका नामकरण ये–त अथवा हेफथा के आधार पर था। ईरानी इतिहासकार इन्हें हपथेलाइट नाम से सम्बोधित करते थे। ईसवी की पाँचवीं शताब्दी में मध्य एशिया की इस जाति ने भारत तथा ईरान के इतिहास पर बड़ा प्रभाव डाला। आरम्भ में तो यह मंगोलिया की एक अन्य जाति च्वान–चवान के आधिपत्य में थे पर द्वितीय चतुर्थ भाग में उन्होंने पश्चिम की ओर बढ़ना आरम्भ किया तथा अरलसागर तकके सम्पूर्ण शोषस्थली भागपर अधिकार कर लिया। इनके राज्य में वालकश तक इली की घाटी, ईसीकुल की घाटी, यू और याओ के शोष-स्थल, तथा अरल तक सिर जकसार्टेज की घाटी सम्मिलित थी। 440 ई0 में उन्होंने सागडियाना तथा तुखारिस्तान पर अधिकार कर लिया और लगभग उसी समय बल्ख भी इसका अंग बन गया। इसके पश्चात् 484 ई0 में अक्षुणबार नामक शासक के संरक्षण में इन्होंने खोरासान पर आक्रमण किया और वहाँ के शासक फीरोज का वध कर दिया। दक्षिण में किदार कुषाण, जो कुषाण वंशज रहे होंगे, के साथ इनका संघर्ष हुआ। किदार नामक कुषाण शासक उस समय तुखारिस्तान पर राज्य कर रहा था। ईरान के सासानी वंशज शासकों के साथ किदार तथा उसके पुत्र कुंजक का भी वैमनस्य था। पर यह परिस्थिति इन दोनों – श्वेत हूण तथा किदार कुषाणों की मैत्री का कारण न बन सकी। ईरान पर श्वेत हूणों की विजय ने किदार कुषाणों को बल्ख छोड़ने पर बाध्य किया तथा हिन्दुकुश पर्वत को पार कर वे काबुल की घाटी में बस गये और वहाँ से अन्य कुषाण वंशजों को हटा दिया। हफताली अथवा श्वेत हूणों ने तुखारिस्तानमें अपनी स्थिति दृढ़ करली तथा तलेकन, मेर्व और हेरात पर अधिकार कर लिया। सासानी राजवंश भी इनके आधिपत्य में हो गया। 516 में इन्होंने एक राजदूत चीन भेजा। इनके बाद इन्होंने कावुल पर आक्रमण किया तथा वहाँ से किदारकुषाणों का निरस्त्रीकरण कर अपना राज्य गांधार तक बढाया।

सोगयुन नामक एक चीनी दूत ने 520 ई0 में इनको गांधार में पाया। इसके पश्चात् इन्होंने उत्तरी भारत पर आक्रमण किया और गुप्त साम्राज्य को बड़ी क्षति पहुंचाई।

तोरमाण तथा मिहिरकुल नामक हूण शासकों ने पंजाब तथा कश्मीर पर अपना अधिकार कर रखा था। 510 ई0 में हूणों का उत्तरी भारत के मध्य क्षेत्र पर आधिपत्य था। 515 ई0 में तोरमाण की मृत्यु के बाद उसके पुत्र मिहिरकुल ने अपने राज्य को संगठित करके शाकल (वर्तमान सियालकोट –पाकिस्तान) को अपनी राजधानी बनाया। मिहिरकुल एक निशंक तथा क्रूर शासक था जिसके विषय में बहुत सी गाथाएँ प्रचलित हैं जिनका उल्लेख 'कास्मस इंडिको प्लूस्टिस' नामक एक वाइजैनटीन पादरी तथा शुंग–युन नामक एक चीन बौद्ध यात्री ने किया है। इसने बौद्ध धर्म के प्रति आक्रमणात्मक रूप धारण किया था। अन्त में यशोधर्मन के नेतृत्व में इसके विरुद्ध 532 ई0 में विप्लव हुआ और इसको हटाकर उत्तरी भारत में शान्ति स्थापना हुई। मिहिरकुल ने भागकर कश्मीर में शरण ली पर वहां के शासक को हटाकर पुनः उग्ररूप धारण किया और 542 ई0 तक राज्य किया। मध्य एशिया में श्वेत हूणों को सासानी शासक खुशरो अनुषिखान से बड़ी क्षति पहुंची जिसने अपने राज्यकाल (531–579) के प्रथम चरण में तो रोम के विरुद्ध संघर्ष करते समय श्वेत हूणों से मित्रता रखी पर बाद में तुर्कों के साथ मित्रता करके उनके विरुद्ध आक्रमण कर दिया और उनके राज्य पर अधिकार कर लिया। तुर्कों को आमु के उत्तर में सागडियाना तथा सासानियों को आमु के दक्षिण में वैक्ट्रिया और अफगानिस्तान का प्रान्त मिला। यह घटना लगभग 565 ई0 में हुई। श्वेत हूण इस घटना के बाद भी कई शताब्दियों तक छोटे-छोटे समूहों के रूप में वैक्ट्रिया और बदकशां क्षेत्र में रहे यद्यपि उनकी राजनैतिक शक्ति नष्ट हो चुकी थी।

तुर्क[8]

मध्य एशिया में एक अन्य जाति के लोग तुर्क कहलाते थे जिन्हें चीनी वृतान्त में तु–क्यु कहा है जिसके अर्थ 'शक्तिशाली' हैं। भारतीय साहित्य में तुरुष्क नाम का प्रयोग किया गया है जिससे इन तुर्क लोगों का भी संकेत हो सकता है यद्यपि कुषाणों को तुरुष्क कहा गया है। यह ह्यूंग–नू के वंशज थे तथा ईसवी की छटी शताब्दी में अलताई पहाड़ों के क्षेत्र में ज्वान-ज्वान के अधीन थे। च्वान-च्वान के पारस्परिक संघर्ष के कारण इनको ऊपर उठने का अवसर मिला। एक अन्य तुर्की जाति, जिसे चीनी साहित्य में तोलोस कहा है, के लोगों ने भी ज़्वान-ज़्वान के विरुद्ध उपद्रव

किया किन्तु 521 में वे पराजित हुए। 546 ई० में पुनः उन्होंने विद्रोह किया किन्तु एक तुर्की जाति तू–क्यू की सहायता से च्वान–च्वान ने उनको दबा दिया। इस तू–क्यू के अध्यक्ष बुमिन ने सहायता देने पर एक च्वान–च्वान कुमारी विवाह के लिए मांगी पर अनन–क्वे ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया तथा इस तुर्की जाति को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया। बुमिन ने उत्तरी चीन के तुर्क जो सि–वाइ अथवा तोवर कहलाते थे, की सहायता से च्वान-च्वान के साथ पुनः संघर्ष किया और उनको हराकर सम्पूर्ण मंगोलिया अपने अधिकार में कर लिया। च्वान-च्वान के बचे हुए व्यक्तियों ने चीन में शरण ली। बुमिन ने सम्राट की उपाधि धारण कर ओरखोन में अपनी राजधानी स्थापित की। 522 ई0 में उसकी मृत्यु के बाद उसका साम्राज्य उसके पुत्र तथा छोटे भाई में बंट गया। उसका पुत्र मु–हन मंगोलिया का शासक हुआ। उसके राज्य की पश्चिमी सीमाएं हामी क्षेत्र तक फैली हुई थीं। इस शासक ने 'कधान' की उपाधि धारण की और इसके अधीन तुर्की को इतिहास में 'पूर्वी तुर्क' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। बुमिन के कनिष्ट भ्राता इस्तमी, जिसे चीनी वृतान्तों में शे-ते-मि नाम से सम्बोधित किया गया है, ने पश्चिमी भाग पर अधिकार कर रखा था। उसने 'यवगू' की उपाधि धारण की तथा उसके अधीन तुर्क पश्चिमी तुर्क कहलाए। इसका राज्य जुंगरिया तक था जिसमें इरजित की घाटी, इमिल, युलदुज, इली क्षेत्र तथा चु और तल क्षेत्र आते हैं। युलदुज इसकी ग्रीष्मकालीन राजधानी थी तथा शरद ऋतु में इसी गुल के किनारे अथवा तलस की घाटी में इसका राज्य केन्द्र था।

इन तुर्की जाति के लोगों का हफताली श्वेत हूणों के साथ संघर्ष हुआ जो इनके निकटवर्ती पड़ोसी थे। तुर्की नेता इस्तमी ने फारस के शासक खुसरो अवोशिखान के साथ मिलकर 565 ई0 में श्वेत हूणों को हरा दिया और उनको अपना क्षेत्र छोड़कर यूरोप की ओर जाने पर बाध्य किया। इन दोनों ने हफताली श्वेत हूणों का राज्य आपस में बांट लिया। इसतमी को सागडियाना मिला और खुसरो का वैक्ट्रिया पर अधिकार हो गया पर शीघ्र ही इस पर भी इसतमी ने अधिकार कर लिया। इसके पुत्र तरडु, जो 575–603 ई0 तक इनका 'कगान' था; ने तोखारिस्तान पर आक्रमण किया और हैरात तक बढ़ गया। इसकी दोनों राजधानियां बल्ख और कुन्दुज 597–598 में तुर्कों के हाथ में आ गई। य्वांग–चांग की भारत यात्रा के समय यहाँ तुर्कों के अधीन एक उप शासक राज्य कर रहा था।

पूर्वी तथा पश्चिमी तुर्कों के बीच पारस्परिक संघर्ष तरडु के समय से आरम्भ

हो गया था जिससे मध्य एशिया में उनकी शक्ति कमजोर होने लगी। पश्चिमी तुर्क पहले पूर्वी तुर्कों का आधिपत्य स्वीकार करते थे पर 582 में तरडु ने स्वयं 'कगान' की उपाधि धारण कर ली तथा पूर्वी तुर्कों के विरुद्ध चीन से सहायता लेनी चाही। तांग शासकों ने परिस्थिति से लाभ उठाकर पूर्वी तुर्कों की शक्ति को नष्ट कर दिया तथा उन पर अपना आधिपत्य जमा दिया। तांग शासकों ने पश्चिमी तुर्कों से अच्छे सम्बन्ध रखे। थोड़े समय बाद इन तुर्कों में भी आन्तरिक संघर्षआरम्भ हो गया। करगुलगुट ने कगान शे–हु का वध कर दिया। अब तुर्क दो वर्गों में विभाजित हो गए –पश्चिम में नु–शे–पिन तथा उत्तर-पश्चिम में तु–लु को चीनियों ने 641 में हरा दिया और इस प्रकार पश्चिमी तुर्कों का भी विघटन हो गया।

मध्य एशिया में तिब्बतियों का प्रवेश सातवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण से आरम्भ होता है जब चीनियों की शक्ति घट रही थी। 670 ई० में उन्होंने तारिम नदी क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। नु–शे–पिन तथा तु–लु तुर्की जातियों ने भी 665 में चीनियों के विरुद्ध विरोध कर दिया था। पूर्वी तुर्क कगान कुतलुग के संरक्षण में पुनः अपनी शक्ति का संतुलन करने लगे। 682 में कुतलुग ने पुरानी तुर्की बस्तियों से चीनियों को खदेड़ दिया। 691 में उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके भाई मो–चो ने कुपागन कगान को धारण कर राज्य करना आरम्भ किया और चीनियों के विरुद्ध पुनः संघर्ष आरम्भ किया। उनको हराकर इसने एक शक्तिशाली तुर्की राज्य की स्थापना की जिसमें नु–शे–पिन तथा तु–लु जातियां भी सम्मिलित थीं।

716 में मो–चो की मृत्यु के बाद उत्तराधिकार के लिए संघर्ष हुआ और मो–चो के पुत्र का वध कर मो–कि–लिन गद्दी पर बैठा। उसने 716–731 तक राज्य किया। उसके समय में कई जातियों के विरुद्ध संघर्ष हुआ तथा चीन के साथ शान्ति स्थापना हुई। 731 में उसको विष देकर मार दिया गया। उसके बाद पूर्वी तुर्की राज्य 744 में बसमिल जाति के लोगों द्वारा नष्ट हुआ। इस जाति का राजनैतिक अस्तित्व भी क्षणिक ही रहा। उद्गुरों ने करलुक नामक एक अन्य तुर्की जाति की सहायता से अपना राज्य स्थापित किया जो लगभग एक शताब्दी (744–840) तक रहा। इसका निर्माता उरगुर खन था, जिसकी राजधानी करबलगुसुम थी। उद्गुरों का चीनी ताँगों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध था। 840 ई० में मंगोलिया से उद्गुरों को किरगिज तुर्कों ने भगाकर करबल शासन पर अधिकार कर लिया।

उदगुर आकर तर्सइम की घाटी में बस गए तथा तुरफान, कारशर और कूचा पर 843 में उनका अधिकार हो गया। इस तुर्की राज्य का अस्तित्व 13वीं शताब्दी तक रहा।

मध्य एशिया की विभिन्न जातियों तथा उनके पारस्परिक संघर्षों और एक स्थान से दूसरी ओर प्रस्थान ने राजनैतिक महत्व के अतिरिक्त सांस्कृतिक क्षेत्र को भी प्रभावित किया है। वास्तव में यह विशाल क्षेत्र समस्त जातियों का 'शिशुपालना' रहा है। यहीं पर उनका लालन-पालन हुआ और बड़े होने पर पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप उनको पश्छिम की ओर प्रस्थान करना पड़ा। दक्षिण-पश्चिम से भी कुछ जातियों के लोग मध्य एशिया आये और व्यापार तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान से इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय व जातीय संगम हुआ। भारत और ईरान के अतिरिक्त चीनियों की भी मध्य एशिया में पूर्ण रूप से रुचि रही और उन्होंने पूर्वी भाग पर अपना गहरा प्रभाव डाला और यह आज भी उसी का अंग है। इसीलिए स्टाइन ने सम्पूर्ण क्षेत्र का 'सेरिन्डिया' नामकरण किया है। टिएन–शान और कुन–लुन के बीच 1500मील लम्बे तथा 900 मील चौड़े भाग में आगे चलकर बहुत से छोटे-छोटे राज्य भी स्थापित हुए। इस प्रकार एक ओर तो मध्य एशिया के विभिन्न जाति के लोग भारत तथा ईरान और मध्य यूरोप की ओर बढ़े और दूसरी ओर व्यापारियों तथा बौद्ध भिक्षुओं और विद्वानों ने मध्य एशिया और पूर्व में चीन, मंगोलिया तथा सुदूरपूर्व में कोरिया तथा जापान तक बौद्ध धर्म फैलाया। धार्मिक ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद हुआ तथा मन्दिर और विहार स्थापित हुए। उत्खनन से प्राप्त वस्तुएं तत्कालीन भारतीय संस्कृति का प्रत्यक्ष प्रमाण है। कुछ भारतीय राज्य भी स्थापित हुए जो प्रायः व्यापारिक मार्ग के निकट ही थे पर जावा तथा कम्बुज की भांति इनसे कोई विशाल साम्राज्य का रूप नहीं बना। इसीलिए कहीं-कहीं भारतीय नामकरणीय शासकों का केवल उल्लेख ही मिलता है। भारतीय उपनिवेश जिन स्थापनों पर स्थापित हुए वे क्रमशः पश्छिम से पूर्व की ओर निम्न थे—वर्तमान यारकन्द क्षेत्र में चोक्कुक, काशगर में शैल देश, खोतान में खोतन-गोदन तथा चेरचेन में चलमदन। इनके अतिरिक्त इस दक्षिणी क्षेत्र में अन्य छोटे-छोटे राज्य भी थे, पर मरुस्थल के कारण इनके अवशेष नष्ट हो चुके हैं। उत्तरी क्षेत्र में टियेन–शान पर्वत के निचले क्षेत्र में भी बहुत से उपनिवेश थे जैसे भरुक जो वर्तमान उच तुरफान में है, कूचाक्षेत्र का कूची राज्य तथा कारशार का अग्निदेश। चीन जाने वाले मुख्य मार्गों पर भी कुछ छोटे भारतीय उपनिवेशों के प्रमाण मिले हैं।

वालकश लेख
मंगोलिया
इली दरिया
ति. एन शान पर्वत
किजिल
तुरफान
हामी
सागडियाना
समरकन्द
पेजीकेन्त
काशगर
अक्सु
कूचा
कारशार
लोपनोर
अनहृसि
कांसु प्रान्त
तुमशक
तारिम
तकलामकान मरुस्थल
तुन-हुआंग
मिरान
अजिनाटेपे
अफ़गानिस्तान
पामीर
यारकन्द
खोतान
दन्दान अलिक
नीया
हिन्दुकुश
कापिश
केरिया
कुन-लुन पर्वत
चीन
बामियान
काबुल
हड्डा
तिब्बत
भारत
मध्य एशिया के
प्राचीन रेशम मार्ग

यातायात मार्ग[9]

प्राचीन काल में तारिम क्षेत्र होकर चीन जाने वाले मार्गों को रेशम मार्गों के नाम से पुकारा जाता था और व्यापारिक दृष्टिकोण से यह बहुत ही महत्व रखते थे। यह रेशम का व्यापार चीन तथा रोम साम्राज्य के बीच होता था। इन मार्गों पर नियंत्रण के प्रश्न को लेकर बराबर संघर्ष होते रहे। हन काल में चीनी सम्राटों ने पूर्वी तुर्किस्तान में इनकी रक्षा की और विशेष रूप से ध्यान दिया। बल्ख से चीन तक पहुंचने के यह मार्ग व्यापार के अतिरिक्त भारतीय बौद्ध धर्म के प्रसरण में भी पूर्ण रूप से सहायक सिद्ध हुए। 11वीं शताब्दी तक बौद्ध संस्कृति, धर्म तथा कला उस क्षेत्र तथा वहां से उत्तर पूर्व में चीन, मंगोलिया तथा कोरिया तक फैली। अतः यह बौद्ध मार्गों के नाम से भी प्रसिद्ध रहे। कांसु प्रान्त में स्थित तुंन–हुआंग में यह दोनों मार्ग मिलते थे तथा वहां से चीन की ओर केवल एक ही मार्ग जाता था। तुंन–हूआंग में विदेशियों का आगमन होता था और ईसवी की प्रथम शताब्दी से ही इसका महत्व बढ़ने लगा। चीन की ओर जाते हुए बौद्ध भिक्षुओं ने दूसरी शताब्दी में यहां शरण ली। तृतीय शताब्दी में यहां पर कई भारतीय कुटुम्ब बस गए थे तथा यह बौद्ध धर्म प्रचारकों का केन्द्र बन गया था। बाद में वाई शासकों के समय में बौद्ध संस्कृति तथा कला को इनसे बहुत अनुदान मिला और उसी समय बौद्ध गुफा मन्दिरों का निर्माण आरम्भ हुआ। "सहस्त्र बुद्ध मूर्तियों की गुफा" के नाम से यह आज भी प्रसिद्ध है। यह उत्खनन में कूची, तिब्बती, सीरिक, खोतानी इत्यादि भाषाओं के बहुत से हस्तलिखित ग्रन्थ भी मिले हैं जिससे इसके शिक्षण केन्द्र होने का संकेत मिलता है तथा विभिन्न भाषीय ग्रन्थ इसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्व का प्रतीक हैं। चीन से भारत की ओर प्रस्थान करने वाले बौद्ध यात्रियों ने इसका विवरण दिया है। फाइयान शेन–सी के चंगान नगर से चला और कांसु के चंग–येह नगर पहुंचा। यहां उसे और बौद्ध भिक्षु मिले और उनके साथ वह बुलुगिर नदी के दक्षिण में तुंन–हुआंग आया। यहां पर उस समय कोई 4000 बौद्ध भिक्षु रहते थे। इससे दक्षिण पश्छिम में लोप झील से वह शान–शन पहुंचा। भारत की ओर जाते हुए चीनी यात्री चेन–कि (कारशार), यू–तिएन (खोतान), स्यो–हो (कारगलिक), क्यू–यू–मो (तश-कुरगान) और किए–च (काशगर) होता हुआ टो–लि (दर्दिस्तान में दरेल) पहुंचा। वहां से फिर पहाड़ों को पारकर गिलगिट क्षेत्र में प्रवेश कर उसने सिन्धु का मार्ग पकड़ा।

2

एक शताब्दी बाद सोंग-युन भी दक्षिणी मार्ग से आया और उसने इसका विस्तृत वृतान्त दिया है । ताश-कुरगान से वह प-हो (बखान) की ओर गया तथा चितराल के उत्तर में पो-चे से पर्वतों को पार करता हुआ वह शे-मि (चितराल) पहूंचा । गिलगिट की ओर न बढ़कर वह दक्षिण में स्वात की घाटी होता हुआ गंधार पहुंचा । इनके विपरीत य्वांग-चांग न उत्तरी मार्ग से भारत की ओर प्रस्थान किया । कांसु से वह काओ-चंग (तुरफान के निकट यारखोतो) गया । वहां से वह अ-कि-नि (कारशार), क्यू-चे (कूचा), पो-लु-किअ (यक-अरक) होता हुआ तिएन-शान के दक्षिण में वेदाल दर्रा से प्रवेश कर इसीकुलके किनारे पहुँचा जहाँ उसे लोकमक तुर्क मिले । यहीं पर थोड़ा समय पहले नालन्दा से प्रभा-कर मित्र नामक एक भिक्षु चीन जाते समय ठहरा था और बाद में चीनी सम्राट ने उसे सर्वोच्च उपाधि से विभूषित किया था । य्वांग-चांग सागडियाना होते हुए 'लोह द्वारा' से प्रवेश कर तुखारिस्तान पहुंचा । उस समय उसकी राजधानी आमु पर स्थित हुओ (कुन्दूज) थी । यहां से वामियान होता हुआ वह कापिश पहुंचा । बीस वर्ष बाद लौटते समय उसने दक्षिणी मार्ग पकड़ा । कापिश से पंजशीर की घाटी होते हुए उसने हिन्दूकुश पर्वत को पार किया और कुन्दूज पहुंचा । वहां से प-तो-चुआंग-न (बदकशां), यिंग-पो-किएन (यमगान) तथा हुन-तो-लो (कन्दुत) होते हुए पामीर को पार किया । इसके बाद वह किए-पन-तो (ताश कुरगान), किअ-शे (काशग़र), चे-क्यु-किअ (करगलिक) और क्यू-स-तन-न (खोतान) पहुँचा और वहां से उसने वही दक्षिणी मार्ग पकड़ा जो लोपनोर से चीन की राजधानी चंग-नान जाता था ।

इनके अतिरिक्त अन्तिम चीनी यात्री वू-कोंग ने भी अपने मार्ग का विस्तृत उल्लेख किया है । चीन से वह 751 ई० में एक राजकीय मंडल के नेता के रूप में कापिश गया था जहां से उसे एक चीनी राजदूत को वापस लाना था । वह सबसे पहले कूचा पहुंचा जो उस समय न्गान-सी उपनिवेश की राजधानी थी । वहां से वह शु-ले (काशगर), चे-नी (शिगनान), पो-मी (पामीर) तथा हु-मी (बखान) होता हुआ यासीन की घाटी और गिलगिट के पास सिन्धु नदी के क्षेत्र में पहुंचा । यह उस समय पो-लु-लो (बोलोर) कहलाता था । यहीं से वह उडियान और कापिश पहुंचा । यहां से लौटते समय वह कु-तु (खोताल), क्यू-मि-चे (कुमेध) वर्तमान करातेगिन, शे-नि (शिघनान) तथा शु-लाई (काशगर) होता हुआ यू-तिएन (खोतान) पहुंचा । वहां से वाइ-जोंग (यकर्यक), क्यू-स्यो (कूचा),

येन–कि (काशहिार) तथा पाई –तिंग (कु–चेंग के निकट) के मार्ग से वह 790 ई0 में राजधानी चंग–नान पहुंचा ।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में भारत से मध्य एशिया होकर चीन जाने के मुख्यतया दो मार्ग थे। (देखिए मानचित्र) दक्षिणी मार्ग अफगानिस्तान के वामि- यान से यारकन्द, खोतान, मीरन, छरछन और लोव-नोर होता हुआ जाता था। उत्तरी मार्ग पामीर से होता हुआ काशगर, कूचा, किजिल तथा तुरफान होता हुआ जाता था। यह दोनों मार्ग तुन-हुआंग में मिलते थे जो विशाल दीवाल के बाहर का अन्तिम गढ़ था जिसे 'दस्ताद्वार' कहते थे। मरुद्यानों के नगर अपनी सुन्दरता तथा समृद्धि से कठिन तथा दुर्गम मार्गों से आये व्यापारिक पथिकों की थकान को हर लेते थे। उदाहरण के रूप में कूचा के विषयमें चीनी यात्री य्वांग–चांग का कथन है कि इस राज्य से चावल, ज्वार, किशमिश, अनार, सेब, खूबानी, अलूचे इत्यादि धान्य तथा फलों की उपज होती थी तथा यहां पर सोने, तांबे, टिन की खानें भी थीं। जलवायु मन्द थी, निवासी सच्चे थे और उनकी लिखावट की लिपि भारतीय थी। यहां के वृन्दवादक भी वांसुरी और गितार में निपुण थे। स्त्रियाँ अपने सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थीं और चीनी राज्य प्रासाद में भी वे दिखाई पडती थीं। यह मार्ग बहुत काल तक यातायात का साधन रहे। चौदहवीं शताब्दी में मार्को-पोलो, जो दक्षिण मार्ग से चीन गया था, ने खोतान की समृद्धि के विषय में लिखा है। उसका कथन है कि जीवन की आवश्य-कता पूर्ति हेतु सभी वस्तुएं यहां पर उपलब्ध हैं तथा अन्न की उपज के अतिरिक्त अंगूर की खेती भी होती है। व्यापार तथा वस्तुओं का निर्माण भी होता है।

रोम की ओर जाने के लिये वल्ख से पश्चिम जगत की ओर दूसरा मार्ग था। यह वल्ख से अंतियोक तक, जो सीरिया की राजधानी थी, मेर्व, हेकातोम–पाइलोस (तेहरान के निकट), यकवताना तथा यूफ्रती पर स्थित हाइरोपोलिस होता हुआ जाता था। इस प्रकार इस व्यापार में ईरानी साम्राज्य का भी हाथ था। चीनी और पश्चिमी जगत के बीच रेशम (कौशेय) के व्यापार में भारतीयों तथा ईरा-नियों का भी सहयोग था। व्यापार के अतिरिक्त एक सहस्त्र वर्ष तक अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक संपर्क तथा समागम भी बराबर बना रहा। इस्लाम के बढ़ते वेग तथा मार्गों की सुरक्षा क्षीण होने से दोनों को धक्का लगा। मध्य एशिया में राजनैतिक स्थिरता एवं सुरक्षा का पूर्णतया अभाव होने लगा और धीर-धीरे व्यापार तथा सांस्कृतिक सम्पर्क लुप्त होने लगा।

उपरोक्त भौगोलिक वृतान्त से यह प्रतीत होगा कि लगभग 1500 मील लम्बे तथा 600 मील चौड़े विशाल क्षेत्र में, जो उत्तर में तिएन–शान तथा दक्षिण में कुन–लुंग एवं पश्छिम में कराकोरम पहाड़ियों से घिरा था, तारिम, आमु तथा जकसार्टेज नदियों के अनुदान से यहां पर बहुत से राज्य तथा नगर मरुद्यानों के रूप में बस गये। यहां के विभिन्न जातीय घुमन्तू लोग अपने पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप किसी एक स्थान पर रह सके। उन्होंने पश्चिम की ओर बढ़कर अन्य व्यवस्थिति जातियों, मुख्यतया शकों को अपना स्थान छोड़ने पर बाध्य किया। इतिहास इनके संघर्षों की गाथाओं से भरा है। इन्हीं मध्य एशियाई जातियों ने भारतीय इतिहास पर भी अपनी छाप डाली। शक, हूण तथा कुछ विद्वानों के मतानुसार गुर्जर जाति भी मध्य एशिया से भारत में आई और यहां के इतिहास में अपना स्थान बनाया। वास्तव में मध्य एशिया के लोगों ने—मुख्यतया सीथी और हूणों ने तो पश्छिमी जगत में भी अपना प्रभाव दिखाया। यह दोनों ही आरम्भ से मध्य एशिया के निवासी थे। जाति तथा भाषा के आधार पर यह दोनों एक दूसरे से भिन्न थे। सीथी श्वेत जाति के थे तथा आर्य अथवा हिन्द-यूरोपीय भाषा बोलते थे। इनके विपरीत हूण पूर्वी क्षेत्र में रहते थे तथा उनमें बहुत मात्रा में मंगोली रक्त था। उनकी भाषा आर्यों की भाषा से भिन्न थी जिसे तूरानी कहा जाता है, पर भाषा वैज्ञानिकों ने इसे यूरल–आल्टिक कहा है। बहुत शताब्दी पहले ही मध्य एशिया में यह हिन्द–यूरोपीय सीथी जाति लुप्त हो चुकी है यद्यपि एक समय में यह इस देश का प्रमुख अंग थी। तुर्किस्तान से, जो इनका मुख्य स्थान था, यह सीथी पश्चिम की ओर बढ़ते हुए मध्य यूरोप तक गए। पूर्व में भी कुछ सीथी पूर्व एशिया की ओर भी बढ़े तथा उत्तरी-पश्चिमी चीन पर अधिकार किया। सीथी ईरान तथा उत्तरी पश्चिमी भारत में आकर स्थायी रूप से बस गए तथा उनकी घुमन्तू प्रवृत्ति नष्ट हो गई। इनके विपरीत मध्य एशिया में जो सीथी रह गए थे वे अपनी अस्थायी प्रकृति को न छोड़ सके और निरन्तर नए क्षेत्र पर आक्रमण करने का उनका प्रयास जारी रहा। भारत के शकों के साथ भी उनके संघर्ष के उदाहरण हैं।

जिस समय तुर्किस्तान में सीथियों का आधिपत्य था, मंगोलिया में हूण जाति—ह्यूंग–नू का उत्कर्ष था जिनसे चीनियों को बराबर आक्रमण का सामना पड़ा। ई०पू० 214 में 'विशाल दीवाल' का इनसे बचाव के लिए निर्माण किया गया। मंगोलिया के हूण जाति के लोगों ने इसके थोड़े समय बाद संगठित होकर एक साम्राज्य बनाया जो लगभग 350 वर्ष (ई०पू० 209 से 160 ई०) तक चीन के प्रतिद्वन्दी के रूप में

उत्तरी सुदुर पूर्व में राजनैतिक नेतृत्व का इच्छुक रहा। बहुत से कठोर संघर्षों के बाद हूणों का चीन में स्थायी रूप से बसने का प्रयास चीनियों ने विफल कर दिया। छठवीं-शताब्दी के अन्त में चीनियों ने इन तूरानियों को वहां से भगा दिया तथा तांग वंश के शासक केवल चीन पर ही नहीं वरन मध्य एशिया में तुर्किस्तान पर भी पूर्णतया अधिकार कर सके। पर उनके बाद स्थिति पुनः बिगड़ गई और इन तूरानियों ने पुनः मध्य एशिया से आगे बढ़कर आन्तरिक परिस्थिति का लाभ उठाया हूणों का दबाव पश्चिम की ओर भी रहा। ईसवी की दूसरी शताब्दी में सीथी अथवा हिन्दू–यूरोपीय जाति की शक्ति क्षीण होने लगी और हूणों ने उन्हें पश्चिम की ओर भागने पर बाध्य किया। ईसवी की पांचवीं शताब्दी में हूणों का सम्पूर्ण तुर्किस्तान पर अधिकार था और इस कारण उनका निकटवर्ती सासानी साम्राज्य के साथ संघर्ष होना अनिवार्य हो गया। इसके फलस्वरूप 484 ई0 में एक सासानी सम्राट का वध हो गया और ईरानियों द्वारा हूणों को धनराशि देनी पड़ी। छठवीं शताब्दी में हूणों के बाद मध्य एशिया में तुर्कों का आधिपत्य हो गया जिनका हूणों के साथ जाति तथा भाषा के संदर्भ में निकट सम्बन्ध था। इन्हीं तुर्कों ने ईरान पर भी 1040 में अधिकार कर लिया तथा निकट पूर्व पर पूर्ण रूप से उनका आधिपत्य हो गया।

भौगोलिक दृष्टिकोण से मध्य एशिया की परिस्थिति में भारतीयों का सांस्कृतिक अनुदान, जो मुख्यतया बौद्ध धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित है, एक लम्बी कहानी है। बौद्ध धर्म प्रचारकों, व्यापारियों तथा कदाचित् कुछ राजकुमारों ने यहां पर भारतीय संस्कृति के प्रसरण में अपना पूर्ण रूप से अनुदान दिया। मुख्यतया ईसवी की प्रथम शताब्दी से यह कार्यक्रम आरम्भ हुआ। जब काश्यप मातंग चीन की ओर गया। राजनैतिक परिस्थिति बहुत काल तक अनुकूल रही जिससे इनको बहुत ही प्रोत्साहन मिला। मध्य एशिया में भारतीयों के उपनिवेश बन गए। बौद्ध प्रचारकों ने ग्रन्थों का अनुवाद करके तथागत का संदेश दूर दूर तक पहुंचाया। बौद्ध मन्दिर तथा बिहार बने जहां पर भिक्षु रहते थे। कहा जाता है कि ब्राह्मण धर्म से सम्बन्धित देवताओं से भी मध्य एशिया के निवासी अपरिचित न थे। इस्लाम के प्रवाह तथा राजनैतिक अस्थिरता के कारण मध्य एशिया में बौद्ध धर्म, कला एवं संस्कृति को बहुत धक्का पहुंचा। इन भिक्षुओं ने अपनी साहित्यिक धरोहर संभाल कर रख दी और प्रकृति ने रेतीले तूफानों से इनको पूर्णतया ढक दिया। इसीलिए लगभग एक सहस्त्र वर्ष तक यह भारतीय संस्कृति की निधि सुरक्षित रह सकी। अन्तर्राष्ट्रीय पुरातात्विज्ञों के दलों ने विभिन्न रूप से इसे निकाल कर संसार के

सम्मुख मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति को जागृत रूप प्रदान किया। इसके विभिन्न अवयवों के अध्ययन के लिए वहां से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ, कलाकृतियां तथा लेख पर्याप्त हैं। इस क्षेत्र को 'सेरइंडिया' नाम से सम्बोधित किया गया है और आरल स्टाइनने तो यहां तक लिखा है कि जब वह इस क्षेत्रमें भ्रमण कर रहा था तो उसेऐसा प्रतीत होता था कि वह जैसे पंजाब में हो यद्यपि वह भारत से लगभग 1500 मील दूरी पर था। इस विशाल क्षेत्र के विभिन्न अंगों को भौगोलिक दृष्टिकोण से अलग-अलग अध्ययन किया जा सकता है और इसलिए तुखारिस्तान तथा पूर्वी ईरान से क्रमशः रूसी तुर्किस्तान तथा पूर्वीय या चीनी तुर्किस्तान का पृथक् रूप से अध्ययन होना है।

1– रोमन इतिहासकार प्लिनी तथा पेरीप्लस ने भारत और पश्चिमी जगत के बीच व्यापार का उल्लेख विस्तृत रूप से किया है। व्यापार के लिए रेशम स्थल मार्ग से भारतीय बन्दरगाहों तक आता था और यहाँ से समुद्री मार्ग से भेजा जाता था। पश्चिमी जगत बहुत समय तक चीन के बारे में जानकारी नहीं रखता था और रेशम का व्यापार ईरानियों के मध्यस्थ से होता था और वे स्थल एवं समुद्री मार्गों पर नियंत्रण रखे थे। बादमें सागडियान व्यापारियों ने ईरानी एकाधिकार को चुनौती दी। रेशम उस समय विनिमय का काम भी देता था। (देखिए – अनिल सिल्वा का लेख "दी इस्पाइस एंड सिल्क रोड्स" – विवेकानन्द कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ0 301)। मध्य एशिया के विस्तृत इतिहास के लिए देखिए : मेकगोवर्न "दी अर्ली एम्पायर्स आफ सेन्ट्रल एशिया" (1931)। बागची ने अपनी "इंडिया और सेन्ट्रल एशिया" में भी इस विषय पर लिखा है (कलकत्ता – 1955)।

2– मेकगोवर्न ने अपनी पुस्तक में विस्तृत रूप से आर्य पृष्ठभूमि, प्रथम हूण साम्राज्य, द्वितीय हूण साम्राज्य तथा अन्तिम हूण राज्यों के सन्दर्भ में यहां के इतिहास का विवरण दिया है। गवीन हम्बले ने भी अपनी पुस्तक "सेन्ट्रल एशिया" में प्राचीन से आधुनिक काल तक के इतिहास का सर्वेक्षण किया है (न्यूयार्क-1969)।

3– भौगोलिक वृतान्त के लिए देखिये : "एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिया", 1973, भाग 2, पृ0 575 से ।

4– बागची – पृ० 1 ; मैकगोवर्न – पृ० 7 । शकों के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से शोध कार्य हुआ है । विस्तृत ग्रन्थ सूची के लिए देखिए : मजुमदार "दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी' तथा 'क्लासिकल एज', (बम्बई 1954) । बहुत से लेख भी हैं जिनमें टामस का "शकस्थान" पर लेख महत्वपूर्ण है (इंडियन एन्टीक्वेरी – 1906) । "कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भाग 1, के 14वें अध्याय में अखमानी आधिपत्य के सन्दर्भ में विस्तृत रूप से शक जातियों का विवरण है (कैम्ब्रिज 1921) ।

5– मध्य एशिया में हूणों का विस्तृत रूप से विवरण मैकगोवर्न की पुस्तक में मिलता है और इसमें अध्ययन सूची भी है । भारत में हूणों के ऊपर भी शोध कार्य हुआ है । उपेन्द्र ठाकुर ने अपनी पुस्तक "हूण्स् इन इंडिया" में इनका इतिहास लिखा है । बहुत से लेखों की सूची मजुमदार द्वारा सम्पादित "क्लासिकल एज" में मिलेगी (बम्बई 1954) ।

6– यूचियों का उल्लेख कुषाणों के इतिहास के सन्दर्भ में किया गया है । मेरी पुस्तक "इन्डिया अन्डर दी कुषाणास्" (बम्बई 1965) में विस्तृत रूप से इनका विवरण है तथा ग्रन्थ अध्ययन सूची भी दी गई है ।

7– विशेष अध्ययन के लिए देखिए मैकगवर्न की पुस्तक जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है ।

8– यह वृतान्त मेकगोवर्न तथा बागची की पुस्तक पर आधारित है ।

9– मार्गों का उल्लेख चीनी यात्रियों के वृतान्त पर आधारित है जो बील : "बुद्धिस्ट रेकार्ड आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड", दो भाग, तथा वाटर्स : "य्वांग–चांग" से उद्धरित है । बागची ने अपनी पुस्तक में इसका सूक्ष्म में विवरण दिया है । अनिल सिल्वा के लेख में भी इसका विवरण है तथा आल्टो के अपने लेख "आन दी रोल आफ सेन्ट्रल एशिया इन दी स्प्रेड आफ इन्डियन कल्चर"–विवेकानन्द कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ0 245 से, में भी उल्लिखित है ।

अध्याय 2

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मध्य एशिया का विशाल क्षेत्र कभी भी एक राजनैतिक सूत्र में न बंध सका। इसके कारण जलवायु एवं जनजाति के अतिरिक्त राजनैतिक परिस्थितियां थीं। विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग राज्य स्थापित हुए जिनके निवासियों की भाषाएं भी भिन्न थीं। इन राज्यों का अस्तित्व कभी भी अधिक काल तक न रह सका और शक्तिशाली जाति के लोगों ने अपने बल का पूर्णतया प्रयोग कर दूसरे को दबाया। यह शृंखला बराबर कायम रही। इन राज्यों का उल्लेख चीनी साहित्य, मुख्यतया पर्यटकों तथा राजदूतों के वृतान्तों से मिलता है। भारतीय साहित्य में भी 'तुषार' नाम से इस क्षेत्र के एक राज्य का उल्लेख है जो भारत में कश्मीर के उत्तर में और ईरान तथा तूरान के बीच में स्थित था और जहां घुमन्तू लोगों ने भी अपना प्रभाव डाला। भारत से निकट होने के कारण यहां भारतीय सांस्कृतिक प्रवेश बहुत पहिले हुआ और ईसवी की प्रथम शताब्दी से तुषारों ने भारतीय संस्कृति एवं धर्म के प्रसरण में अपना अनुदान दिया। तुषार देश की सीमाएं बराबर घटती बढ़ती रहीं। प्राचीन काल में आमुदरिया के दोनों ओर के भाग इसमें थे और इसकी सीमाएँ हिन्दुकुश तक विस्तृत थीं, पर बाद में बदकशां और वलख के बीच वाले भाग को ही तोखारिस्तान नाम दिया गया। य़्वांग-यांग के अनुसार उत्तर में बदकशां के निकट देरबेन्ट (Derbent) के 'लोहे का दर्रा' स्थान में दक्षिण में हिन्दुकुश तथा पश्छिम में फारस से पूर्व में शुंम-लिग तक इसकी सीमाएं फैली हुई थीं। उसके वृतान्त के अनुसार तुषार देश (तुखारिस्तान) के उत्तर में सागडियाना था जिसे प्राचीन सुगदिक, सुलिक वर्तमान समरकन्द भी कहा जाता है और पूर्व में वह भाग था जिसे अब चीनी तुर्किस्तान कहते हैं। आक्षु-आमु नदी तुषार देश के बीच से बहती थी। हान-कालीन चीनी साहित्य में इसे ताहिया के नाम से सम्बोधित किया गया तथा ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में चीन के साथ इसका प्रथम सम्पर्क हुआ था। चौथी शताब्दी में चीनी स्रोतों में इसे तु-हो-लो (Tu-ho-lo) नाम दिया है।
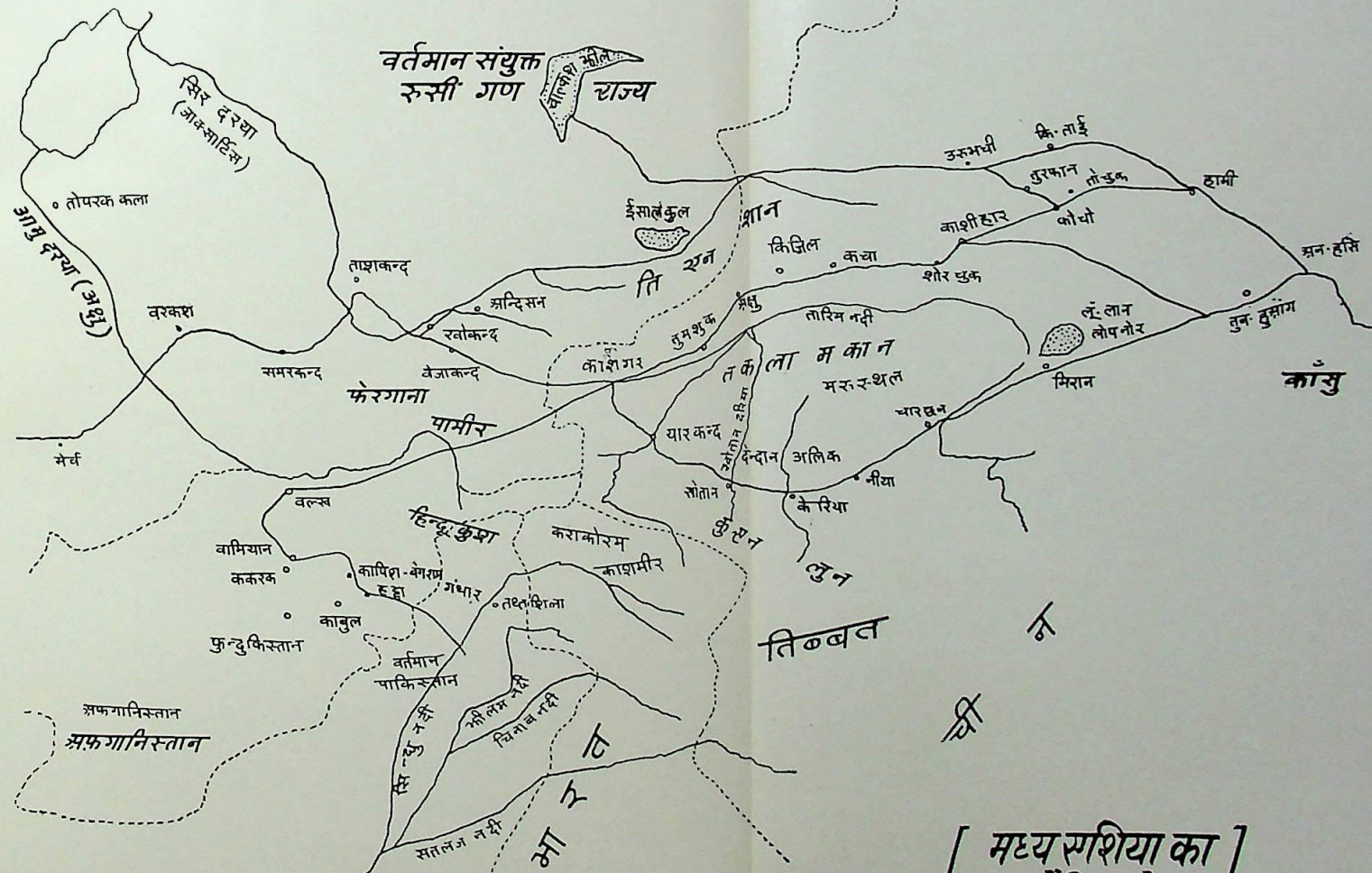
वर्तमान संयुक्त रूसी गण राज्य
बाल्काश झील
सिर दरया (जाक्सार्टिस)
तोपरक कला
आमू दरया (अक्षु)
ताशकन्द
समरकन्द
फेरगाना
पामीर
मेर्व
खोकन्द
बल्ख
बामियान
ककरक
कापिशा-बेगराम
हड्डा
गंधार
तक्षशिला
काबुल
फुन्दुकिस्तान
वर्तमान पाकिस्तान
अफगानिस्तान
अफ़गानिस्तान
हिन्दूकुश
कराकोरम
काशमीर
सिन्धु नदी
झेलम नदी
चिनाब नदी
सतलज नदी
भारत
तिब्बत
चीन
ईसालकुल
तिएन शान
किज़िल
कूचा
काशगर
तुमशुक
तारिम नदी
तकलामकान मरुस्थल
यारकन्द
खोतान
दन्दान
अलिक
केरिया
नीया
कुएन लुन
चारछन
मिरान
लोपनोर
शोर चुक
तुरफान
हामी
उरुमची
कोचो
कांसु
मध्य एशिया का राजनैतिक क्षेत्र

तुखार-तुषार देश[1]

रामायण तथा महाभारत में इस देश के निवासियों को तुखार तथा पुराणों में इन्हें तुषार कहा है और इनका भारत के ऊपर राज्य करने का भी उल्लेख है, जिससे कदाचित कुषाण शासकों का संकेत है जो मध्य एशिया के निवासी थे। चीनी एतिहासिक ग्रन्थों के अनुसार ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी में इस देश में शक रहते थे जिन्हें चीनियों ने सई (Saj) अथवा सेक (Sek) नाम दिया है। यह ईरानी थे तथा उत्तरी ईरानी उपभाषा बोलते थे। उनके राज्य का दक्षिणी भाग वैक्ट्रियाई यूनानियों के अधिकार में था, पर उत्तर में यह अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये बैठे थे। पर थोड़े समय बाद यूची नामक एक अन्य जाति के दबाव तथा संघर्ष के कारण इनको अपना राज्य छोड़ना पड़ा। इस यूची जाति को ता-यूची अथवा वृहत यूची के नाम से चीनियों ने सम्बोधित किया है। वर्तमान चीनी राज्य कांसु के तुंन-हुआंग क्षेत्र में तारिम के थाले में यह लोग रहते थे। ई0 पू0 176 में उत्तर में ह्यिू-नू (हून) (Hiung-nu) हूण नामक एक घुमन्तू जाति ने इनपर आक्रमण करके इनको पूर्णतया पराजित कर दिया। यूची अपना स्थान छोड़कर पश्छिम की ओर नया स्थान बसाने के लिए बढ़े और बू-सून जाति के लोगों को हराकर उनके क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। थोड़े समय बाद ह्यिू-नू (हूण) और बू-सुन ने मिलकर यूचियों को हराकर उन्हें अपना क्षेत्र छोड़ने पर बाध्य किया। इसके बाद यूची ताहिया अथवा तुखारिस्तान पहुंचे जहां पर शकों को हराकर उन्होंने उनके क्षेत्र पर अधिकार जमा लिया। शकों को बाध्य होकर बोलोर के रास्ते दक्षिण में कश्मीर की ओर भागना पड़ा। यूचियों ने वहां पर अपना राज्य स्थापित किया और उनके बढ़ते प्रभाव तथा हूणों के चीन पर आक्रमणों के प्रयास ने चीन शासक को उनसे मित्रता तथा सहायता प्राप्त करने के लिए बाध्य किया। प्रथम चीनी दूत चांग-किएन (Chang-kien) ईसा पूर्व 125 में यूचियों के देश में आया था और उसने इनके बारे में सम्पूर्ण वृतान्त दिया है। ताहिया पर अधिकार करके यूचियों ने इसे पांच छोटे राज्यों में विभाजित किया जो क्रमशः ह्यू-मि (Hiu-mi), शुवांग-मि (Shuang-mi) कुई-शुवांग (Kui-Shuang), हि-टुने (Hi-tun) तथा तु-मि (Tu-mi) थे। कदाचित् यह विभाजन प्रशासन की दृष्टि से किया गया हो पर एक शताब्दी बाद कुई-शुवांग के सरदार ने विप्लव करके अन्य चारों राज्यों को जीतकर उनपर अधिकार कर लिया और एक विशाल शक्तिशाली

राज्य की स्थापना की। इस कुई-शुवांग सरदार का नाम कुजुल-कथफिस था जिसने अपनी शक्ति दृढ़ करने के बाद न्गान-सी (पार्थिया), काओ-फु (काबुल), पु-ट (बैंक्ट्रिया) तथा कि-पिन (कश्मीर अथवा गंधार) राज्यों पर अधिकार करके एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की। 80 वर्ष की आयु प्राप्त करके उसकी मृत्यु हुई और उसका उत्तराधिकारी येन-काओ-शेन (Yen-kao-shen) अथवा विम-कथफिस या वेम-कथफिस हुआ। उसने तिएन-चू (Tien-chu) (भारत) को अपने साम्राज्य में मिलाया तथा इसके प्रशासन के लिए अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया। इन दोनों को कुई-शुवांग के नृप कहकर सम्बोधित किया जाता था पर चीनी इनके पहले नाम ता-यूची कहकर ही पुकारते थे। इस समय यह कहना कठिन है कि कुषाण वास्तव में यूची अथवा मंगोल थे या यूची जाति के साथ मिलकर उन्हें भी चीनी दूत चांग-किएन ने उसी वर्ग से सम्मिलित कर लिया[2]। केवल इसी राजदूत के वृतान्त के आधार पर ही कुषाणों को यूची मान लेना उपयुक्त न होगा जबकि उनके शरीर, आकार-मुख्यतया लम्बा चेहरा तथा नाक, आंख तथा मुख आकृति से उन्हें तुर्की वर्ग में रखा जाना चाहिए। पुराणों में भी कुषाण शासकों को तुषार वंशीय कहा गया है।

कुषाणों का मूल स्थान तुखारिस्तान था जहां ईसवी की पांचवीं शताब्दी तक उन्होंने राज्य किया। चीनी इतिहास ग्रन्थ पेई-शे (Pei-she) के अनुसार उनके शासक कि-तो-लो (Ki-to-lo) (केदार) को ज्वान-ज्वान (Juan-Juan) के आक्रमण के कारण पो-लो (वक-ला, वेक्ट्रा अथवा वलख) की ओर भागना पड़ा। उसने वहां से गंधार पर अधिकार किया तथा उसे अपने राज्य में मिला लिया। केदार कुषाण शासक कथफिस तथा कनिष्क के वंशजों से विभिन्न थे और इनका राज्य क्षेत्र वलख तथा गंधार ही था। ई० 424–451 के काल में तुखारिस्तान से बहुत से व्यापारी चीन गए थे जहां उन्होंने चीनियों को कटावदार शीशे का काम (पालीक्रोम) सिखाया। केदार कुषाणों ने भी वलख तथा गंधार से 477–511 के काल में कई राजदूत चीन भेजे। केदार तथा उसके पुत्र कुंगकस और सासानी शासक पेरोज (459–484) के बीच हुआ युद्ध दोनों ही के लिए हानिकारक हुआ। हफथालियों (Hephthalite) (हूणों) ने पेरोज़-फीरोज़ को हरा दिया तथा कुंगकस (Kungkas) को भी काबुल की ओर हटना पड़ा जहां पुन: हफथालियों ने उनको नष्ट कर दिया। तुखारिस्तान पर हफथालियों का अधिकार हो गया था और उन्होंने पांचवीं शताब्दी के मध्य भाग में केदार कुषाणों

को वल्ख तथा गंधार की ओर प्रस्थान करने पर वाध्य किया। उनके तुखारिस्तान पर अधिकार से सासानियों के साथ उनका संघर्ष अनिवार्य हो गया।[3] 484 में उनके शासक अक्षोनवार ने पेरोज को हरा कर उसका वध कर दिया। इस प्रकार श्वेत हूणों का साम्राज्य विस्तृत होने लगा। 502–556 ई० के बीच काल में इनके साम्राज्य में कापिश (काबुल घाटी), कारशर, कूचा, काशगर, सागडियाना तथा खोतान सम्मिलित थे। पामीर क्षेत्रों में तशकुरगान, बखान तथा चितराल और गंधार इसके अंग थे।

ईसवी की छठी शताब्दी के मध्य काल से पश्छिमी-तुर्कों का इस मध्य एशिया के क्षेत्र में पदार्पण हुआ। उन्होंने प्रथम ज्वान-ज्वान को, जो हपथलियों के साथी थे, को हराया और तुखारिस्तान पर 588–89 में अधिकार कर लिया। वल्ख और कुन्दूज नामक दो राजधानियां 597 में इनके अधिकार में आ गई। चीनी यात्री य्वांग-चांग को भारत यात्रा के समय यहां का शासक एक तुर्की था जो तेगिन कहलाता था तथा उसका मुख्य शासन केन्द्र कुन्दूज था। बाद में तुखारिस्तान पर चीनियों का आधिपत्य हो गया। यहां के प्रशासक ने 656–660 के बीच चीनियों की सहायता से इसको 24 प्रशासनिक क्षेत्रों में बांटा। चीनी श्रोतों के अनुसार लगभग एक सौ वर्ष तक (759) तुखारिस्तान और चीन के बीच राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित रहा तथा यहां से बहुत से राजदूत भी चीन भेजे गए। इन्हीं श्रोत्रों के अनुसार (642–755) के समय में तुखारिस्तान का शासक यवगु-शे-लि-मंग-किअ-लो (श्री मंगल) था जिसने कूचा से सैनिक सहायता प्राप्त कर तिव्वती तथा खस के सम्मिलित आक्रमणों को विफल कर दिया था। 759 में तुखारिस्तान से भेजे गए अन्तिम राजदूत का नाम उ-लि-तो अथवा उदित था। तुर्की अधिपत्य होते हुए भी तुखारिस्तान के विभिन्न राज्य अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए हुए थे। चीनी श्रोतों के आधार पर शासक अथवा राजदूत के नाम श्री मंगल या उदित उनके भारतीय होने का संकेत करते हैं। अरब आक्रमणकारियों के अधिकार के वाद तुखारिस्तान का अस्तित्व नष्ट हो गया।

तुखारिस्तान में छोटे-छोटे राज्य सदैव से ही रहे। इनका गठन प्रशासनिक दृष्टिकोण से हुआ था। चीनी श्रोतों के अनुसार यूचियों ने इस क्षेत्र पर अधिकार करके इसे 25 मंडलों में बांरा। इनके नामों का चिन्हींकरण असम्भव है। कुषाणों के समय में भी यह पांच भागों में! विभाजित था[4]—ह्यू-मि (Hiu-mi), जिसकी राजधानी हो-मो थी, श्वांग-मी (Shuang-mi) जिसकी राजधानी

भी यही थी, कुई-शुवांग (Kui-shuang) अथवा कुषाण, जिसकी राजधानी हु-जाओं थी, हि-तुन (Hi-tun) जिसकी राजधानी पो-माओ थी, तथा तु-मि (Tu-mi) जिसकी समानता काओ-फु (Kao-fu) या काबुल से की गई है। यह प्रशासनिक केन्द्र एक दूसरे से अलग थे तथा प्रत्येक एक यवगु के अधीन था। बाद में कुई-शुवांग ने अन्य चारों यवगुओं को अपने अधिकार में कर लिया था। भारत में कुषाणों की राजशक्ति समाप्त होने के बाद भी इनका तुखारिस्तान पर अधिकार बना रहा। हफथालियों के अधिकार के बाद भी यहां पर छोटे राज्य बने रहे जो एक प्रकार से स्वशासनीय थे (autonomous)। चीनी यात्री य्वांग-चांग ने यहां की राजनैतिक अवस्था का पूर्णरूप से वर्णन किया है। तुर्की आधिपत्य के अन्तर्गत होते हुए भी यहां 27 छोटे राज्य थे जहां चीनी यात्री गया था। उसने इनको पूर्वी तथा पश्छिमी भागों में बांटा है--पश्छिमी में 16 और पूर्वी में 11 छोटे राज्य थे जिनमें प्रत्येक का एक अध्यक्ष था। पश्चिमी भाग के राज्य त-मि (Ta-mi) (तरमेज़) से किए-चिन (Kie-chin) (गाज़) तक के क्षेत्र में थे जो कि अक्षु (oxus) घाटी का सबसे उपजाऊ भाग था। पूर्वी क्षेत्र अन-त-लो-फो (अन्देराव) से आरम्भ होता था और य्वान-चांग भारत से लौटते समय यहां आया था। इनको प्राचीन तु-हो-लो (तुखार) कहा गया है। चीनी यात्री के अतिरिक्त 10वीं शताब्दी के मुसलमान भूगोल इतिहासकार अबु-ज़ैद इस्तखारी तथा मखदिसि ने बहुत से राज्यों का उल्लेख किया है यद्यपि उनका पूर्णतया सम्बन्ध यूचियों के तुखारिस्तान से न भी रहा हो। य्वांग-चांग द्वारा उल्लिखित राज्य इस प्रकार है[5] :--

(1) त-मि (Ta-mi)

इसकी समानता वर्तमान तरमेज से की जाती है। य्वांग-चांग ने इसका क्षेत्र पूर्व से पश्चिम 600 ली (100 मील) तथा उत्तर से दक्षिण 400 ली (66.66 मील) दिया है। इसकी राजधानी 20 ली के घेरे में थी। उस समय यहां पर 10 संघाराम थे जहां कोई 1000 भिक्षु रहते थे। स्तूप तथा बौद्ध मूर्तियों से निवासियों की धार्मिक प्रवृति का संकेत मिलता था।

(2) चि-किअ-येन-न (Chi-kia-yen-na)

इसे बाद के चीनी स्रोतों में चि-हन-न (Chi-han-na) अथवा शि-हन-न (Shi-han-na) नाम से सम्बोधित किया है। इसकी समानता चघनियान

(Chaghaniyan) अथवा शघनियान (Saghaniyan) से की जाती है जो सुरखाब पर स्थित था। चीनी यात्री के अनुसार इसका क्षेत्र पूर्व से पश्चिम तक 400 ली (66–66 मील) तथा उत्तर से दक्षिण तक 500 ली (83.33 मील) था। इसकी राजधानी 10 ली के घेरे में थी। यहां पर उस समय पांच संघाराय थे जिनमें कुछ भिक्षु रहते थे। वील के मतानुसार आमु नदी की उत्तरी सहायक नदी करतेगिन पर स्थित हिसार से उसकी समानता की जा सकती है तथा इस क्षेत्र के अन्तर्गत सुरखन और उत्तरी काफिरनहान आते हैं।[6]

(3) हु-लु-मो (Hu-lo-mo)

चघनियान से पूर्व की ओर यह राज्य था जिसका क्षेत्र पूर्व से पश्चिम की ओर 100 ली (16.66 मील) और उत्तर-दक्षिण की ओर 300 ली (50 मील) था। इसकी राजधानी 10 ली के घेरे में थी। यहां का शासक हि-सु जाति का एक तुर्क था। यहां दो बौद्ध मठ थे तथा 100 बौद्ध भिक्षु रहते थे। यूल ने इसकी समानता अक्षु (oxus) पर स्थित गर्म से की है जो करते-घिन की राजधानी थी।[7]

(4) सु-मन (Su-man)

चीनी यात्री के अनुसार इसका क्षेत्र पूर्व से पश्चिम की ओर 400 ली तथा उत्तर से दक्षिण की ओर 100 ली था। इसकी राजधानी 16–17 ली (लगभग 3 मील) के घेरे में थी। यहां पर भी हि-सु जाति का एक तुर्क राज्य करता था तथा दो मठों में कुछ भिक्षु रहते थे। दक्षिण-पश्चिम में इसकी सीमा आक्षु आमु तक थी, तथा यह किओ-हो-येन-न (Kio-ho-yen-na) तक विस्तृत था।

(5) किओ-हो-येन-न (Kio-ho-yen-na)

यह क्रमशः पूर्व से पश्छिम की ओर 200 ली और उत्तर से दक्षिण की ओर 300 ली के क्षेत्र में स्थित था। इसकी राजधानी 10 ली के घेरे में थी। यहां पर उस समय तीन मठ थे जिनमें 100 बौद्ध भिक्षु रहते थे। इसकी समानता कुबादिआन अथवा करतेगिन से की गई है जो आक्षु पर स्थित था।

(6) हु-श (Hu-sha)

यह करतेगिन से पूर्व में था और इसकी समानता वक्ष (Waksha) से की गई है। इसका क्षेत्र पूर्व से पश्छिम 300 ली और उत्तर से दक्षिण 500 ली

था । इसकी राजधानी 16–17 ली के घेरे में थी । चीनी यात्री ने यहां पर बौद्ध बिहार अथवा भिक्षुओं के विषय में कुछ वृतान्त नहीं दिया है ।

(7) खो-तो-लो (Kho-to-lo)

पूर्व से पश्चिम तक 1000 ली और इतना ही उत्तर से दक्षिण वाले इस राज्य की समानता खोताल से की गई है जो पामीर तक विस्तृत है । चीनी यात्री के अनुसार इसकी राजधानी 20 ली के घेरे में थी तथा इसके पूर्व में शुंग-लिग पर्वत थे और यह क्यू-मि-तो (Kiu-mi-to) के निकट था । यहां किसी बौद्ध बिहार या संघाराय का उल्लेख नहीं किया गया है ।

(8) क्यू-मि-तो (Kiu-mi-to)

इस निकटवर्ती राज्य की सीमाएं पूर्व से पश्छिम की ओर 2000 ली तथा उत्तर से दक्षिण 200 ली के घेरे में थी । यह शुंग-लिग पर्वतों के बीच में था तथा इसकी राजधानी 20 ली के घेरे में थी । दक्षिण पश्चिम में यह अक्षु आमु नदी तक था, तथा दक्षिण में यह शि-कि-नि (Shi-ki-ni) राज्य की सीमा तक विस्तृत था । इसके बाद आमु नदी के दक्षिण में स्थित छोटे राज्यों अथवा मंडलों का उल्लेख करते हुए य्वांग-चांग ने क्रमशः त-मो-शिह्-तेह्-टी (Ta-mo-sih-teh-ti), पो-टो-छंग-न (Po-to-chang-na), इन-पो-किन (In-po-kin), क्यू-लंग-न (Kiu-lang-na), हि-मो-टो-लो (Hi-mo-to-lo), पो-लि-हो (Po-li-ho), खि-लि-शेह्-मो (Khi-li-seh-mo) हो-लो-खू (Ho-lo-khu), ओ-लि-नि (O-li-ni) तथा मुंग-किन (Mung-kin) का उल्लेख किया है । हवो (कुन्दुज) से दक्षिण-पूर्व की ओर चेन-से-टो (Chen-seh-to) तथा अन-त-ल-पो (An-ta-la-po) और पश्चिम की ओर फो-किअ लंग (Fo-kia-lang) (वघलान) थे ।

(9) फो-किअ-लंग (Fo-kia-lang)

इस राज्य की सीमाओं का उल्लेख करते हुए चीनी यात्री ने कहा है कि यह पूर्व से पश्चिम 50 ली, तथा उत्तर से दक्षिण 200 ली के घेरे में था । इसकी राजधानी 10 ली के घेरे में थी । यहां के दक्षिण की ओर हि-लु-शिह्-मिन-किएन (Hi-lu-sih-min-kien) स्थित था । इसकी समानता कुन्दुज के दक्षिण में वघलान से की जाती है ।

(10) हि-लु-शि-मिन-कन (Ho-lu-shi-min-kan)

यह 1000 ली के घेरे में स्थित था तथा इसकी राजधानी 14 या 15 ली में थी। उत्तर पश्चिम में यह हो-लिन (Ho-lin) के निकट था। इसकी समानता रव और सिमिनगन से की जाती है

(11) हो-लिन (Ho-lin) तथा पो-हो (Po-ho)

प्रथम राज्य 800 ली के घेरे में था और इसकी राजधानी 5–6 ली के घेरे में थी। यहां कोई 10 मठ थे और उनमें 500 भिक्षु रहते थे। इसकी समानता खुल्म से की जाती है। पो-हो की समानता वल्ख से की गई है। यह राज्य पूर्व से पश्छिम 800 ली के घेरे में था तथा उत्तर से दक्षिण इसका क्षेत्र 400 ली था। इसकी राजधानी 20 ली की परिधि में थी। बौद्धों के लिए यह विशेष रूप से महत्वपूर्ण था और इसे छोटा राजगृह कहा जाता था। यहां पर कोई 100 मठ थे जिनमें 3000 भिक्षु रहते थे और हीनयान ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। नगर से बाहर दक्षिण-पश्चिम में नवसंघाराम नामक एक विहार था जिसको यहां के एक पूर्व शासक ने बनवाया था। यहां के बौद्ध विद्वानों ने बहुत से धार्मिक ग्रन्थों की रचना की थी। एक प्रसिद्ध मणियों से अलंकृत बुद्ध प्रतिमा के अतिरिक्त वैश्रवण (पा-शा-मेन) की भी एक मूर्ति स्थापित थी। कहा जाता है कि इन्होंने इस विहार की खान शासकों की आक्रमणात्मक प्रवृत्ति से रक्षा की थी। यहां पर बुद्ध जी का प्रयोग किया हुआ हाथ धोने का सोने का पात्र तथा तथागत का एक दांत भी रखा था। इनके अतिरिक्त विहार की सफाई के लिए एक झाड़ू भी थी जिसका किंवदन्ती के अनुसार बुद्ध जी ने स्वयं प्रयोग किया था। मठ के उत्तर में एक स्तूप भी था जो 200 फुट ऊंचा था। दक्षिण-पश्छिम में एक ओर विहार भी था जिसमें दूर-दूर से आकर भिक्षु ठहरते थे। उस समय वहां लगभग 100 बौद्ध भिक्षु विद्वान रहते थे।

(12) जुई-मो-तो (Jui-mo-to)

यह वलख से दक्षिण-पश्चिम में था और इसकी समानता जुमथान से की गई। यु्वांग-चांग के मतानुसार यह पूर्व से पश्चिम में 50 या 60 ली और उत्तर से दक्षिण 100 ली के क्षेत्र में स्थित था। इसकी राजधानी 10 ली में थी। इसके दक्षिण-पश्चिम में हु-शि-किएन (Hu-shi-kien) (जाघान) का देश

था जिसकी लम्बाई पूर्व से पश्छिम 500 ली और उत्तर से दक्षिण 1000 ली थी। इसकी समानता गोजगान से की गई है।

(13) ता-ला-कन (Ta-la-kan) तथा किए-चिन (Kie-chin)

इसकी सीमाएं पूर्व से पश्चिम 500 ली और उत्तर से दक्षिण 50 या 60 ली के क्षेत्र में विस्तृत थीं। पश्चिम में यह ईरान से निकट था। किए-चिन पो-लो (बलख) से 100 ली दक्षिण में था। इसकी सीमाएं पूर्व से पश्चिम में 500 ली और पश्चिम से दक्षिण में 300 ली के क्षेत्र में विस्तृत थीं। इसकी राजधानी 4 या 5 ली के घरे में थी। यहां की जलवायु ठंडी थी और निवासी मजबूत काम करने वाले थे। इस प्रदेश में कोई 10 विहार थे जिनमें लगभग 300 बौद्ध भिक्षु रहते थे। यह सब सरवास्तिवादिन सम्प्रदाय के अनुयायी थे। इसकी समानता गाज़ या दरलगाज़ से की गई है।

इनके अतिरिक्त य्वांग-यांग ने कुछ अन्य राज्यों का भी उल्लेख किया है,[7] जहां वह भारत से लौटते समय गया था। कदाचित् यह तुखारिस्तान के अधीन रहे हों अन्यथा वहां के निवासी तुखारियों से मिलते जुलते अथवा उनके ही जातीय वर्ग के हों। चीनी यात्री ने यहां के बौद्ध मठों का भी उल्लेख किया है।

अन-ता-लो-पो (An-ta-lo-po) इसकी समानता अन्दराव से की गई है। यह पहले तु-हो-लो का ही भाग था। यह लगभग 3000 ली के घेरे में था। यहां पर कोई शासक न था, वरन् यह तुह-किये (Tuh-kiueh) (तुर्कों) के अधीन था। यहां के निवासियों की धर्म तथा विद्या में रुचि नहीं थी। केवल कुछ ही व्यक्ति बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। यहां पर केवल 3 संघाराम थे और कोई 10 भिक्षु थे जो महासांघिक (त-चोंग-पु) मत के अनुयायी थे। अशोक द्वारा निर्मित एक स्तूप भी था।

क्यो-सि-तो (Kuo-si-to) : यह भी पहले तु-हो-लो का ही अंग था। इसकी परिधि लगभग 3000 ली थी तथा राजधानी 10 ली के घेरे में थी। यहां के निवासी भी उदंड प्रकृति के थे तथा अशिक्षित थे। यहां केवल 3 संघाराम थे। जिनमें थोड़े ही से भिक्षु थे। इसकी समानता खोस्त या वर्तमान खुस्त से की जाती है।

हू-ओ (Huo) : यह खोस्त से उत्तर-पश्चिम में था तथा उसी की भांति यह भी पहले तु-हो-लो का ही अंग था। इसकी भी परिधि 3000 ली थी।

यहां कोई शासक न था। निवासी सामान्य प्रकृति के थे तथा यह भी तुर्कों के अधीन था। बौद्ध धर्म के संदर्भ में यहां कोई 10 संघाराम थे। कई शत भिक्षु रहते थे जो महायान तथा हीनयान ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। इसकी समानता कुन्दुज से की गई है जिसका उल्लेख बाबर ने भी किया है और यह वर्तमान बाखलिज माना गया है।

मुंग-किन (Mung-kin), ओ-लि-नि (O-Li-ni) तथा हो-लो-हु (Ho-lo-hu) : यह वर्तमान मुंगकन है और चीनी यात्री के समय में बदकशां के अधीन था। यह लगभग 400 ली के घेरे में था। यहां से उत्तर में ओ-लि-नि था जो कोई 300 ली के घेरे में था तथा दो ओर से आमु इसकी सीमा थी। इसकी समानता वर्तमान अरहंग से की गई है। यहां से पूर्व में हो-लो-हु स्थित था जो भी अन्य राज्यों की भांति पहले तु-हो-लो का ही अंग था। इसकी समानता को कछ और आमु के बीच में स्थित रघ अथवा रघवन से की जाती है। यह बदकशां के अधीन था।

कि-लि-शि-मो (Ki-li-si-mo) तथा पो-लि-हो (Po-li-ho) : यह दोनों मुंगकिन से पूर्व में थे तथा पहल तु-हो-लो के ही अंग थे। दोनों के निवासी उदंड प्रकृति के थे। इनकी समानता क्रमशः खिष्म अथवा किष्म, और बोलोर से की जाती है।

हि-मो-तो-लो (Hi-mo-to-lo) : पो-लि-हो से पूर्व में स्थित इस राज्य के शासक को चीनी यात्री ने शाक्यवंशीय कहा है। इसकी परिधि 300 ली थी। यहां की स्त्रियों की वेषभूषा तथा अलंकार के विषय में य्यांग-यांग का कथन है कि विवाहित स्त्रियां अपने देशों में एक प्रकार के सींग लगाती थीं जो तीन फीट लम्बा तथा दो रुखा होता था। इससे पति के जीवित माता पिता का संकेत होता था तथा जैसे ही उनकी मृत्यु होती थी, वे हटा दिये जाते थे। किंवदन्ती के अनुसार कपिलवस्तु से शाक्यों के बहिष्कृत होने पर उनमें से एक शाक्य कुमार ने यहां आकर राज्य स्थापित किया था। पश्चिम में इसकी सीमा कि-लि-शि-मो से मिली हुई थी। यहां से 200 ली की दूरी पर पो-टो-चंग-न (बदकशां) था।

पो-टो-चंग-न (Po-to-chang-na) : 2000 ली परिधि में फैला हुआ यह राज्य पहले तु-हो-लो का ही अंग था। यहां के निवासी भी निकटवर्ती राज्यों की भांति उदंड प्रकृति के थे तथा उनमें विद्या का अभाव था। अधिकतर

3

यह ऊनी वस्त्र धारण करते थे। यहां पर 3–4 संघाराम थे और बहुत कम व्यक्ति बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। यहां का शासक सत्यवादी और निष्ठावान था तथा वह बुद्ध धर्म और संघ में आस्था रखता था।

इन-पो-किन (In-po-kin) : तु-हो-लो का यह प्राचीन भाग लगभग 1000 ली की परिधि में था। यहां की पहाड़ियां तथा घाटियां पूरे देश में फैली हुई थीं और जलवायु तथा निवासी पो-टो-चंग-न की ही भांति थे किन्तु भाषा थोड़ी भिन्न थी। यहां का शासक भी तीव्र प्रवृत्ति का था। इसकी समानता यमगान से की जाती है।

क्यू-लंग-न (Kiu-lang-na) तथा त-मो-सि-तिए-ती (Ta-mo-si-tie-ti) इन-पो-किन से 300 ली दक्षिण-पूर्व में दुर्गम तथा तंग मार्ग से चलकर य्वांग-यांग क्यू-लंग-न पहुंचा। यह भी पहले तु-हो-लो का ही अंग था। दोनों प्रान्तों की जलवायु तथा जन समुदाय के आचार-विचार में कोई भिन्नता नहीं थी। यहां पर पहाड़ की कन्दरा से बहुत सा स्वच्छ सोना मिलता होता था जो पत्थरों को पहले तोड़कर प्राप्त होता था। यहां पर कुछ संघाराम भी थे पर कदाचित् उनमें भिक्षु नहीं थे। यहां का शासक धार्मिक प्रवृत्ति का था तथा बौद्ध त्रिरत्न के प्रति उसकी आस्था थी। चीनी यात्री यहां से 500 ली उत्तर-पूर्व में पहाड़ों को पार कर एवं घाटियों से होकर त-मो-सि-तिए-ती के प्रदेश में पहुंचा। यह भी पहले तु-हो-लो के अधिकृत था। इसकी सीमाएं पूर्व से पश्चिम की ओर 1500 से 1600 ली तथा उत्तर से दक्षिण की ओर केवल 4–5 ली के अन्तर्गत थीं। आमु नदी के किनारे-किनारे इस प्रान्त की सीमाएं फैलीं थीं तथा बीच-बीच में विभिन्न ऊंचाई की पहाड़ियां थीं। यहां की जलवायु शीत थी तथा निवासी उदंड प्रवृत्ति के थे। कोई दस संघारामों में कूछ भिक्षु रहते थे। इसकी राजधानी ह्यान-तो-ती थी। इस प्रान्त में बौद्ध धर्म के प्रसरण के संदर्भ में च्वांग-यांग ने वहां के एक पूर्व शासक एवं उसके बीमार पुत्र का भी उल्लेख किया है जिसकी मृत्यु के बाद एक श्रमण की प्रेरणा से उसने यहां पर एक बड़ा संघाराम बनवाया। इसके बीच में एक अरहत द्वारा निर्मित एक विहार भी था जिसमें बुद्ध जी की मणियों से अलंकृत एक मूर्ति स्थापित की हुई थी। क्यू-लंग-न की समानता वर्तमान करँन से की गई है तथा त-मो-सि-तिए-ती वर्तमान वखान है।

उपरोक्त विभिन्न राज्यों, उनकी भौगोलिक परिस्थिति तथा य्वांग-यांग

के वृतान्त से प्रतीत होता है कि इन सबमें बौद्ध धर्म प्रवेश कर चुका था।[8] कई इसके अनुयायी भी थे। यह कहना कठिन है कि वहां की जनता में भारतीय मात्रा कितनी थी। यह राज्य संस्कृति तथा धर्म के अतिरिक्त व्यापारिक दृष्टि-कोण से भी महत्वपूर्ण थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक मार्ग इन्हीं देशों से होकर जाते थे। बदकशां से शुघनन के बीच में स्थित राज्य 11वीं शताब्दी तक अपना स्वतंत्र धार्मिक अस्तित्व बनाए रखे और इस्लाम के सम्मुख् नहीं झुके। बदकशां और बल्ख के बीच तलेकन बखलिज़ (कुन्दुज), खुल्म नामक महत्वपूर्ण स्थान थे और इन्हीं से होकर हिन्दुकुश तक पहुंचने का उपयोगी मार्ग था। खुल्म से दक्षिण की ओर जाने वाले मार्ग पर शिमिन्गन (वर्तमान हयवक के निकट) तथा बघलान थे। वहां से अन्देराव की ओर जा सकते थे। पूर्वी तुर्किस्तान की ओर जाने के लिए शुघनन से जो मार्ग था वह शंग-मि (चितराल), किए-पन-तो (शारि-कोल) तथा वु-श (यार्ग हिसार, यारकंद) होकर जाता था। इस प्रकार तुखा-रिस्तान का व्यापारिक दृष्टिकोण से बड़ा ही महत्व था। इस देश की भाषा तथा लिपि के विषय में भी उपलब्ध पाण्डुलिपियों के आधार पर बहुत कुछ अन्वेषण हुआ है जिसका उल्लेख साहित्य के सन्दर्भ में करना ही उपयुक्त होगा। हां, सूक्ष्म रूप से यहां के कुछ बौद्ध विद्वानों का उल्लेख करना है जिनका सम्बन्ध बौद्ध धर्म के प्रसरण से था तथा तुखारिस्तान के उन प्रान्तों में बौद्ध धर्म की स्थिति का मूल्यांकन करना है जिनका विवरण युवांग-यांग ने दिया है।

इन राज्यों में ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से लेकर ईसवी की आठवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म प्रचिलित था।[9] एक किंवदन्ती के अनुसार यहां बौद्ध धर्म का प्रवेश बुद्ध के प्रथम दो शिष्य तपुस और भल्लिक द्वारा हुआ था। यह दोनों ही वाल्हिक के व्यापारी थे और वे बोध गया में थे जब बुद्ध ने ज्ञान प्राप्त किया था। उस समय उन्होंने तथागत को पुआ तथा मधु दिया था और वे बुद्धजी के कुछ बाल तथा नख लेकर स्वदेश लौटे। वास्तव में अशोक के समय में ही बौद्ध धर्म का प्रसरण गंधार, कम्बोज और चीन देशों में हुआ था। कम्बोज निवासी कदाचित् तुषार की ही एक शाखा थे। यवनों में डिमेट्रियस (दत्तमित्र) का नाम बौद्ध धर्म के प्रसरण में विशेषतया उल्लेखनीय है। कहा जाता है कि किमिश के नाम से उसने ब्राह्मण शुंगों के विरुद्ध संघर्ष किया था। तुखारिस्तान में यूचियों और उन्हीं की शाखा कुषाणों ने भी इस धर्म को अपनाया। कुअुल कथफिस ने अपनी मुद्राओं में 'सचध्रमतिथस' 'सत्यधर्म स्थितिस्य' की उपाधि

धारण की है तथा उनपर बुद्ध की प्रतिमा भी अंकित है। कुषाण शासक कनिष्क का अनुदान तो बौद्ध धर्म के लिए विशेषतया उल्लेखनीय है। कुषाण काल में बदकशां के एक सरदार ने मथुरा में आकर विशेषतया ब्राह्मणों के हित के लिए 1100 पुराणों को दो गणों के पास जमा किया था। हुविष्क के समय के इस लेख[10] से यह प्रतीत होता है कि भारत और मध्य-एशिया के बल्ख-बदकशां क्षेत्र के साथ सांस्कृतिक और धार्मिक सम्बन्ध पूर्णतया स्थापित हो चुके थे। कुषाण काल में तुखारिस्तान से ही बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश हुआ। ईसा पूर्व 2 में चीनी दूत सिंग-किएंग (Tsing-kiang) ने चीन शासक के लिए कुछ बौद्ध ग्रन्थ भेंट में लिए। इसी मध्य एशिया क्षेत्र से दो बौद्ध विद्वान घोषक तथा धर्ममित्र भी चीन गए जहां उन्होंने बौद्ध धार्मिक साहित्य की रचना एवं चीनी में अनुवाद कार्य भी किया। घोषक को तुषार कहा गया है और उसने पुरुषपुर में हुई चतुर्थ बौद्ध सभा में सरवास्तिवाद अभिधर्मपिटक व्याख्या का संकलन किया था।[11] सभा पार्श्व की अध्यक्षता में हुई थी और घोषक नें विचार-विनिमय में अपना पूर्ण सहयोग दिया था। उसकी अभिधर्म पर मूल पुस्तक 'अभिधर्मामृत' का तृतीय शताब्दी में चीनी में अनुवाद हुआ था। बौद्ध धर्म की शाखाओं में घोषक का सम्बन्ध विभाषा से था और इसीलिए उसे वैभाषिक भी कहा जाता है। बाद में उसकी बौद्ध शाखा को पाश्चात्य अथवा पश्चिमी वैभाषिक नाम दिया गया जिसका सम्बन्ध बल्ख से था जो बौद्ध साहित्यिक अध्ययन का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। य्वांग-यांग के मतानुसार हिन्दुकुश के उत्तर में स्थित इस नवसंघाराम में एक ही बौद्ध केन्द्र था जहां की आयार्योय परम्परा का विच्छेद नहीं हुआ। उसके कथनानुसार यहां पर धर्म की व्याख्या करने वाले विद्वानों की कभी कमी नहीं रही। तुषार देश में वैभाषिक बौद्ध शाखा का महत्व वहां से प्राप्त बौद्ध साहित्य से भी ज्ञात होता है। आर्यचन्द्र नामक एक वैभाषिक ने 'मैत्रेय समिति' का तुषारी भाषा में सर्वप्रथम अनुवाद किया था। तुषार के अन्य वैभाषिक आचार्य धर्ममित्र ने 'विनय सूत्र टीका' लिखी थी जिसका अनुवाद तिब्बती में हुआ था। धर्ममित्र आक्षु-आमु पर स्थिति तरमित (तरमेज़) का निवासी था।

तुखारिस्तान के बौद्ध भिक्षुओं ने चीन में बौद्ध धर्म के प्रसरण में भी अपना पूर्ण अनुदान दिया था। 68 ई0 में काश्यप मातंग और धर्मरत्न चीन जाने वाले प्रथम बौद्ध धर्म प्रचारक थे। इनके बाद 147 ई0 में लोकक्षेम नामक एक तुषार

निवासी अद्वितीय विद्वान लो-यांग (चीन में) गया और वहां पर उसने कई महत्वपूर्ण ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। वह वहां 188 ई0 तक रहा और उसके कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उसके शिष्य चे-किएन (Che- kien) जो स्वयं तुषार देश का रहने वाला था और चीन में जाकर बस गया है, बिगड़ती राजनैतिक परिस्थिति के कारण उत्तरी चीन छोड़कर नान-किंग में बस गया। उसने 190–220 ई0 के काल में कोई एक शत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें 49 प्राप्य हैं। इनके अतिरिक्त धर्मरक्ष नामक एक और तुषार भिक्षु, जिसका चीनी नाम फ-यु था, तुन-हुआंग में ईसवी की तृतीय शताब्दी के मध्य भाग में बस गया था। उसने मध्य एशिया के विभिन्न क्षेत्रों में पर्यटन किया था तथा वह 36 भाषाओं का ज्ञाता था। 284 में वह चीन गया था और वहां 313 तक रहा। लगभग तीस वर्ष के काल में उसने दो शतक बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिनमें 90 अब भी उपलब्ध हैं। एक अन्य तुषारीय भिक्षु शे-लुन 373 में चीन गया और उसने वहां चार ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीनी स्रोतों के अनुसार अन्तिम तुषार से आने वाले बौद्ध भिक्षुओं में धर्म नन्दी 384 ई0 में वहां गया था तथा उसने कई ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। इनमें से 'एकोत्तरागम' अभी भी प्राप्त हैं।

चीनी यात्री य्वांग-यांग के वृतान्त से प्रतीत होता है कि तुखारिस्तान में बहुत से छोटे बड़े राज्य थे तथा बल्ख बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था और वहां कोई 100 संघाराम थे जिनमें कोई 3000 बौद्ध भिक्षु रहते थे। उस समय तो बौद्ध धर्म पतन की ओर जा रहा है, यद्यपि कुछ शताब्दी पहले यह अपने उत्थान पर था। त-मि (तरमेज़), फो-हो (बल्ख), किए-ची (गाज़) तथा हु-ओ (कुन्दुज) में उस समय भी बहुत से बौद्ध संघाराम थे जहां भिक्षु रहते थे। कुन्दुज में तो दोनों–हीनयान तथा महायान–मतों का प्रचलन था पर गाज़ सर-वास्तिवादिमों का ही केन्द्र था। अन्देरब में महासांघिक मत के बौद्ध रहते थे। बल्ख तो बौद्ध धर्म के प्रमुख केन्द्र के नाते छोटे राजगृह के नाम से प्रसिद्ध था। यहां का नवसंघाराम बौद्ध जगत में प्रसिद्ध था और यहां पर स्थापित बुद्ध जी की सुन्दर मूर्ति दूर-दूर से लोगों को आकर्षित करती थी। इस विहार का उल्लेख अरब स्रोतों में भी मिलता है। इसे नववहार तथा यहीं के अरहतो को परमक (बरमक) कहकर सम्बोधित किया गया है। ईसवी की सातवीं शताब्दी के अन्त में अरबों ने इसे नष्ट कर दिया तथा अरहतों को इस्लाम धर्म

अंगीकार करने पर बाध्य किया गया। उनको बगदाद ले जाया गया और उनमें से कुछ खलीफा हारुन रशीद के मंत्री भी बने। इन्होंने खलीफा की विचारधारा पर अपना प्रभाव डाला। उनके द्वारा कुछ दूत भारत में संस्कृत ग्रन्थों की खोज के लिए भेजे गए। ज्योतिष, गणित तथा भिषज् में उनकी विशेष रुचि थी और इन ग्रन्थों का अरबी में भी अनुवाद हुआ जिससे अरब संसार में वैज्ञानिक अन्वेषण के प्रति रुचि हुई।

तुखारिस्तान बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था। चीनी यात्री य्वांग-यांग के समय में कुन्दुज तुर्की खान सरदार का अस्थायी स्थान था। उसकी बौद्ध धर्म में पहले से ही कुछ रुचि थी। इसका श्रेय नालन्दा से आये एक बौद्ध विद्वान प्रभाकर मित्र को था। भारत का यह प्रसिद्ध विद्वान अपने 10 शिष्यों सहित वहां आया था। तुर्की खान-कगान ने उसका बड़ा सत्कार किया और भारतीय विद्वान ने उसे तथागत की मुख्य शिक्षाओं से अवगत कराया। 6 वर्ष वहां रहने के पश्चात् 626 में कगान की आज्ञा लेकर प्रभाकर मित्र चीन गया। इस बौद्ध विद्वान के अतिरिक्त, काओ-यंग (तुरफान) की राजकुमारी, जिसका विवाह कगान के पुत्र के साथ हुआ था, ने अपने पति द्वारा बौद्ध धर्म को तुर्की राज्य में बढ़ावा दिया। इसीलिए य्वांग-यांग का यहां बड़ा आदर सत्कार हुआ था। कुन्दुज बौद्ध धर्म तथा शिक्षा का एक प्रमुख केन्द्र था। यहां पर चीनी यात्री को एक प्रमुख बौद्ध शिक्षक त-मो-सेंग-किअ (Ta-mo-seng-kia) (धर्मसिंह) मिला था जिसने भारत में शिक्षा प्राप्त की थी। उसका बौद्ध शिक्षा जगत में बड़ा मान था। खोतान काशगर में तो विशेष रूप से वह बड़ी आदर की दृष्टि से देखा जाता था। 'विभाषा' का वह पारंगत था और चीनी यात्री ने भी उससे विचार-विनियम किया था।

ईरान तथा सागडियाना[12]

मध्य एशिया की भौगोलिक सीमाएं पश्चिम में सागडियाना (वर्तमान उजबेगिस्तान) तथा पार्थिया (जो उस समय ईरान के अन्तर्गत था) तक विस्तृत थी। अतः यहां की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन भी अनिवार्य है। प्राचीन पार्थिया की समानता वर्तमान ईरान के खुरासान प्रान्त से की जाती है और यह अखमानी साम्राज्य का एक अंग था। दारयबुश प्रथम के बिहिस्तां लेख में पर्थव नाम से इसका उल्लेख है तथा यह उस शासक के साम्राज्य की 16वीं

क्षत्रपी थी। इसने पहले तो ईरानी आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह किया था और बाद में अलिकसुन्दर (अलेकज़न्डर) का भी मुकाबला किया था पर दोनों ही बार असफलता का मुंह देखना पड़ा। सिल्यूकस तथा उसके पुत्र अंतिआकस प्रथम के समय में पार्थिया सीरिया का ही अंग था पर अंतिआकस द्वितीय के समय में बैक्ट्रिया तथा पार्थिया ने एक साथ सीरिया के आधिपत्य का विरोध कर स्वतंत्रता घोषित कर दी। ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी से ईसवी की तृतीय शताब्दी तक के काल में मिथराडेटिस (ई० पू० 171–130) का राज्यकाल विशेषतया महत्वपूर्ण है। इस सन्दर्भ में पार्थियनों का यूनानियों तथा पूर्व से आये शक और तोखारी जाति के लोगों के साथ संघर्ष विशेष तथा उल्लेखनीय है। मिथराडेटिस द्वितीय (ई० पू० 123–87) के लम्बे राज्यकाल में पार्थिया का राज्य विस्तृत था। इसका भारत से भी सम्बन्ध था पर बौद्ध धर्म का पार्थिया में प्रवेश तुखारिस्तान में कुषाणों के अधिकार के बाद ही हुआ। चीनी स्रोतों के अनुसार ईसवी की द्वितीय और तृतीय शताब्दी में बहुत से ईरानी बौद्ध विद्वान चीन गए तथा उन्होंने बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। इस कार्य में पार्थियन बौद्ध विद्वानों ने भी अपना अनुदान दिया। उनकी शिक्षा तुखारिस्तान में हुई होगी और वहीं से वे चीन भी गए होंगे। इन पार्थियन बौद्ध भिक्षुओं के नाम के आगे अन (न्गन) उपसर्ग का प्रयोग किया गया है। चीनी स्रोतों के अनुसार 148 ई० में अर्सकिडवेश के विरुद्ध लड़ाई के समय एक पार्थियन कुमार बौद्ध ग्रन्थों का भार लिए हुए चीन के पश्चिमी सीमावर्ती प्रान्त पहुंचा। चीनी इतिहासकार ने इसे न्गान-शे-काओ (Ngan-she-kao) अथवा लोकोत्तम पार्थियन कहा है। वह राज्यवंशीय उत्तराधिकारी था किन्तु अपने चचा के पक्ष में अपना अधिकार तथा घरबार त्यागकर बौद्ध भिक्षु बन गया था। वह प्रखर बुद्धि का था और बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन के पश्चात् उसने चीन की ओर प्रस्थान किया। 144 ई० में वह लो-यांग पहुंचा। यहां वह दो भारतीय-कश्यप-मातंग तथा धर्मरत्न के लिए निर्मित पो-म-स्से अथवा 'श्वेत अश्व विहार' में ठहरा। यहां पर उसने बौद्ध ग्रन्थों को चीनी में अनुवाद करने हेतु एक केन्द्र खोला। न्गान-शे-काओ ने स्वयं 300 बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें से कोई 55 उपलब्ध हैं। इनमें बौद्ध धर्म की शिक्षाएं उल्लिखित हैं। एक अन्य पार्थियन न्गान-हिएन (Ngan-Hiuan) भी इसी केन्द्र का था और लो-यांग में वणिक् के रूप में आया था। पहले वह प्रशासन से सम्बन्धित रहा और फिर उसने बौद्ध धर्म

स्वीकार किया। उसने भी 'श्वेत अश्व विहार' के भिक्षुओं के साथ सहयोग दिया और बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

न्गान-शे-काओ द्वारा स्थापित केन्द्र में बहुत से बौद्धों ने अनुदान दिया जिनमें कुछ सागडियाना के भिक्षु भी थे तथा येन-फो-टिओ (Yen-Fo-tiao) (बुद्धदेव) नामक एक चीनी भी था जो कि ईसवी की दूसरी शताब्दी का प्रथम बौद्ध विद्वान था। न्गान-हिएन का वह सहयोगी था और उसने संस्कृत भाषा में मूल बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इसे सम्पूर्ण 'प्रतिमोक्ष' कण्ठस्थ था। अपनी विद्वता के कारण इसे आचार्य की उपाधि प्राप्त थी। इसी केन्द्र से सम्बन्धित एक और हिन्द-सीथी भिक्षु लोकक्षेम भी था। इन हिन्द-सीथी बौद्धों ने चीन धर्म में तथागत का संदेश पहुंचाया था जिसे न्गान-शे-काओ तथा उसके साथियों ने चीनी भाषा में उद्धत किया था। चीनी बौद्धों ने इसी केन्द्र में अध्ययन किया था। ईसवी की तीसरी और चौथी शताब्दी में कई और पार्थियन भिक्षु चीन गए और उन्होंने इस देश में बौद्ध धर्म के प्रसरण एवं धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद कार्य में पूर्णतया योगदान दिया।

सागडियाना

यह प्रान्त तुखारिस्तान से उत्तर में स्थित था और इसका प्रमुख केन्द्र समरकन्द था। इसका इतिहास बहुत प्राचीन है। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने सागडोई नाम से इसका उल्लेख अपनी पुस्तक 'हिस्टारिका' में किया है और दारयवुश के निहिस्तां लेख में इसे 'सुगुद' कहा गया है। यह ईरानी तथा उसके बाद यूनानियों के अधिकार में रहा। हेरोडोटस के मतानुसार इसके देश के निकटवर्ती देशों में जोरस्मिआई (Xorasmioi), उवरज़ामिया (Uvarzmiya), आरिओई (Areioi) अथवा हरैव, पारथोई (Parthoi), गन्दरिओई (Gandarioi), ददिक्षेई (Dadixai) स्थित थे। लेखों में निकटवर्ती देशों के निवासियों को पार्थिएन, आरिएन (Ariena), सागडिएन (Sogdian), जोरस्मिएन (Xorasmian), वैक्ट्रिएन, जरनकेस (Zarankes), शक तथा गन्धारिएन कहा है। अलेकजन्डर (सिकन्दर) के समय में यहां के निवासियों, जिनमें कुछ घुमन्तू, कुछ कृषक तथा व्यापारी और सार्थवाहक थे, का उत्तर तथा उत्तर-पूर्व निवासियों मसागेटाई (Massagetai), शकाई (Sakai) एवं स्कूथई (Scuthai) के साथ सम्बन्ध था। सागडियन भाषा भी सीथी, खोराज़मी

तथा अन्य निकटवर्ती निवासियों की बोलचाल की भाषा से भिन्न थी। सागडिएनों का भारत के साथ भी सम्बन्ध था तथा इनको भारतीय साहित्य में शुलिक के नाम से सम्बोधित किया गया है। इनका तुखारिस्तानियों (यूचियों) से भी सम्बन्ध था क्योंकि तोखारिस्तान पर अधिकार करने से पहले यूची सागडिएना में रहते थे। यहां पर बौद्ध धर्म का प्रवेश तुखारी भिक्षुओं द्वारा ही हुआ होगा। सागडिएन व्यापारियों ने भी स्वत: बौद्ध धर्म का प्रचार किया। मध्य एशिया के विभिन्न भागों में जाकर उन्होंने अपने छोटे-छोटे उपनिवेश स्थापित किए [13] और चीन के साथ भी उनकी मध्य एशिया में घनिष्टता होने लगी। फिर सागडिएनों ने चीन में जाकर तथागत के धर्म का प्रसरण किया और उनके नाम के आगे चीनियों ने 'कग' उपसर्ग का प्रयोग किया। वास्तव में सागडिएना का प्राचीन नाम कंग-क्यू था, इसीलिए 'कंग' उपसर्ग के लगाने से सागडिएनों का संकेत होता था। कुछ सागडिएन भिक्षुओं ने पार्थियन भिक्षु न्गान-शे-काओ के साथ भी सहयोग किया था। दक्षिण चीन में गये एक सागडिएन भिक्षु का नाम शेंग-हुई (Seng-hui) (संघमसि) था। उसके पूर्वज भारत के निवासी थे। उसका पिता एक व्यापारी था और उसके पर्यटन काल में टोंकिन (किआओ-चे-Kiao-che) में शेंग-हुई का जन्म हुआ था। यह घटना ईसवी की तृतीय शताब्दी के प्रथम चतुर्थ भाग की है। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् शेंग-हुई बौद्ध भिक्षु हो गया। वह नानकिंग गया जहां उसने एक विहार का निर्माण किया। दक्षिण चीन में बौद्ध धर्म के सर्वप्रथम प्रसरण का श्रेय इसी को है। शेंग-हुई ने बहुत से चीनियों को बौद्ध धर्म में दीक्षा दी तथा लगभग 12 पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिनमें कुछ उपलब्ध है।

पूर्वी तुर्किस्तान तथा दक्षिणी राज्य[14]

पूर्वी तुर्किस्तान तथा इससे सम्बन्धित राज्य राजनैतिक रूप में सदैव से अपना पृथक अस्तित्व बनाए हुए है। तारिम नदी के दक्षिण की अन्तर्ल भूमि में तीन सांस्कृतिक प्रदेश थे—काशगर तथा निकटवर्ती राज्य, खोतान और उसके निकटतम राज्य तथा लोवनोर का क्षेत्र। पामीर क्षेत्रीय स्थित दो राज्य किए-पन-टो (Kie-pan-to) (सारिकोले) तथा वु-श (Wu-sha) (यंगिहिसार) सांस्कृतिक दृष्टिकोण से काशगर के निकट थे क्योंकि इनकी भाषा और लिपि एक ही थी जो भारतीय ब्राह्मी लिपि पर आधारित थी। चीनी यात्रियों में सोंग-युन (Song-

yun) ने सर्वप्रथम सारिकोल का उल्लेख हो-पन-टो (Ho-pan-to) के नाम से किया है जहां खोतान से भारत जाते समय वह ठहरा था । य्वांग-यांग ने इसे किए-पन-टो कहा है । तांग वृतान्तों में इसके कई नाम मिलते हैं जैसे हो-पन-तो (Ho-pan-to), हन-तो (Han-to) इत्यादि। यह देश 2000 ली की परिधि में था तथा 20 ली के घेरे में इसकी राजधानी सीता नदी पर बसी थी। देश में कोई 10 संघाराम थे और जहां 500 बौद्ध भिक्षु रहते थे जो हीनयान-सरवास्तिवादिन मत के अनुयायी थे। यहां का शासक सत्यवादी तथा निष्ठावान व्यक्ति था। राज कुटुम्ब के लोग चीन के मध्य भाग के निवासियों से मिलते जुलते थे। कहा जाता है कि अशोक ने यहां पर एक स्तूप बनवाया था और बाद में कुमारलब्ध (टोंग-श्यू) के लिए एक संघाराम का निर्माण हुआ था तथा बुद्ध की एक विशाल मूर्ति भी स्थापित की गई थी। कुमारलब्ध तक्षशिला का निवासी था और बचपन काल में भी उसने गृह त्याग कर दिया था। वह बड़ी ही तीव्र बुद्धि का था और उसने अपनी विवाद शक्ति के कारण शीघ्र ही ख्याति प्राप्त कर ली थी। उसने बहुत से शास्त्रों की रचना की थी तथा वह सोत्रान्तिक बौद्ध विचारधारा का स्थापक था। चीनी यात्री ने उसके समकालीन बौद्ध विद्वानों में पूर्व में अश्वघोष, दक्षिण में देव, पश्छिम में नागार्जुन का उल्लेख किया है। उसका स्थान उत्तरी क्षेत्र में था। यहां के शासक ने कुमारलब्ध की कीर्ति सुनकर उसे अपने यहां लाने के लिए एक विशाल सेना लेकर तक्षशिला पर आक्रमण कर दिया। बल प्रयोग से बौद्ध विद्वान को यहां लाया गया और उसके लिए एक संघाराम का निर्माण किया गया। उसके रचित बौद्ध ग्रन्थों में केवल 'कल्पनामण्डितिका' जो अश्वघोष की 'सूत्रालंकार' से सम्बन्धित (पुनर्वृति) है, पूर्वी तुर्किस्तान से प्राप्त हुई।[15]

वु-श-उ-श (Och)

काशगर की ओर प्रस्थान करते हुए दूसरा राज्य उ-श था जिसकी दक्षिणी सीमा सीता अथवा यारकन्द नदी थी। शुंग-लिंग (पामीर) के पूर्वी ढाल पर यह स्थित था। चीनी यात्री य्वांग-यांग के मतानुसार 'यह कोई 1000 ली के घेरे में स्थित था तथा इसके मुख्य नगर की परिधि 10 ली थी। यहां के निवासी परिश्रमी, पर असभ्य थे। इनकी भाषा तथा लिपि किए-श (Kie-sha) की भांति थी। उनका बौद्ध धर्म में पूर्ण विश्वास था तथा वहां कोई 10 संघाराम

थे जिनमें 1000 भिक्षु रहते थे जो हीनयान के सरवास्तिवादिन मत को मानने वाले थे। यहां पर कोई शासक नहीं था पर यह किए-पन-टो के आधीन था। यहां से उत्तर में 500 ली की दूरी पर किए-श (Kie-sha) देश था जहां पहुँचने के लिए पहाड़ों तथा मरुस्थल मैदानों को पार करना पड़ता था। उ-श की समानता यंगि-हिसार से की गई है जो यारकन्द मरुद्यान के उत्तरी-पश्छिमी छोर पर था।

किए-श (Kie-sha) (काशग़र) :

इस राज्य का क्षेत्र 5000 ली था तथा प्राचीन काल में उत्तर तथा दक्षिणी तारिम नदी क्षेत्र में स्थित राज्यों के बीच सांस्कृतिक समागम में पूर्णतया अनुदान दिया। यहां से दो मार्ग चीन की ओर जाते थे। उत्तरी मार्ग कूचा तथा दक्षिणी मार्ग खोतान होकर चीन की पश्छिमी सीमा पर स्थित तुन-हुआंग तक अलग-अलग जाते थे। चीनी ऐतिहासिक ग्रन्थों में भी इस राज्य का उल्लेख विभिन्न नामों से मिलता है। हान काल से तांग काल तक इसे शु-लाई (Shu-lei) अथवा श-लाई (Sha-lei) नामों से सम्बोधित किया गया है। शोंग-युंग, कुमार-जीव, फयोंग (5वीं शताब्दी) तथा वु-कोंग (Wu-kong) (मध्य आटवीं शताब्दी) ने भी इसका इन्हीं नामों से उल्लेख किया है। चीनी यात्री य्वांग-यांग तथा उसके समकालीन व्यक्तियों ने इसका किए-श (Kie-sha) नाम दिया है। फाइयान ने इसे किए-च (Kie-cha) कहा है। सातवीं शताब्दी के एक संस्कृत-चीनी शब्दकोष में इसे 'हु' कहा है यद्यपि इसके स्थानीय नाम 'सुरि' अथवा 'सुलि' का उल्लेख है। भारतीय स्रोतों में इस देश को 'खश' अथवा 'खश्य' कहा है और 'ललितविस्तर' में यहां की लिपि को 'खश्यलिपि' का नाम दिया है। तालमी ने भी 'कासियाओरी' (Kasiaori) नाम से इसका उल्लेख किया है। तिब्बती इसे ग-जग और नीया के लेखों में कञ्जक नाम दिए हैं। कुछ तिब्वती ग्रन्थों में इसे 'कंजकी' भी कहा है। इसका इतिहास भी रोचक है।

हान वृतान्तों के आधार पर तुखारिस्तान में रहने वाले साई अथवा शक लोगों का पहले सु-ले (काशगर) पर अधिकार था और इसके साथ उत्तर-पश्चिम में स्थित और राज्य भोशकों के अधीन थे। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में काशगर चीन का रक्षित राज्य हो गया। इसके बाद खोतान के शासकों ने इस पर अधिकार कर लिया जिनका कदाचित् कुषाणों से सम्बन्ध था।[16] इसके बाद ईसवी की प्रथम शताब्दी में पान-याओ के अधीक्षण में चीनियों ने पुनः इसपर अधिकार

कर लिया। दूसरी शताब्दी में कुषाणों ने फिर इसको अपने अधीन कर लिया और काशगर के शासक आन-कुओ (An-kuo) को अपने दो पुत्र बन्दी के रूप में कुषाण शासक को देने पड़े। यह बन्दी शीतकाल में पंजाब में रहते थे और गर्मी में उनका निवास कश्मीर में था। कापिश में इनके लिए निर्मित विहार का नाम श-लो-किअ (Sha-lo-kia) अथवा शरक था जो कदाचित् श-लाई अथवा शरक से मिलता जुलता है। कहा जाता है कि लगभग 114–120 काल में कुषाण सम्राट कदाचित् कनिष्क ने आन-कुओं को हराकर चेन-पान को वहां का शासक बनाया। इसके बाद के समय का काशगर का इतिहास नहीं मिलता है जबकि यह खोतान राज्य का एक अंग था। 452–466 ई० में यहां से एक राजदूत बुद्ध जी के पवित्र अवशेष और संघारी लेकर चीन गया था। छठवीं शताब्दी के आरम्भ में काशगर हेफताली शासकों के आधीन था और उनके साम्राज्य के नष्ट होने पर 563–567 के काल में यह तुर्कों के आधीन हो गया पर इसे अपने स्वतः शासन करने की छूट थी।

चीन में तांग वंश की स्थापना के बाद तारिम की अन्तरल भूमि पर चीनियों के अधिकार का प्रयास पुनः आरम्भ होता है। 658 ई० में तुर्कों की पराजय के बाद चीनियों ने पूर्वी तुर्किस्तान पर पुनः अधिकार कर लिया, पर एक शताब्दी के अन्दर ही उन्हें फिर पराजय का मुख देखना पड़ा। तिब्बतियों के साथ 662 ई० से एक लम्बा युद्ध आरम्भ हुआ और आठवीं शताब्दी के आरम्भ में अरबों ने भी इसमें प्रवेश कर 751 में चीनियों को पूर्ण रूप से पराजित किया। थोड़े समय तक उनका कुछ क्षेत्रों पर अधिकार बना रहा, पर 791 में सभी स्थानों से उनको हटना पड़ा। काशगर के स्थानीय इतिहास के बारे में तांग वृतान्तों से भी कुछ जानकारी प्राप्त होती है। उस समय के राजवंश का नाम 'पाई' (Pei) था और 728 में यहां का शासक पाई-न्गान-चे (Pei-ngan-che) था। राजवंशीय नाम का प्रयोग एक राजदूत पाई-कुओ-लिएंग (Pei-kvo-liang), जो 753 में चीन गया था, तथा एक अन्य शासक पाई-लेंग-लेंग (Pei-Leng-leng) (786 ई०) के लिए भी किया गया था। हो सकता है कि राजदूत भी कोई राजकुमार रहा हो, इसीलिए उसके नाम के पहले वंश का उपसर्ग जोड़ दिया गया हो। काशगर के शासकों को खोतान के शासकों की भांति अ-मो-चे (अमच्च)—अमात्य उपाधि से भी सम्बोधित किया है।

तारिम नदी क्षेत्र में स्थित अन्य देशों की भांति काशगर में भी ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था। खोतान के कुछ भागों में ईसवी की तृतीय शताब्दी तक खरोष्टी का भी प्रयोग होता था और हो सकता है कि पहले काशगर में भी खरोष्टी का प्रचलन हो और 4–5वीं शताब्दी में इसके लुप्त होने पर वहां ब्राह्मी का ही प्रयोग होने लगा। यहां की भाषा के विषय में यह कहा जा सकता है कि सम्भवत: यह पूर्वी ईरानी की उप-भाषा रही होगी, जिसे शक भाषा भी कहा जाता है तथा उस पर भारतीय प्रभाव बौद्ध धर्म के कारण हुआ होगा। यहां के शासक की उपाधि अ-मो-चे (अमाच्च) वास्तव में संस्कृत 'अमात्य' और प्राकृत 'अमच्च' का ही रूप होगा। इसी प्रकार संस्कृत 'उपाध्याय' को भी 'ओझा' एवं 'उझो' के रूप में काशगर और खोतान में अपना लिया गया। अत: बौद्ध धर्म के प्रवेश के साथ-साथ स्थानीय भाषाओं को भी संस्कृत शब्दों का अनुदान मिला। बौद्ध धर्म के प्रसरण में भी काशगर का अपना स्थान था। ईसवी की चौथी शताब्दी में फाइयान ने यहां बौद्ध धर्म को समृद्धि दशा में पाया। यहां पर एक स्तूप में बुद्ध जी के कुछ अवशेष भी सुरक्षित रखे थे। काशगर में उस समय 2000 बौद्ध भिक्षु थे जो सरवास्तिवादिन बौद्ध शाखा के अनुयायी थे और धर्म का नियमित रूप से पालन करते थे। इस चीनी यात्री के आवास काल में शासक द्वारा बुलाई गई पंचवर्षीय सभा भी हुई थी जिसमें दूर-दूर से बौद्ध भिक्षु और विद्वान आमंत्रित किए गए थे। यह सभा सात दिन चली और शासक तथा मंत्रियों ने भाग लिया तथा बौद्ध भिक्षुओं को दान, भेंट इत्यादि भी दीं। फाइयान के इस वृतान्त की पुष्टि थोड़े समय बाद में वहां गए हुए अन्य चीनी यात्रियों जैसे चे-मोंग (Che-mong) (404), फ-योंग (Fa-yong) तथा ताओ-यो (Tao-yo) (420) ने भी की। चीनी यात्री य्वांग-यांग ने यहां पर बौद्ध धर्म के विषय में विस्तृत वृतान्त दिया है। उसके अनुसार यहां सैकड़ों संघाराम थे तथा कोई 10,000 बौद्ध भिक्षु थे जो सरवास्तिवादिन मत के अनुयायी थे और उनमें से बहुतों को तीनों 'पिटक' और 'विभाषा' (पि-पो-षा) सम्पूर्ण रूप से कंठस्थ थी। बौद्ध साहित्य संस्कृत में था और वहां के बौद्ध विद्वान इसका गंभीर रूप से अध्ययन करते थे। यातायात के मार्ग पर होने के कारण काशगर होकर ही चीनी यात्री भारत आते जाते थे। अन्तिम यात्री वू-कोंग (Wu-kong) था जो यहां से होकर चीन लौटा था।

भारत से भी विद्वान काशगर जाते थे। प्रसिद्ध कूची विद्वान कुमारजीव[17]

जिसका पिता भारतीय था, कश्मीर में अपनी शिक्षा समापन कर यहां आकर एक वर्ष ठहरा था। उसने यहां सरवास्तिवाद बौद्ध धर्म शाखा के अधिधर्म का स्थानीय विद्वानों की सहायता से अध्ययन किया था। इनके अतिरिक्त कुमारजीव ने चारों वेदों, पांच विज्ञानों तथा ब्राह्मण शास्त्रों और नक्षत्र विद्या का अध्ययन किया था। इससे प्रतीत होता है कि बौद्ध साहित्य तथा धार्मिक ग्रन्थों के साथ-साथ काशगर ब्राह्मण विद्या का भी केन्द्र था। कुमारजीव की विद्वता के कारण हि-किएन (Hi-kien) नामक एक त्रिपिटक विद्वान ने वहां के शासक से निवेदन किया कि वह इस कूचा के विद्वान का वहां स्थायी रूप से रहने के लिए आग्रह करें। यह सम्भव न हो सका क्योंकि अपने जन्म स्थान कूचा की ओर से उसे वापस आने का दबाव पड़ा और वह वहां अधिक काल तक नहीं ठहर सका। कुमारजीव ने घर लौटने से पहिले सूर्यभद्र तथा सूर्यसोम नामक दो राजकुमारों को बौद्ध धर्म में दीक्षा दी। यह दोनों सो-क्यू (कर्घलिक-यारकन्द) के शासक के पुत्र थे। कुमारजीव के काशगर में प्रवास काल में कश्मीर से बुद्धयश नामक एक भारतीय विद्वान वहां गया था। इन दोनों में घनिष्ट मित्रता थी और इन्होंने कुमारजीव के अध्ययन में भी अपना अनुदान दिया। काशगर से कुमारजीव के प्रस्थान के बाद भी बुद्धयश यहां रहा तथा स्थानीय शासक पर अपना प्रभाव रखा। कहते हैं कि 3000 बौद्ध भिक्षुओं की सभा (कदाचित् पंचवार्षिक) में पु-टु नामक शासक पहली बार इस विद्वान से मिला था। उसका पुत्र ता-मो-फो-तो (Ta-mo-fo-to) (धर्मपुत्र) इस विद्वान से बहुत ही प्रभावित हुआ और उसे अपने प्रासाद में रहने के लिए आमंत्रित किया। 382 में कूचा पर चीनी आक्रमण के समय बुद्धयश के अनुग्रह पर काशगर की ओर से एक सहायक सेना भेजी गई और यह बौद्ध विद्वान भी इसके साथ गया। इस सेना के पहुंचने के पहले ही कूचा का पतन हो चुका था। बुधयश और कुमारजीव पुनः चीन में मिले और उन दोनों ने मिलकर बौद्ध ग्रन्थों की रचना की तथा चीनी भाषा में अनुवाद के कार्य में अपना सामूहिक अनुदान दिया। इनके अतिरिक्त काशगर में धर्मचन्द्र नामक एक अन्य विद्वान भी था। यह मगध का एक बौद्ध भिक्षु था और 730 में चीनी राजदूत के आग्रह पर कूचा से चीन गया था। 741 में वहां से लौटते समय कई देशों में होते हुए वह काशगर पहुंचा। यहां से आगे शुघनन की बिगड़ती राजनैतिक परिस्थिति के कारण उसे काशगर वापस आना पड़ा और यहीं पर दो वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई। काशगर में बौद्ध धर्म की

समृद्धि का संकेत बहुत से स्तूपों से लगता है जो आज भी निकट में मिलते हैं।

चे-क्यू-क (Che-kiu-ka)

काशगर से दक्षिण-पूर्व की ओर प्रस्थान करते हुए सीता (यारकन्द) नदी को पारकर चे-क्यू-क का प्राचीन देश था। यह खोतान राज्य के आधीन था और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी दोनों में समानता थी। युवांग-यांग के मतानुसार यह राज्य कोई 1000 ली के घेरे में था और इसकी राजधानी का क्षेत्र 10 ली था। पर्वतों से घिरे इस राज्य की सीमाएं दो नदियों तक विस्तृत थीं। यह दोनों कदाचित् यारकन्द और खोतान थीं। यहां पर वर्ष भर शीत वायु चलती थी। यहां के निवासी झूटे और चालाक थे और दिन-दहाड़े लूटते थे। इनकी लिखावट, खोतान की लिपि से मिलती जुलती थी पर बोलचाल की भाषा भिन्न थी। बौद्ध धर्म में इनका अटूट विश्वास था एवं बुद्ध, धर्म और संघ में पूर्ण आस्था थी। यहां पर बहुत से संघाराम थे पर यह सब उस समय जीर्ण दशा में थे। कई सौ भिक्षु महायान मत के अनुयायी थे। यहां के उन दो राजकुमारों—सूर्यभद्र और सूर्यसोम—जिन्होंने कुमारजीव से दीक्षा ली थी, के नामों से प्रतीत होता है कि यहां का राजवंश भारतीय था जिसकी स्थापना बहुत पहले हुई थी। इस देश का नाम चोक्कुक था जैसाकि मध्य एशिया से प्राप्त लेखों से ज्ञात होता है। चीनी स्रोतों के अनुसार इसका नाम चो-क्यू-किअ अथवा चु-कु-पन था और तिव्वती ग्रन्थों में भी यही नाम मिलता है। हां, इसके कुछ और पुराने चीनी नाम भी हैं जैसे त्सेउ-हो (Tseu-ho), त्सु-कु (Tsu-Ku), सो-क्यू (Su-Kiu)। चोक्कुक की समानता कारघहलिक-यारकन्द से की गई है।

खोतान[18]

मध्य एशिया के दक्षिणी क्षेत्र में स्थित खोतान राजनैतिक दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यातायात के मार्ग पर स्थित होने के कारण इसके व्यापारिक दृष्टिकोण से अपना स्थान था। इसके इतिहास पर चीनी, तिब्बती स्रोतों के अतिरिक्त पुरातात्विक उत्खनन से प्राप्त अवशेष भी प्रकाश डालते हैं तथा यहां से प्राप्त खरोष्टी अभिलेख भी इस प्रयास में सहायक है। इसके प्राचीन नाम यु-तुन (Yu-tun), क्यू-तन (Kiu-tan), हुओ-तन (Huo-tan); तथा क्यू-स-त-न (Kiu-sa-ta-na) मिलते हैं। खरोष्टी अभिलेखों में इसका

नाम कुस्तन, खोतन, खोदन और खोदम्न है। कदाचित् इसका मूल नाम गोदन अथवा खोतन रहा होगा। बौद्ध साहित्य में इसका 'गोदान' नामकरण किया गया है। तिब्बती स्रोतों के अनुसार इस देश को ली-चुल अथवा ली और उसकी राजधानी को यू-थेन (U-then) कहा जाता था। किसी अन्य स्रोत में ली नाम नहीं मिलता है पर वर्तमान खोतान का नाम इल्मी रहा होगा। खोतान का लगभग 1256 वर्ष का इतिहास तिब्बती अनुवाद ग्रन्थों[18] में मिलता है पर मूल ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गए थे। यह इतिहास राज्य की स्थापना से बौद्ध धर्म के नष्ट होने के समय तक का मिलता है। इस राज्य के स्थापन का श्रेय अशोक के एक पुत्र को दिया गया है। कहा जाता है कि बौद्ध स्थानों की खोज में अशोक यहां आया था और वहीं पर उसकी महिषी ने एक पुत्र को जन्म दिया। ज्योतिषियों ने भविष्यवाणी की कि पिता की मृत्यु के बाद यह बालक उसका उत्तराधिकारी होगा। इसको अपशगुन मानकर सम्राट ने उस बालक को वहीं पर त्याग दिया और पृथ्वी पर स्वतः पलने के कारण उसका नाम कु-स्तन पड़ा। इस बच्चे को चीन के शासक शिन-शे-हुआंग-टी (Tsin-she-huang-ti) ने गोद ले लिया। बाद में वह अपने पिता से लड़कर 10,000 सैनिक लेकर खोतान आया। लगभग उसी समय अशोक का यश नामक एक अमात्य बहिष्कृत होकर 7000 चरों के साथ खोतान आया। दोनों के अनुयायियों में संघर्ष हुआ। पर अन्त में देवि प्रेरणा से दोनों ने समझौता कर लिया। एक राज्य की स्थापना हुई और कु-स्तन उसका शासक तथा यश उसका मंत्री हुआ। इस प्रकार खोतान चीन और भारतीय संस्कृति का समागम राजनैतिक समझौते के फलस्वरूप हुआ। तिब्बती वृतान्तों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि खोतान नदी के पश्चिम का भाग चीनियों के प्रभाव में था और पूर्वी भाग भारतीयों के अधिकृत में था तथा खोतान और यारकन्द नदियों के बीच के भाग पर भारतीय-चीनी सम्मिलित अधिकार था, जैसा कि यश और उसके भारतीय मंत्री द्वारा स्थापित राज्य से प्रतीत होता है। इस राज्य के तीन भाग थे—चीनी भाग जो पश्छिम में था, में दो प्रान्त कोन्-सेद (Kon-sed) और क्यू-सेद (Ku-sed) थे, बीच के क्षेत्र में संयुक्त राज्य था, तथा भारतीय क्षेत्र में स्कम-सेद (Skam-sed) था। यह ज्ञात होता है कि चीनी पश्चिम की ओर से आए और भारतीय पूर्व में करा-कोरम दर्रे से आये।

कहा जाता है कि खोतान राज्य की स्थापना बुद्ध जी के निर्वाण से 234

वर्ष बाद लगभग ईसा पूर्व 240 में हुई। खोतानी वृतान्तों के अनुसार यहां 56 राजाओं ने राज्य किया। वंश स्थापक कुस्तन का पौत्र विजयसम्भव था और उसके बाद जितने भी शासक हुए उन सबका नाम विजय से आरम्भ होता है जैसे विजयवीर्य, विजयजय, विजयधर्म, विजयसिंह, विजयकीर्ति, विजयसंग्राम, विजयबल, विजयविक्रम इत्यादि। इनमें से बहुतों ने बौद्ध स्मारकों का निर्माण कराया था। विजयसम्भव के समय में यहां बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ था। मैत्रेय का अवतार भिक्षु आर्य वेरोचन यहां आया था और त्सर-म (Tsar-ma) क्षेत्र में त्सु-ले नामक स्थान में वह ठहरा था। यहां उसकी शासक से भेंट हुई और यह मित्रता में परिणित हो गई और उसे कल्याणमित्र कहा गया है। सर्व-प्रथम खोतान में विजयसम्भव ने त्सर-म के विस्तृत विहार का निर्माण वेरोचन के लिए करवाया। यह बौद्ध भिक्षु कश्मीर से बुद्ध जी के कुछ अवशेष भी लाया था। इस कथा का उल्लेख-सोंग-युन और य्वांग-चांग ने विस्तृत रूप से किया है। उनके कथनानुसार वेरोचन कश्मीर से खोतान गया था। तिब्बती वृतान्तों के अनुसार इस निर्माण कार्य की तिथि ई0 पू0 211 है। चीनी स्रोतों के अनुसार विहार के साथ साथ एक स्तूप का भी निर्माण हुआ था जो 'उल्टे वृतान्तों के अनुसार इस निर्माण कार्य की तिथि ई0 पू0 211 है। चीनी स्रोतों के अनुसार विहार के साथ साथ एक स्तूप का भी निर्माण हुआ था जो 'उल्टे भिक्षुपात्र आकार' के नाम से प्रसिद्ध था क्योंकि भिक्षु के अनुसार यही स्तूप का आकार था। सोग-युंग ने विहार का नाम त्सन-मो (Tsan-mo) दिया है जिसकी समानता तिब्बती त्सर्म (Tsarma) से की जाती है। स्टाइन ने इस प्राचीन विहार स्थान का अभिज्ञान योतकन के निकट यलमा-कज़ान से की है जहां पर उत्खनन में कुछ मिट्टी के खिलौने, टूटी मूर्तियां तथा अन्य प्राचीन वस्तुएं भी मिलीं।

तिब्बती वृतान्तों में बाद के शासकों द्वारा अन्य विहारों के निर्माण का भी उल्लेख किया है। त्सर्म विहार के निर्माण से आठ पीढ़ी लगभग दो शताब्दी बाद बुद्धदूत, खगत और खगद्रोद नामक तीन अरहत भारत से आकर आर्य स्थान में बस गए। यह हगे-उ-तो-सन (Hge-u-to-san) में था। विजयवीर्य ने इनके लिए दो विहारों का निर्माण करवाया—एक का नाम हगुम्तीर (Hgumtir) गोमती था और दूसरे का नाम हगे-यू-तो-सन (Hge-u-to-san) था जो गोशिर्ष पहाड़ी पर स्थित था। तीन पीढ़ियों बाद खोतान शासक विजयसिंह की पत्नी

चीनी कुमारी पुनेश्वर ने दो अन्य विहारों का निर्माण भारत से आए हुए कल्याणमित्र आर्य संघघोष के लिए करवाया। इनके नाम पोतर्य और मज थे। विजयसिंहे का ज्येष्ठ पुत्र धर्मानन्द बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर भिक्षु हो गया और फिर वहां से वह भारत आया। वह बौद्ध धर्म के महासांघिक मत का अनुयायी था और उसने इसी मत के भिक्षुओं के लिए हद्रोतिर (Hydrotir) में आठ और काम-सेद में आठ अन्य विहारों का निर्माण करवाया। इसके बाद क्रमशः बौद्ध विहारों का निर्माण कार्य जारी रहा। तिब्बती वृतान्तों के अनुसार बौद्ध काल के अन्त तक इनकी संख्या 68 तक हो गई थी। इसके अतिरिक्त कोई 95 मध्य वर्ग और 148 छोटे विहार भी थे। निम्न चैत्यों की संख्या तो 3688 थी।

खोतान में बौद्ध धर्म की समृद्धि का वृतान्त चीनी यात्री य्वांग-चांग ने विस्तृत रूप से किया है। उसके अनुसार इस देश की परिधि 4000 ली थी जिसके अधिकतर भाग में बालूई और पथरीली भूमि थी। बाकी स्थान में खती होती थी। यहां के निवासी सीधे और सच्चे थे तथा दूसरों का आदर करते थे। उनकी साहित्य और कला में रुचि थी तथा इस क्षेत्र में उनका अनुदान भी था। गायन, वादन तथा नृत्य से भी उनका लगाव था और इनके जीवन में नागरिकता की झलक थी। उनकी लिखावट और बोलने का ढंग भारतीय आधार पर था यद्यपि अक्षरों में कहीं-कहीं पर थोड़ी सी भिन्नता थी। वे बौद्ध धर्म का बड़ा आदर करते थे। वहां कोई 100 संघाराम थे जिनमें कोई 5000 बौद्ध भिक्षु रहते थे और महायान विचारधारा के अनुयायी थे। यहां का शासक धैर्यवान तथा वीर था और बौद्ध धर्म के प्रति उसकी आस्था थी। वह अपने को पी-शि-मेन (Pi-Shi-men) वैश्रवणदेव का वंशज मानता था जो आदिकाल में यहां आये थे। अपने ज्येष्ठ पुत्र की तक्षशिला में आंख निकलवाने के आक्रोश में अशोक ने वहां रहने वाली जातियों के मुखियों को उत्तर की ओर बहिष्कृत कर दिया। इन देश बहिष्कृत व्यक्तियों ने इस राज्य की पश्चिछमी सीमा पर पहुंच कर अपनी एक जाति के प्रमुख को अपना राजा चुना। इधर पूर्वी ओर से शासक का पुत्र (कदाचित् कोई चीनी कुमार) ने आकर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। अतः दोनों में संघर्ष होना स्वाभाविक था। पूर्वी शासक ने तक्षशिला के आर्य व्यक्तियों को हरा दिया और उनके मुखिया को मार डाला। इसके बाद दोनों राज्य एक में मिल गए और राजधानी पूर्वी क्षेत्र से हटाकर मध्य क्षेत्र

में लाई गई तथा उसकी रक्षा के लिए नगर परिखा बनवाई गई। शासक और उसके वंश की रक्षा तथा परम्परा हेतु वैश्रवणदेव के मन्दिर की स्थापना की गई युवांग-चांग के समय में भी यह मन्दिर मौजूद था। राजधानी से 10 ली की दूरी पर एक बड़ा संघाराम था जिसे इसी वंश के किसी शासक ने पहले बनवाया था। यह कश्मीर से आये किसी अरहत के सम्मान हेतु बनवाया गया था। नगर से 20 ली की दूरी पर गो-श्रंग (क्यू-शि-लिंग-किअ–Kiu-shi-ling-kia) पहाड़ी के अन्तरल में एक संघाराम बनवाया जिसमें बुद्ध जी की एक मूर्ति थी। नगर के दक्षिण-पश्छिम में 10 ली की दूरी पर एक और विहार था जिसका नाम ति-को-पो-फ-न (Ti-ko-po-fa-na) (दीर्घभवन) था जिसमें बुद्ध जी की एक खड़ी मूर्ति थी जो अज्ञात रूप से खोतान में आई थी। कदाचित यहीं तिब्बती वृतान्तों में उल्लिखित हूगुम-तिर की भ-व-न रही हो। स्टाइन ने इसे वोआ-कम्बर में रखा है। श-मो-नो अथवा श-मो-जो विहार बड़ा प्रसिद्ध था और इसका स्तूप कोई 100 फुट ऊंचा था। इसकी समानता तिब्ती वृतान्तों के शुम-न-से की जाती है जिसका निर्माण विजयसिंह ने काशगर के शासक आनन्दसेन के लिए किया था जिसन खोतान से पराजित होकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। इसके खंडहर योतकन के निकट सोमिय गांव में मिले हैं। मो-शे विहार, जिसका निर्माण विजयसिंह की चीनी पत्नी ने किया था, की समानता मजा से की गई है और इसके खंडहर कुम-ई-शहीदब में पाये गए हैं।

बौद्ध धर्म और संस्कृति का प्रमुख केन्द्र गोमती विहार था जिसका वर्णन फाइयान ने भी किया है। यहां 3000 बौद्ध भिक्षु रहते थे। उनके भिक्षु पात्र तथा भोजन पात्र से किसी प्रकार का शब्द नहीं निकलता था वरन् भोजन करते समय केवल हाथ से संकेत करते थे। यहां के सभी भिक्षु महायान मत के अनुयायी थे तथा शासक उनका बड़ा आदर करते थे। गोश्रंग अथवा गोशीर्ष विहार के विषय में कहा जाता है कि यहां पर बुद्ध जी स्वयं आये थे। यहां के भिक्षु भी महायान विचारधारा के अनुयायी थे। इसका उल्लेख एक बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ 'सूर्य गमीसूत्र' में भी मिलता है जिसका अनुवाद 589–619 के बीच चीनी भाषा में हुआ था। इसके स्तूप का नाम 'गोमसाल गन्ध' (क्यू-मो-सो-लो-हसिएंग–Kiu-mo-so-lo-hsing) था जो गोशीर्ष पहाड़ी पर खोतान नदी के किनारे बना था। इसे करा-कश नदी के किनारे कोहमरी पहाड़ी पर रखा गया

है। यहीं से 'धम्मपद' के अंशों का खरोष्टी में हस्तलिखित ग्रन्थ पाया गया। यह प्राकृत में है। इसे 1890 में फ्रांसीसी अन्वेषणकारों ने प्राप्त किया था।

खोतान का इतिहास[19]

चीनी वृतान्तों से खोतान के इतिहास की बहुत कुछ जानकारी प्राप्त होती है। यह तिब्बती स्रोतों से प्राप्त इतिहास ज्ञान का पुष्टि करते हैं। खोतान में भारतीय वंशीय विजय राज्य था और उसके शासकों ने बहुत समय तक यहां राज्य किया। चीनियों ने समय समय पर आक्रमण किया पर विजयवंशीय स्थानीय राज्य परम्परा में हस्तक्षेप नहीं किया और उन्हें राज्य करने दिया। खोतान से राजदूत चीन भेजे जाने लगे। पहला दूत सम्राट वू-टी के राज्यकाल (140–87 ई0 पू0) में खोतान से गया था। उस समय खोतान एक छोटा-सा राज्य था और उसकी जनसंख्या 20,000 से कम था। उसके निकट अन्य छोटे छोटे राज्य थे। चीनी वृतान्तों के अनुसार ईसवी की प्रथम शताब्दी के दूसरे चतुर्थ भाग में यह सो-क्यू (So-Kiu) (चोक्कुक) का अंग बन गया। ईसवी के 58–73 काल में एक खोतानी सेनापति ह्स्यू-मो-पो (Hsiu-mo-po) ने विद्रोह कर खोतान को पुनः स्वतंत्र बनाया। उसके भतीजे और उत्तराधिकारी कुआंग-ते (Kuang-te) ने चोक्कुक को जीतकर खोतान को पुनः शक्तिशाली राज्य बनाया और उत्तर-पच्छिम के सभी राज्यों ने खोतान का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। तिब्बती वृतान्त के अनुसार खोतान का युद्ध चोक्कुक के विरुद्ध न होकर काशगर से हुआ था। 16वें शासक विजयसिंह के राज्यकाल में खोतान पर म-ज़ग (काशगर) के शासक ने आक्रमण किया पर उसकी हार हुई। उसे पहले बन्दी बनाया गया और कुछ समय बाद मुक्त कर दिया गया। काशगर लौटने पर वह बौद्ध भिक्षु हो गया और फिर खोतान के एक विहार में उसने शरण ली। खोतान के शासक ने उसका नाम आनन्दसेन रखा तथा उसके लिए एक विहार श-मो-नो का निर्माण करवाया। खोतान के इस शासक को चीनी वृतान्तों में कुआन-ते (Kuan-te) कहा है। चीनी सेनापति पान-माओ के 73 ई0 में आक्रमण के समय में इस खोतान शासक ने भी भाग लिया होगा। चीनियों के साथ उसने हूणों का भी विरोध किया था। यह प्रतीत होता है कि उसने चीनी सम्राट का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, पर थोड़े समय बाद चीनियों का प्रभाव कम हो गया और कुषाण सम्राट कनिष्क ने यहां आक्रमण कर इसे अपने आधिपत्य में रखा।

यहां के दो राजकुमार बन्दी के रूप में कनिष्क भारत ले गया। तिब्बती ग्रन्थ ली-युल-ग्यी (Li-Yul-gi) के अनुसार विजयसिंह के पुत्र खोतान शासक विजय-कीर्ति तथा ग-हजग की पुत्री ली-ग्यंस-पर ने गुजन शासक कनिक (कनिष्क) के साथ भारत पर आक्रमग किया और यहां के एक नगर सोकेद (साकेत) पर विजय प्राप्त की। 'कल्पनामण्डटीक' के चीनी अनुवाद के अनुसार क्यू-श वंश में चेन्टन-किअ-नि-च नामक एक शासक हुआ। उसने तुंग-तिएन-छू (पूर्वी भारत) पर आक्रमग किया और उसको जीता। उसकी शक्ति का प्रभाव दूर तक फैला तथा उसका भाग्य पूर्णतया सिकसित हो गया। उसके बाद वह अपने राज्य वापस आ गया। इससे यह प्रतीत होता है कि कनिष्क ने खोतान पर अधिकार कर लिया था और भारत जीतने के बाद वह पुनः खोतान चला गया था।

129 ई० में खोतान के शासक फांग-किएन (Fang-Kien) ने यू-मी (क्यू-मी-केरिय) के शासक को मारकर उसका राज्य अपने पुत्र को दे दिया। इसका बदला 151–152 में यू-मी के मृतक शासक के सम्बन्धी ने कि-एन को मारकर लिया। खोतान में एक विद्रोह हो गया जिसका नेता स्थानीय राज्यपाल शु-पो (Shu-po) था। कि-एन का पुत्र न्गन-कुओ (Ngan-Kuo) को वहां का शासक बनाया गया। यद्यपि इस विद्रोह में चीनी सेनाध्यक्ष मार डाला गया था पर चीनियों ने इसका प्रतिरोध नहीं किया। 202 से 220 के काल में खोतान से कई राजदूत चीन गए पर हान वंश के पतन के बाद खोतान फिर शक्तिशाली हो गया और उसने यू-मी (केरीय), शू-ले (काशगर) और मुंग-लू पर 220–264 तक अपना अधिकार रखा। खोतान की ओर से 222 में एक और दूत चीन भेजा गया।

445 में तू-युक-हुन (Tu-Yuk-hun) के प्रधान मु-ली-एन (Mu-li-yen) ने खोतान पर आक्रमग किया और यहां के शासक का बध कर दिया। तिब्बती वृतान्तो में इस घटना का उल्लेख है जिसमें तू-युक-हुन को द्रुग-गु (Drug-gu) कहा है। विजय-संग्राम के राज्यकाल में खोतान पर आ-नो-सो (A-no-so) ने आक्रमग किया था जो द्रुग-गु का प्रधान था। देश को विध्वंस किया गया तथा बौद्ध विहारों को नष्ट किया गया। विजय संग्राम उस समय अवयस्क था। बड़े होने पर उसने तू-युक-हुन के विरुद्ध उसी प्रकार प्रतिरोध किया। खोतान पुनः अपनी खोई हुई प्रतिभा प्राप्त कर सका और 541–542

में पुनः चीन में राजदूत भेजे गए यद्यपि इसको हेफताली आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा था।

चीनी वृतान्तों से भी खोतान के इतिहास का ज्ञान प्राप्त होता है। इनके आधार पर सुई वंश (581–618) के काल में खोतान का शासक वांग (Wang) कहलाता था और उसकी उपाधि वाई-चे (Wei-che)-विजया) थी। उन्हीं चीनी वृतान्तों में खोतान के कुछ शासकों के नाम तथा उनकी उपाधि 'विजय' का भी उल्लेख है। जिस शासक ने 632 में चीन दूत भेजा था तथा उसके पुत्र को 635 में चीनी प्रासाद सेना में भर्ती किया गया था, उसका नाम बु-मि था। 633–649 के काल में खोतान का शासक फु-टु-सिन (Fu-tu-sin) था जो स्वयं चीन गया था। इसके बाद 674–75 में यहीं का नृप फु-टु-हिआंग (Fu.tu-Hiong) अपने पुत्र, कनिष्ठ भ्राताओं तथा उच्च प्रशासनाधिकारियों के साथ चीन गया। फु-टु-हिआंग का उत्तराधिकारी फु-टु-किंग (Fu-tu-king) था तथा उसके बाद फु-शे-चन (Fu-she-chan) वहां का शासक हुआ। इसे विजय-फू-शे कहा गया है। इसके बाद क्रमशः फू-टु-कोई (Fu-tu-koei) और उसके बाद फु-टु-शेंग हुआ जो 756–57 में अपनी सेनासहित चीन गया। वहीं पर उसकी मृत्यु हो गई। उस समय उसका भाई विजय-याओ खोतान में राज्य कर रहा था। 786 तक उसने राज्य किया और उसके समय में फू-कोंग वहां आया था। 691 में खोतान पर चीनी आधिपत्य समाप्त हो गया। उसके बाद का इतिहास नहीं मिलता है। कभी-कभी खोतान की ओर से राजदूत चीन भेजे गए। एक खोतानी शासक ली-शेंग-टिएन (Li-sheng-tien) ने 940–966 के बीच कई राजदूत वहां भेजे। इसके बाद का इतिहास खोतान और अरबों के बीच संघर्ष की कहानी है। खोतानियों ने आक्रमणकारी अरबों का बहुत दिनों तक मुकाबला किया पर अन्त में उनकी स्वतंत्रता नष्ट हो गई।

खोतान राज्य अपने उत्कर्ष के समय पूर्व में नि-जंग (वर्तमान नीया) से सो-क्यू (चोक्कुक) तक विस्तृत था। इसमें क्रमशः आरम्भ में पांच राज्य सम्मिलित थे—जोंग-लू (Jong-lu), यू-मी (Yu-mi), क्यू-ले (Kiu-le), पी-शन (Pi-shan) तथा यू-टिएन (Yu-tien) या खोतान। बाद के इतिहास में छः राज्यों के उल्लेख मिलते हैं। यह थे—इल्ची (वर्तमान खोतान), यूरुंग कश (Yurung Kash), करकश (Karakash), चीर (Chira),

केरीय (Keriya) और लो-ल-शुंग (Lo-la-sung)। पूर्व में इसमें पी-मो तथा नी-जंग सम्मिलित थे जिनका उल्लेख चीनी यात्री युवांग-चांग ने भी किया है। खोतान में अन्वेषण तथा उत्खनन से इस राज्य की प्राचीन राजधानी का पता चलता है। चीनी वृतान्तों के अनुसार यह युरुंग-कश और करकश नदियों के बीच में स्थित थी। राजधानी से गोअंग विहार कोई 20 ली की दूरी पर था। इनके आधार पर प्राचीन राजधानी का चिन्हीकरण योतकन ग्राम से किया गया है। यहां से उत्खनन में बहुत से प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। स्टाइन ने जो पदार्थ प्राप्त किए उनमें मुख्तया गंधार कला से सम्बन्धित शिल्प कला के प्रतीक मिलते हैं। यूनानी-बौद्ध कला का प्रभाव मिट्टी के खिलौने के अंश, बुद्ध के भिक्षु पात्र, तथा स्तूप परिधि (raling) और हिन्द-कोरिन्थी स्तम्भ (Indo-Coriathian Columns) से प्रतीत होता है जो उनके गांधार से सम्बन्धित होने का प्रतीक है। इनके अतिरिक्त ,फूल पत्तियों द्वारा अलंकरण भी इसकी पुष्टि करता है। मिटटी के खिलौनों की नाक की आकृति उनके आर्यों के वंशज होने का द्योतक है। इन आधार पर यह प्रतीत होता है कि गांधार क्षेत्र से यहां भारतीय आये थे तथा विजयवंश की स्थापना भी उन्हीं लोगों ने की थी और उन्हीं के द्वारा बौद्ध धर्म के प्रसरण का कार्य भी हुआ था। यहां पर चीनी-खरोष्टी मुद्राओं का एक आसंचय (hoard) भी मिला जो कदाचित् 74 ई० के बाद का ही होगा क्योंकि तभी चीनियों का उस क्षेत्र पर अधिकार हो गया था। सिक्कों पर 'खाली घोड़ा' और 'वैक्ट्रिएन ऊंट' अंकित है और इससे खोतान के शासकों का भारत के शक शासक मावेस (मोग), एज़िज (अयश) और उनके उत्तराधिकारियों के साथ सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। दोनों स्थानों की खरोष्टी लिपि भी समान प्रतीत होती है।

लेखों में जिन शासकों के नाम है वे सब 'गुग्र' से आरम्भ होते हैं जैसे गुग्रमद, गुग्रदाम, गुग्रमय, गुग्रमोद और गुग्रताई। 'गुग्र' से विजय का संकेत यदि मान लिया जाये तो यह विजयवंशीय ही शासक थे। योतकन में कुजुल कथफिस तथा कनिष्क के सिक्के भी मिले हैं। इनके अतिरिक्त ईसवी के प्रथम से 11वीं शताब्दी तक के चीनी सिक्के मिले हैं। इस प्रकार योतकन से प्राप्त प्राचीन अवशेष उसकी राजधानी होने का प्रमाण देते हैं। पर कुछ अन्य स्थानों में उत्खनन से प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं जिनसे खोतान राज्य की प्राचीनता तथा उसकी भारत और चीन के साथ सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं। इनमें से

एक स्थान दन्दान-उलूक है। कदाचित् यह प्राचीन ली-हशी (Li·hsie) था जो 8वीं शताब्दी तक चीनी सेना का मुख्य सैनिक अड्डा था। यहां के विभिन्न स्थानों से बहुत सी सफेद चून की मूर्तियां तथा अन्य अवशेष प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ दीवालों पर बने चित्र (frescoes) और उनके नीचे ब्राह्मी लेख भी है। यहां से हस्तलिखित ग्रन्थ तथा कुछ अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं जो ब्राह्मी और चीनी लिपि में हैं। इनमें महायान मत सम्बन्धी दो ग्रन्थों के अंश भी प्राप्त हुए हैं। यह ग्रन्थ है 'प्रज्ञापारमिता' और 'वज्रछेदिका' और दोनों ही संस्कृत भाषा में है। चीनी अभिलेखों में ली-हशी के सैनिक प्रशासकों का वृतान्त है तथा कुछ वैयक्तिक मामलों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त एक जूड़ी-ईरानी पत्र भी है जो 718 का है। दन्दान-उलूक की भाँति वहां से कोई 7 मील दूर दो स्तूपों में कुछ बौद्ध अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह बौद्ध मूर्तियां गांधार कला से सम्बन्धित है।

पीं-मो (Pi-mo) तथा नी-जंग (Ni-jang)

चीनी यात्री य्वांग-चांग ने दो अन्य स्थानों का भी उल्लेख किया था जहां से होकर वह चीन लौटा था। पी-मो कुस्तन (खोतान) से कोई 330 ली की दूरी पर था। एक पूर्वी राज्य और कुस्तन के बीच हुए युद्ध क्षेत्र से यह कोई 30 ली पूर्व में था। यहां पर चन्दन की बनी बुद्ध जी की खड़ी हुई कोई 20 फीट ऊंची मूर्ति थी। इसका निर्माण प्राचीन काल में किओ-शांग-मी (कौशाम्बी) के शासक यू-तो-युन-न (उदायन)—उदयन द्वारा हुआ था। बुद्ध जी के परि-निर्वाण के बाद यह स्वत: हो-लो-लो-किए (Ho-lo--lo-kia) (कदाचित् राघ अथवा राघन) गई और फिर वहां से पी-मो नगर आई। इस वृन्तात से यह प्रतीत होता है कि उत्तर-पश्चिमी राज्य के किसी स्थान से पी-मो में आकर इस मूर्ति का निर्माण हुआ। य्वांग-चांग के अनुसार हो-लो-लो-किए, जहां यह पहले लाई गई थी, कोप के कारण बालू के ढेर से ढका था और वहां कोई नहीं आ सकता था। सोन-युन ने पी-मो को हन-मो कहा है तथा मार्कोपोलो ने भी इसका उल्लेख किया है। बौद्ध स्तूपों के अवशेष यहां मिले हैं। इनके अतिरिक्त नीया भी एक प्राचीन स्थान था जिसका उल्लेख य्वांग-चांग ने किया है। इसके प्रचीन भाग रेतीले तूफानों से नष्ट हो गए थे। स्टाइन ने अन्वेषण करके यहां से बहुत सी महत्वपूर्ण सामग्री एकत्रित की जिसमें लकड़ी की पट्टियों

पर लिखे बहुत से अभिलेख भी हैं। यह तृतीय शताब्दी की खरोष्टी लिपि में है और प्राकृत भाषा में है जो कुषाण कालीन उत्तरी-पश्चिमी भाषा से मिलती जुलती है।[20] इनमें अधिकतर प्रशासकीय अभिलेख है जिनका आरम्भ 'महानुअन महरथ लिहति' से आरम्भ होता है। कुछ चीनी अभिलेख बांस के कागज पर लिखे हैं। वहां के प्राचीन ध्वंसावशेषों से प्रतीत होता है कि ईसवी की ततीय शताब्दी तक यह एक समृद्धशाली नगर था। अभिलेखों में शासकों की उपाधि 'देवपुत्र' दी हुई है जिसका प्रयोग कुषाण शासकों ने भी किया था। इनमें नगर को 'निञ' तथा खोतान को खोतंन, खोदन, कुस्तनक, नामों से सम्बोधित किया है। पुरुषों के नाम भी भारतीय है जैसे भीम, वंगुसेन, नन्दसेन, समुसेन, सीतक. उजजीव इत्यादि। कुछ मिले-जुले नामों में अनगय, चुवत्यलिन, फुझसेव पितेय. शिलि. संघिल. समजक इत्यादि हैं। इनसे यह ज्ञात होता है कि भारतीयों ने वहां पर बसकर स्थानीय सम्बन्ध स्थापित कर लिए थे। यह स्वाभाविक ही था। बौद्ध धर्म ने पूर्णतया अपना स्थान बना लिया था। चीनी अभिलेखों, पुरातात्विक प्रमाणों तथा खरोष्टी अभिलेखों के आधार पर वहां के सांस्कृतिक जीवन की झलक भी दिखाई पड़ती है जिसका विस्तृत रूप से वृतान्त आगे किया जायेगा। यहां की स्थानीय भाषा पूर्वी ईरानी थी जिसे शक भी कहा जाता है। इस भाषा में अभिलेख दन्दान-उलूक से प्राप्त हुए हैं और यह ईसवी की आठवीं शताब्दी के हैं। तिब्बती वृतान्त के अनुसार खोतान की स्थानीय भाषा न तो भारतीय और न चीनी ही थी। हां, लिपि भारतीय थी, पर भिक्षुओं का रहन-सहन और आचरण चीनियों जैसा था। बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन पहले प्राकृत में होता था और बाद में संस्कृत में होने लगा। तिब्बती स्रोत के अनुसार खोतान राज्य की स्थापना भारत से आए हुए व्यक्तियों ने की थी तथा यह बौद्ध धार्मिक अध्ययन का केन्द्र बन गया था।

भारतीय राजनैतिक तथा सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में खोतान विख्यात था। दूर-दूर से जिज्ञासु यहां बौद्ध धर्म का मूल रूप में अध्ययन हेतु आते थे। 259 ई० में एक चीनी भिक्षु, जिसका नाम चू-शे-हिंग (Chu-she-hing) था, धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन के लिए यहां आया था। चीनी बौद्ध धर्म के इतिहास में उसका नाम उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम उसने चीनी भाषा में अनुवादित बौद्ध ग्रन्थों की सूची बनाई थी एवम् स्थानीय विद्वानों के साथ मूलग्रन्थों को पढ़ा। कुछ वर्ष में वह पंडित हो गया तथा उसने मूल बौद्ध ग्रन्थों के 10

वस्तों को एकत्रित किया जिनको वह चीन भेजना चाहता था। स्थानी बौद्धों ने इसका विरोध किया क्योंकि उन्हें डर था कि अनुवाद में मूल का अर्थ बदल जाने की संभावना है, पर चू-शे-हिंग को शासक की ओर से ग्रन्थों को ले जाने की अनुमति मिल गई। उसने अपने शिष्य-फु-जु-तान (पुण्यधन) द्वारा ग्रन्थों को चीन भेज दिया और स्वयं खोतान में ही रह गया जहां 80 वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हो गई। चीन में इनमें से कुछ ग्रन्थों का अनुवाद मोक्षल नामक एक खोतानी बौद्ध विद्वान द्वारा 291 में हुआ। उसकी सहायता के लिए एक भारतीय भिक्षु था, जिसका नाम शुक्लरत्न था। जिन ग्रन्थों का अनुवाद हुआ उनके नाम 'पंचविशंति-साहश्रिका', 'प्रज्ञापारमिता', 'विमलकीर्ति-निर्देश' तथा 'गुरंग सूत्र' हैं। इस वृतान्त से प्रतीत होता है कि ईसवी की तीसरी शताब्दी में खोतान महायान बौद्ध मत का एक प्रसिद्ध विद्या केन्द्र हो गया था। पांचवीं शताब्दी में एक अन्य विद्वान लिआंग-चाऊ (Liang-chou) महायान बौद्धग्रन्थों के अनुवाद में लगा था। वह मगध निवासी था और भारत से 'महापरिनिर्वान सूत्र' की असम्पूर्ण हस्तलिखित पाण्डुलिपि लाया था। इसका चीनी में अनुवाद करते समय उसे बचे हुए भाग के लिए खोतान जाना पड़ा। 412 अथवा 413 में वहां जाकर उसने ग्रन्थ का द्वितीय भाग प्राप्त किया। 33 अध्यायों में इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद 7 वर्षों में हो सका। फिर भी बाद में उसे पता चला कि अनुवादित भाग मूल का केवल 35 प्रतिशत है। बाकी ग्रन्थ की खोज के लिए वह फिर खोतान नहीं जा सका।

धर्मक्षेम का एक शिष्य त्स्यु-क्यू-किंग-शेंग (Tsiu-kiu-king-sheng), जो लिआंग शेंग के एक अभिजात परिवार (noble) का था, खोतान की ख्याति को सुनकर वहां गया। गोमती महाविहार में एक भारतीय विद्वान बुद्धसेन से उसने महायान ग्रन्थों को विधिवत पढ़ा। यह भारतीय महायान ग्रन्थों में पारंगत था तथा पश्छिमी क्षेत्र में शे-त्स्यू (She-tseu) के नाम से विख्यात था। अध्ययन समाप्त करके किंग-शेंग चीन लौट आया तथा खोतान से साथ में लाए हुए ग्रन्थों का उसने चीनी भाषा में अनुवाद किया। यह ग्रन्थ 'ध्यान' से सम्बन्धित थे। 439 में आठ चीनी बौद्ध भिक्षु लिआंग-चाऊ से धार्मिक ग्रन्थों की खोज में खोतान आए। उस समय यहां पंचवार्षिक सभा चल रही थी। उसमें विद्वानों के भाषणों से उद्धृत अंशों का इन चीनी बौद्धों ने अपने देश लौटकर चीनी में अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त और भी चीनी

जिज्ञासु ग्रन्थों की खोज में खोतान आए। फ-लिंग नामक एक भिक्षु खोतान से 'अवतंशक-सूत्र' का हस्तलिखित ग्रन्थ वहां ले गया जिसका अनुवाद 418 में बुद्धभद्र ने किया। एक अन्य भिक्षु, जिसका नाम फाइयान था, खोतान से 475 में 'सधर्मपुण्डरीक' ले गया जिसका अनुवाद 490 में धर्ममूर्ति ने किया था। खोतान से बौद्ध विद्वान चीन गए। तांग काल में शिक्षानन्द नामक एक खोतानी चीन गया। यह वहां 695 से 710 तक रहा और उसने 19 मूल ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिसमें सबसे बड़ा 'महावैपुल्य' अथवा 'अवतंशक-सूत्र' 80 अध्यायों में था। चीनी यात्री फाइयान ने खोतान में 'बुद्ध यात्रा' का भी वर्णन किया है जिसका पूर्ण रूप से उल्लेख 'धर्म' के सन्दर्भ में किया जायेगा।

नीया से पूर्व के देश

य्वांग-चांग के वृतान्त के अनुसार नीया से पूर्व में मरुस्थल था। पूर्व में 400 ली की दूरी पर पुराना तू-हो-लो (Tu-ho-lo) का देश था। इससे 600 ली की दूरी पर चे-मो-टो-न (Che-mo-to-na) का प्राचीन देश था जिसमें निए-मो नगर था, पर उस समय यह वीरान पड़ा था। यहां से 1000 ली की दूरी पर न-फो-पो का देश था जिसे लू-लम भी कहते हैं। प्राचीन तू-हो-लो तुंन हुआंग जाने के दक्षिण मार्ग पर तारिम नदी की मुख भूमि-थाला (delta) पर स्थित था। इसकी समानता वर्तमान इन्देर (Endere) से की गई है। इस क्षेत्र में तू-हो-लो (संस्कृत तुषार, ग्रीक तोखरी) का होना आश्चर्यजनक है क्योंकि यह देश आक्षु (Oxus) क्षेत्र में था। हो सकता है कि यूचियों की एक शाखा तुंन-हुआंग क्षेत्र में रहती हो और वहां से हूणों ने इनको भगा दिया हो। वहां से उत्तरी मार्ग होकर वह आक्षु क्षेत्र पहुंचे। इन्देर क्षेत्र में जो प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए हैं उनसे प्रतीत होता है कि ईसवी की तृतीय-चतुर्थ शताब्दी तक यहां का जनजीवन सामान्य था। यह सम्भव है कि यूचियों की शाखा, जो छोटे यूचियों के नाम से विख्यात हुई, यहां कुछ शताब्दियों तक रह गई हो। यह भी धारणा है कि हिन्द-यूरोपीय तुषार (यूची) पश्चिम से चीन की ओर जाते हुए यहां पर पहल बस गए थे। चीनी वृतान्तों में भी तुंन-हुआंग क्षेत्र में बसे हुए यूचियों का तृतीय शताब्दी में उल्लेख मिलता है। लोवनोर क्षेत्र से प्राप्त चीनी अभिलखों में (ईसवी की चौथी शताब्दी) चीनी सेना में

वैतनिक यूची सैनिकों का उल्लेख है। इन्देर से उत्खनन में प्राप्त चमड़े के टुकड़े पर खरोष्टी में लिखा नौ पंक्तियों का एक लेख भी मिला जिसकी लिखावट इत्यादि नीया से इसी प्रकार के प्राप्त चमड़े पर अंकित लेखों से मिलती है। लकड़ी की तख्तियों पर भी नीया की भांति खरोष्टी में लिखे लेख मिले हैं। पक्की ईंटों के बने 11 फीट ऊंचे स्तूप के अवशेष भी मिले। इनके अतिरिक्त कुछ तांबे के चीनी सिक्के भी प्राप्त हुए।

य्वांग-चांग ने नीया से पूर्व में एक अन्य स्थान का उल्लेख किया है। यह चे-मो-तो-ना (Che-mo-to-na)—त्स्यू-उमो (Tsiu-umo) अथवा त्स्यू-मो था। तु-मू-लो से यह कोई 600 ली की दूरी पर था और इसी को नी-मो भी कहते हैं। इस देश का मूल नाम कल्मदन (Calmadana) था जिसका उल्लेख नीया से प्राप्त खरोष्टी लेखों में मिलता है और इसकी समानता वर्तमान चेरचेन (Cherchen) से की गई है। नीया से यहां पहुंचने में कोई चार दिन लगते हैं। इन वृतान्तों में इसको शान-शान अथवा लोवनोर से पश्छिम जाने वाले मार्ग पर स्थित किया है। सोंग-युंग के समय में (ईसवी छठवीं शताब्दी) नगर में कोई 100 परिवार रहते थे। चीनी कला में यहां बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियां भी स्थापित थी जो लुकुअंग अपने तारिम नदी क्षेत्र में किए गए अभियान में लाया था। यह घटना ईसवी की चौथी शताब्दी की है। य्वांग-चांग के समय में यह उजाड़ हो गया था पर इसके बाद चीनी सेना ने तांग काल में इस पर पुनः अधिकार कर लिया। इसका नाम भी बदलकर पो-ह्सिएन (Po-hsiən) हो गया। पुरातात्विक अन्वेषण में यहां एक बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले। इससे ज्ञात होता है कि कलमदन में बौद्ध धर्म के अनुयायी रहते थे। चेरचेन से पूर्व में ना-फो-पो नगर था जो प्राचीन काल में लू-लान कहलाता था। इसे शान-शान भी कहते थे। यहां के निवासी असभ्य प्रकृति के थे। यही लोवनोर का क्षेत्र था जो तुन-हुआंग और पश्चिमी जगत के छोटे मार्ग पर स्थित था। तारिम क्षेत्र में यही मरुथान था। हान वृतान्तों के अनुसार शान-शान (लू-लान) में दो मुख्य नगर थे——एक यू-नी (प्राचीन) और दूसरा ही-हस्युन (Hi-Hsiun) (नवीन) नगर था। तिब्बती वृतान्तों में इन्हें 'बड़ा नोव' और 'छोटा नोव' नामों से सम्बोधित किया है। लूलान उस स्थान के मूल नाम क्रोरेन अथवा क्रोरयिन का चीनी स्वरूप है। यह दोनों नाम वहां से प्राप्त खरोष्टी लेखों में मिलते हैं।

चीनी वृतान्तों में इस राज्य का विस्तृत विवरण मिलताहै । हान काल में यह लू-लान कहलाता था और ई0 पू077में यह नाम बदलकर शान-शान हो गया । उसके अधीन त्सु-मो (चेन-यन). ह्सिआओ-युअन (Hsiau-Yuan) जो उत्तर में कूचा मार्ग पर था, तथा चिंग-चुए (नीया) थे । 119 ई0 में यातायात की सुरक्षा हेतु पान-योग ने यहां एक सैनिक बस्ती स्थापित करने की योजना बनाई जिसे 124 में पूरा किया गया । इसके उत्तर में काशगर और कूचा और दक्षिण में शान-शान और खोतान की ओर जाने वाले मार्गों पर नियंत्रण रखना एवं लूंग-वू के आक्रमणों का सफलता से मुकाबला भी करना था । पान-योग स्वयं यहां आया था तथा पश्चिमी देशों का समर्पण स्वीकार किया था । लू-लान (क्रोरेन) बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। फाइयान के अनुसार यहां4000भिक्षु रहते थे जो हीनयान मत के मानने वाले थे । यहां से प्राप्त बहुत से खरोष्टी लेख प्राकृत में लिखे हैं जो नीया के लेखों की भी भाषा है । इन अभिलेखों में कुछ नाम भारतीय हैं तथा कुछ स्थानीय प्रतीत होते हैं जैसे भारतीय नाम आनन्दसेन, मतिसन, भीमय, बुद्धमित्र धम्मपाल, कुमुदवती. पुण्यदेव. चरक, सत्र, सुजद, वासुदेव तथा स्थानीय नाम चोलेय, चुवलचिन, करजेय,कलिपश, इत्यादि । अभिलेखों में कुछ शब्दों का प्रयोग है जो ईरानी अथवा मध्य एशिया की भाषाओं से लिए गए हैं ।

क्रोरेन क्षेत्र में मीरान अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था । यहां से प्राप्त शिल्प कला के प्रतीक गंधार कला से सम्बन्धित है और चित्रों पर पाश्चात्य प्रभाव मिलता है । प्रारम्भिक मसीही कला से मिलते हुए पंखेदार फिरस्ते भी इन चित्रों में दिखाए गए हैं और इनमें एक के निर्माता तीत-टाइटस का नाम भी लिखा है । चित्रों पर यूनानी प्रभाव पूर्णतया दिखाई पड़ता है । कौशेय (रेशम) पर अंकित कुछ खरोष्टी लेख भी मिले हैं जिनमें बौद्ध मठों को दिए दान का उल्लेख है । इनमें लिखे नाम भी भारतीय हैं जैसे अगगोश, चरक, चरोक (चारुक). समनय (श्रमणक) । कुछ ईरानी नाम भी मिलते हैं जैसे फ्रियन, फिरीन तथा मित्र । इन खरोष्टी लेखों में एक राजवंश के पांच शासकोंके नाम मिलते हैं जो क्रोटेन में ईसवी की तृतीय शताब्दी में राज्य कर रहे थे । इनके नाम पेपीय, तजक, अंगोक. महिरी तथा वषमन हैं । कुषाणों की भांति इन्होंने भी महारम, रयातिरम (महाराज राजातिराज) देवपुत्र उपाधियों का प्रयोग किया । इनके अतिरिक्त धर्मिय (धार्मिक) तथा महंत (महत्तम) का भी

उपयोग किया गया है। इन शासकों में अंगोक और महिरि ने बहुत दिनों तक राज्य किया। मीरान की कला का विस्तृत रूप से 'कला' के अध्याय में विवरण दिया जायेगा।

उत्तरी अंत्री राज्य

तारिम नदी क्षेत्र का उत्तरीय भाग दक्षिणी भाग से सांस्कृतिक तथा राजनैतिक दृष्टिकोण से भिन्न था। प्राचीन काल में इस भाग में चार राज्य थे जो एक दूसरे से सांस्कृतिक रूप से जुड़े हुए थे। उनका एकीकरण हो चुका था यद्यपि राजनैतिक अस्तित्व पृथक था। चीनी यात्री युवांग-चांग के अनुसार इन राज्यों के नाम क्रमशः पो-लू-किअ (Po-lo-kia), क्यू-चे (Kiu-che). अ-कि-नि (A. ki-ni) तथा काओ-छंग (Kao-chang) थे। इनकी भाषा एक ही थी और क्यू-चे तथा अ-कि-नीकी लिपि तो भारतीय लिपि से मिलती थी। काओ-छंग उस समय चीनियों के प्रभाव में था पर पहले ,अन्य तीनों देशों की भांति यह भी एक ही सांस्कृतिक परम्परा का अंग था। प्रथम राज्य पो-लू-किअ का उल्लेख मध्य एशिया के कुछ अभिलेखों में मरुक के रूप में आया है जो मूल रूप में बलुक रहा होगा। चीनी इसे कि-में अथवा कु-में कहते थे जो कदाचित् तुर्की शब्द 'कुम' पर आधारित है जिसके अर्थ बालू है। अतः भौगोलिक परिस्थिति के अनुसार इसका नामकरण भी किया गया था। बलुक (बालू) और कुम (बालू) एक ही भौगोलिक स्थिति का संकेत करते हैं। इसकी समानता वर्तमान अक्षु (Oxus) से की जाती है। उत्तरी मार्ग यहां से दो ओर जाता था--एक काशगर की ओर और दूसरा वेदल दर्रे होकर पश्चिमी तुर्किस्तान जाता था।

दूसरा राज्य क्यू-चे (Kiu-che) था जिसकी समानता वर्तमान कूचा से की जाती है। इसके तीन अन्य रूप भी हैं--क्यू-त्से (Kuei-tse), क्वाई-त्से (Kuei-tse) और क्यू-यी (Kiu-yi)। मध्य एशिया से प्राप्त अभिलेखों में इसे कुची कहा गया है और यहां के शासकों को कुची महाराज कहकर सम्बोधित किया गया है। वर्तमान कूचा नगर काशगर और तुरफान के बीच में स्थित है। इसकी प्राचीनता का प्रमाण इस बात से मिलता है कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में भी यह एक वैभवशाली नगर था। जो अभिलेख प्राप्त हुए हैं उनसे प्रतीत होता है कि यहां की साधारण बोलचाल की भाषा, जिसे तुखारी कहा

गया है, भारतीय है और कदाचित् यहां पर ईसा से पहले भारतीय आर्यों का यहां उपनिवेश रहा होगा। प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान लेवी ने इसी प्रकार का संकेत किया है।[21] चीनी वृतान्तों में इस देश पर किसी विदेशी आक्रमण का उल्लेख नहीं है। हान कालीन विवरणों में इसका सबसे पहले उल्लेख आया है। वू-टी (Wu-ti) (ई0 पू0 140–87) के राज्य काल में इस नगर की महत्ता बढ गई क्योंकि यह पश्चिमी व्यापारिक मार्ग पर केन्द्रित था। यहां से काशगर और औलिएटा (Aulieta) की ओर मार्ग जाते थे। कूचा पर कुछ चीनी सांस्कृतिक प्रभाव अवश्य पड़ा होगा और कूचिओं की सन्देहात्मक नीति नें उनको संकट में बरावर डाले रखा। चिन वंश (Tsin) के शासक फु-चिएन ने कूचा को दबाने के लिए एक सेना ली-कुआंग (Li-kuaug) के संरक्षण में भेजी। यह सेना सफलतापूर्वक कूचा प्रदेश पर अपना अधिकार जमा सकी। इसी संघर्ष में कुमारजीव नामक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान को बन्दी बना लिया गया। कूचा के के सुखी जीवन और समृद्ध वातावरण से ली-कुआंग बड़ा प्रभावित हुआ। चीनी सेनापति वहीं पर बसना चाहता था पर कुमारजीव ने भविष्यवाणी की कि उसको और ऊंचे स्थान पर पहुंचना है। अतः बौद्ध विद्वान को लेकर वह चीन लौट गया। ली-कुआंग बाद में दक्षिण लिआंग का शासक हुआ और कुमारजीव जो उसका बंदी और सलाहकार भी था, चीन में बौद्धधर्म का बड़ा प्रवर्तक हुआ। उसने अनगिनित बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

उपरोक्त वृतान्त से कूचा के इतिहास, चीन के साथ सम्बन्ध तथा कुमारजीव का कूचा और चीन में बौद्ध धर्म के प्रति प्रवर्तक के रूप में अनुदान का पता चलता है। कुमारजीव का पिता भारत से कूचा गया था तथा कुमारजीव युवा-वस्था में अध्ययन के लिए कि-पिन (कश्मीर) आया था तथा विद्या सम्पन्न होने के बाद वह कूचा लौट गया था। वहां पर वह 'भारतीय ज्ञान कोश' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। वेदविद् के अतिरिक्त वह अन्य दार्शनिक शास्त्रों का ज्ञाता था। कूचा लौटकर वह महायान धर्म का अनुयायी हो गया। वहां से चीन पहुंचने पर उसने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इस प्रकार भारत और चीन के बीच उसने बौद्ध धर्म-मुख्यतया महायान धर्मसेतु का काम किया। यहां की धार्मिक विचारधारा मध्य एशिया के मार्ग से कुमारजीव द्वारा चीन में पूर्णतया विकसित हुई। कूचा पहले हीनयानियों का केन्द्र था पर जिस समय 584 ई0 में धर्मगुप्त नामक बौद्ध भिक्षु यहां आया उस समय वहां

का शासक महायान मत को प्रोत्साहन देता था। 'शुंग-काओ-शेंग-श्वान' के अनुसार कूचा अनुवादन कर्त्ताओं का केन्द्र था और यहां पर संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद किया जाता था पर पश्चिम में स्थित नगरों में संस्कृत मूल ग्रन्थों का प्रयोग होता था।[22]

कूचा और चीन के बीच राजनैतिक सम्बन्ध कई बार बिगड़े। वाई (Wei) के समय में 448 में एक पुनः सैनिक दल कूचा भेजा गया। कूचिओं को समर्पण करना पड़ा तथा उस समय से उनकी ओर से बराबर चीन के शासक के सम्मान में भेंटे जाती रहीं। भेंट लेकर जाने वाले शिष्ट मंडल क्रमशः वाई, लि-आंग, चाऊ तथा सुई के शासन काल में पहुंचे। इन्होंने चीन की जलवायु, उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थों, राज्य प्रासाद की सुन्दरता तथा धार्मिक संस्थानों का उल्लेख किया है। वहां पर मोर बहुतायत में पाले जाते थे। राजप्रासाद में गायन तथा वादन भी होता था तथा स्थानीय कलाकारों के अतिरिक्त उसमें कूचा के नृतक तथा गायन कलाकार भी सम्मिलित थे।

तांग काल के आरम्भ में कूचा ने अपना एक मंडल चीनी आधिपत्य की स्वीकृत हेतु भेजा। बाद में पुनः कार्शाहार (Karshahar) में चीनियों के विरुद्ध विद्रोह में उनका साथ लिया। इसके फलस्वरूप 648 में चीन ने एक सैनिक दल कूचा भेजा। जिस समय चीनी यात्री य्वांग-चांग यहां आया था। उसने नगर को समृद्धशाली तथा शान्त पाया। उसने कूचा निवासियों की सच्चाई को सराहा है। वहां का शासक स्थानीय था और लेखन कला भारतीय लिपि पर आधारित थी। धर्म में निवासियों की आस्था थी। बहुत से विहार थे तथा मूर्तियां भी बहुतायत में थीं। भारत की भांति यहां भी प्रति पांचवें वर्ष धार्मिक सम्मेलन होता था तथा धार्मिक जुलूस निकाले जाते थे। कोई 100 विहार थे जिनमें 5000 से अधिक भिक्षु रहते थे जो सरवास्तिवादिन मत के थे। यह विहार शिक्षा के केन्द्र थे। 658 में कूचा चार सैनिक केन्द्रों की राजधानी बनायी गयी जिससे चीनी आधिपत्य का संकेत मिलता है। अगली शताब्दी में यहां से बहुत से शिष्ट मंडल चीन भेजे गए। 778 में वु-कुंग (Wu-kung) नामक एक चीनी यहां आया। उसके अनुसार कूचा उस समय गायन वादन तथा बौद्ध धर्म के लिए प्रसिद्ध था। उसने एक मठाधीश का भी उल्लेख किया है जो स्थानीय भाषा के अतिरिक्त संस्कृत और चीनी शुद्ध रूप में बोलता था। इसके बाद से 11वीं शताब्दी तक कूचा के विषय में जानकारी नहीं प्राप्त

होती है। चीनी वृतान्तों में कुछ अन्य विदेशी मंडलों के चीन में आने का उल्लेख है। इनमें कूचा से आये हुए व्यक्तियों को उइगुर (Uigurs) कहा गया है। 11वीं शताब्दी के अन्त तक यहां बौद्ध धर्म विकसित था।

उत्तरी क्षेत्र का तृतीय राज्य अ-कि-नी था जिसे चीनी श्रोतों में येन-की (Yen-ki), वु-की (Wu-ki) तथा वु-यी (Wu-yi) नामों से सम्बोधित किया है। संस्कृत अभिलेखों में इन्हें अग्नि नाम दिया है और इसी पर चीनी रूप भी आधारित प्रतीत होते हैं। यहां के राजाओं को अग्नि महाराज कहा गया है। इस राज्य की समानता वर्तमान कर्शाहार से की जाती है। इससे पूर्व में चौथा राज्य काओ-छंग (Kao-chang) था जिसे हान काल में क्यू-शे (Kiu-she) कहा गया है। यह दो भागों में बंटा थों—आन्तरिक क्यू-शे और बाहरी क्यू-शे। आन्तरिक भाग की समानता वर्तमान तुरफान से की जाती है और बाहरी भाग अब गुयेन के नाम से प्रसिद्ध है। तुरफान में कई नगरों के अवशेष मिलते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि यहां विभिन्न समय की राजधानियां रही होंगी। इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं है। मिंग वंशीय वृतान्तों के अनुसार यह प्राचीन शे-ची (क्यू-शी) में स्थित था और सुई काल में इसे काओ-छंग कहा जाता था। तांग काल में यह नाम बदल दिया गया था पर सुंग राज्य काल में इसका पुनः प्राचीन नाम रख दिया गया। यहां पर उत्खनन में बहुत से संस्कृत, चीनी तथा अन्य ईरानी और तुर्की उपभाषाओं तथा तोखारी ग्रन्थ मिले। तुरफान की दीवारों पर जो चित्र बने हैं उनकी लाल पगड़ी, लाल दाढ़ी तथा नीली आंखें उनके मूल स्थान का संकेत करती हैं।

उईगुर ग्रन्थों के अनुसार कूचा और तीन अन्य राज्य कुरान के नाम से प्रसिद्ध थे। अक्षु, कूचा, कर्शाहार तथा तुरफान निवासी एक ही जाति परम्परा के थे और उनकी भाषा तथा सांस्कृतिक जीवन भी मुख्यतया एक ही सा था। यह कुरान भाषा तोखारी भाषा से मिलती जुलती है। जो उईगुर ग्रन्थ मिले हैं उनमें एक मूल कुरान से अनुवादित है जो वैभाषिक आचार्य कल्याणसेन ने लिखा था। दूसरे ग्रन्थ में कुरान देश के विद्वानों का उल्लेख है जिनके नाम क्रमशः बुद्धरक्षित, सर्वरक्षित तथा अशोकरक्षित थे। इन चारों राज्यों का इतिहास चीन से सम्बन्धित है और चीनी स्रोत इनके अस्तित्व, शासकों और चीन के साथ तथा स्वयं पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं। इनमें मुख्यतया कूचा के साथ चीन के सम्बन्धों का उल्लेख है जो शान्तिमय अथवा संघर्षमय रहे

थे। उत्तरी क्षेत्र में कूचा राज्य उतना ही महत्वपूर्ण था जितना दक्षिण क्षेत्री में खोतान था। अन्य तीन राज्य केवल अनुयायी के रूप में थे यद्यपि उनका अस्तित्व पृथक् था। चीनी श्रोतों के आधार पर कूचा राज्य के इतिहास पर प्रकाश डाला जा सकता है। पूर्व हानवंश के वृतान्त के अनुसार कूचा राज्य की सीमाएं दक्षिण में त्सिंग-त्सियु (Tsing-tsieu), दक्षिण-पूर्व में त्स्यु-मो (Tsiu-mo), यु-मि (You-mi), उत्तर में वु-सुन (Wu-sun) और पश्छिम में कु-मो (Ku-mo) से मिली हुई थीं। इसकी राजधानी येन नामक नगर थी तथा यहां की सैनिक संख्या 21,076 थी। यहां के कारीगर विभिन्न प्रकार की धातुओं के काम में निपुण थे।

चीन के साथ इसका सम्बन्ध ईसवी की प्रथम शताब्दी से कुछ पहले से आरम्भ होता है। ई0 पू0 102 में ली-कुआंग-ली (Li-kuang-li) नामक एक चीनी सेनापति ता-युआन (Ta-yuan) के विरुद्ध एक सेना लेकर चला और बीच में वह यू-मी (Yu-mi) राज्य से गुजरा। वहां के उत्तराधिकारी कुमार ला-तिन (La-tin) को बंधक के रूप में कूचा भेजा जाना था। इस प्रश्न का चीनियों से कोई सम्बन्ध न था, पर ली-कुआंग-ली ने अपने देश के प्रति इसको अपमानसूचक माना। अतः वह ला-तिन कुमार को लेकर चीनी शासक चाओ-टी (Chao-ti) (ई0 पू0 86–74) के पास आया। चीनी सम्राट् ने उसे लुन-ताई में उप-संरक्षक के रूप में भेजा और वहां पर लोगों के बसाने का कार्य सौंपा। यह स्थान कूचा और काशहािर के बीच में स्थित था। कूचा के एक विशिष्ट व्यक्ति कु-चिन की सलाह पर वहां के शासक ने ला-तिन का बध करवा दिया तथा चीन के शासक को क्षमा याचना का पत्र लिखा। उस समय तो चीनी शासक ने इस बात को भुला दिया पर शी-वान-ती (Si-van-ti) के राज्य काल (ई0 पू0 63–49) में एक बड़ी चीनी सेना वु-सुन के देश में भेजी गई जिसने लौटकर कूचा पर आक्रमण कर वहां के शासक को वन्दी बनाकर चीन भेज दिया जहां उसका बध कर दिया गया। पर थोड़े समय बाद दोनों देशों के बीच फिर मित्रता स्थापित हो गई। कूचा के शासक किएंग-पिन (Kiang-pin) का विवाह एक वु-सुन राजकुमारी जिसकी मां चीनी राजवंश की थी; के साथ हो गया। ई0 पू0 65 में वह सम्मान प्रगट करने के लिए चीन गया। कूचा के शासक अपने को चीन के सम्बन्धी मानने लगे तथा चेंग-टी (Cheng-ti) (ई0 पू0 32–1) के समय में चीन

की ओर से भी इस सम्बन्ध को मान्यता मिली। एक नया व्यापारिक मार्ग भी कूचा देश से होकर खोला गया। यह यू-मेन से काशगर को इसी देश से होकर जाता था। तियेन-शान (Tien-shan) की पहाड़ी के नीचे एक अन्य मार्ग तुरफान होता हुआ कूचा जाता था। इन मार्गों ने कूचा की समृद्धि में बहुत अनुदान किया। पर मध्य एशिया की राजनैतिक परिस्थिति कूया तथा अन्य निकटवर्ती राज्यों के प्रतिकूल हो गई।

पूर्व हान वंश के पतन के बाद (24 ई0) तारिम घाटी में स्थित छोटे राज्यों को ह्यूंग-नू (हूनो-हूणों) का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। उस समय चीन के मित्र देश सो-क्यू (चोक्कुक कर्घलिक) के शासक ने कूया पर आक्रमण कर दिया। यह घटना 41 ई0 में हुई पर उसके बाद भी कई बार आक्रमण हुए। 46 ई0 में इसी एक आक्रमण में कूचा का शासक मारा गया। अधिकृत राज्य पर उसने अपने पुत्र त्सो-लो (Tso-lo) को शासक घोषित किया। इसके पश्चिमी भाग को अलग कर एक नया राज्य बनाया गया जिसकी राजधानी वु-लाई (Wu-lei) वर्तमान वुगुर हुई। थोड़े समय बाद एक विप्लव हुआ और त्सो-लो तथा पश्चिमी राज्य के शासक स्से-किएन (Sese-kien) मार डाले गए। ह्यूंग-ने-शेन-तू (इन्दुक) जो कदाचित् भारतीय था, को कूचा का शासक घोषित किया और यह उनके अधीन राज्य बन गया।

ह्यूंग-नू ने 73 ई0 में किएन को यहां का शासक बनाया। उसने उत्तरी मार्ग को सुरक्षित रखने का भार लिया तथा इस कार्य के लिए उसे लड़ाकू जातियों का भी सहारा लेना पड़ा। फिर उनकी सहायता से उसने सु-ले (काशगर) पर आक्रमण किया और जीतने पर वहां के शासक को मार कर अपने नामांकित व्यक्ति ताऊ-टी (Tou-ti) को वहां का शासक नियुक्त किया। एक वर्ष बाद पान-चाऊ की अध्यक्षता में एक चीनी सेना ने उसपर आक्रमण करके ताऊ-टी को बंदी बना लिया। काशगर के सेनानियों एवं प्रशासनाधिकारियों के समक्ष भूतपूर्व शासक के भतीजे योंग को वहां का शासक घोषित किया गया। उस समय से काशगर और कूचा के बीच शत्रुता की दीवार खड़ी हो गई। चीनी आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह तथा तारिम घाटी में स्थित मध्य एशिया के बीच पारस्परिक तनाव और संघर्ष और इनमें लड़ाकू जातियों का अनुदान, ईसवी की प्रथम शताब्दी के अन्तिम चरण का इतिहास रहा है।

75 ई0 में हान वंश के सम्राट मिग के देहान्त के पश्चात् काशहार के

राजा शु-एन और उसके पुत्र चोंग ने चीनी राज्यपाल का बध कर दिया। उसी समय कूचा तथा अक्षु ने भी काशगर पर आक्रमण कर दिया। पान-चाओ को पुनः विद्रोह शान्त करने के लिए तारिम घाटी के राज्यों में आना पड़ा। पहले वह खोतान आया और फिर काशगर की ओर बढ़ा जिसने कूचा का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। 78 ई0 में काशगर, सागडिएना तथा खोतान और अन्य अधीन राज्यों की मिश्रित सेनाओं को लेकर उसने अक्षु और शे-यंग (उच-तुरफान) पर आक्रमण कर उन्हें पराजित किया। कूचा तथा कर्शाहार के अतिरिक्त अन्य राज्यों ने चीनी आधिपत्य स्वीकार किया। पान-चाओ ने इन दोनों पर विजय प्राप्त करने के लिए चीनी सम्राट से सैनिक सहायता तथा पो-प नामक कूचा कुमार को वहां बन्दी के रूप में था, को भेजने का आग्रह किया। पान-चाओ की योजना स्वीकृत हुई। सैनिक सहायता प्राप्त कर कूचा पर आक्रमण हुआ, और 88 ई0 में कूचा की सेना को चीनी सेना ने पराजित किया। कूचा ने तुखारिस्तान के यूचियों से सहायता मांगी और उन्होंने पामीर मार्ग से एक महत् सेना भी भेजी पर पान-चाओ ने उसे भी बुरी तरह पराजित किया। भूख से पीड़ित होकर यह सेना पूर्णतया नष्ट हो गई। एक वर्ष बाद कूचा, अक्षु तथा उच-तुरफान ने पान-चाओ के आगे समर्पण किया। कूचा में यु-ली-तो के स्थान पर पो-प वहां का शासक घोषित किया गया तथा प्रमुख शासनाधिकारी के रूप मे एक चीनी वहां नियुक्त किया गया। उसके विरुद्ध कूचा की सेना ने 106 ई0 में पुनः विद्रोह किया तथा कूचा, अक्षु और उच-तुरफान की सेना ने कूचा नगर को घेर लिया, पर विद्रोह शान्त कर दिया गया।

124 ई0 में कूचा के शासक पो-चिंग ने अक्षु तथा उच-तुरफान के शासकों ने चीनी सेना की सहायता की जो तारिम की घाटी में ह्यूंग-नू के विरुद्ध भेजी गई थी जो तिएन-शान (Tien-shan) के उत्तर में अधिकार किए हुए थे। वे हराए गए तथा इस लड़ाकू जाति की शक्ति क्षीण कर दी गई। कूचा के चीन के प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार से दोनों देशों के बीच सद्भाव बना रहा पर चीनी इतिहास में लगभग एक शताब्दी तक कूचा का कोई वृतान्त नहीं मिलता है। 224 ई0 में कूचा की ओर से एक दूत भेंट लेकर चीन गया। उस समय अक्षु तथा उच तुरफान कूचा के अधीन थे। यह मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध त्सिन (Tsin) काल 265—316 में भी कायम रहा। 285 में कूचा के शासक ने अपने पुत्र को चीनी सम्राट् के यहां वहां की राजकीय प्रशिक्षण सेवा हेतु भेजा। चौथी

शताब्दी के प्रथम चरण में पुनः राजदूत भेजे गए। इसी समय कूचा और कर्शाहार के बीच संघर्ष हो गया। वहां के शासक लोंग-हुए (Long-Huei) ने कूचा के नृप पो-शन का बध कर उसपर अधिकार कर लिया। कुछ समय तक लोंग-हुए ने तारिम घाटी के देशों को अपने अधिकार में रखा पर बाद में लो-पुन नामक एक कूची द्वारा उसका वध कर दिया गया और देश पुनः स्वतंत्र हो गया पर अधिक समय तक इसका अस्तित्व कायम न रह सका। 382 ई० में लूं-कुआंग के नेतृत्व में चीनी सेना ने पो-शुन के विरुद्ध धावा बोल दिया। कूचा की सहायता के लिए हूंग-नू तथा उच तुरफान की सेनाएं आई पर चीनियों की विजय हुई। यह पहले ही कहा जा चुका है कि इस चीनी विजय से कूचा ने अपना एक प्रसिद्ध विद्वान खो दिया। कुमारजीव को लू-कुआंग अपने साथ ले गया और चीन में बौद्ध धर्म के प्रसरण में अनुदान का विशेष महत्व है। कूचा में पो-येन नामक शासक बैठा दिया गया।

कूचा और चीन के बीच राजनैतिक सम्बन्ध वाई काल (386–534) में भी संघर्षपूर्ण रहे। 437, 439 और 448 में कूचा की ओर से भेंट लेकर राजदूत चीन भेजे गए। 448 में चीन ने वु-काई-मु-ति (Wu-kie-mu-ti) की अध्यक्षता में एक सेना कूचा के विरुद्ध भेजी। कूचियों ने इसका वीरतापूर्वक सामना किया पर वे फिर पराजित हुए। कूचा ने पुनः अधीन होकर भेंट लेकर चीन दूत भेजना आरम्भ किया। यह क्रमशः 449, 475, 477, 479, 510, 518 तथा 522 में भेजे गए। इनके अतिरिक्त 511 तथा 521 में कूचा की ओर से दक्षिण चीन में भी दूत भेजे गए। चीनी स्रोतों के अनुसार 521 में कूचा का शासक नी-जुए-मो-चू-न-शेंग (Ni-jue-mo-chu-na-sheng) था।

कूचा और उत्तरी चीन के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध वाई वंश के अन्त के बाद भी जारी रहा। 577 से 581 के बीच में कूचा से कई दूत चीन गये। इसके बाद सम्राट् काओ-त्सु (Kao-tsu) के समय में (618–623) सु-फ-पु-क्यू ने एक दूत चीन भेजा और उसके पुत्र सु-फ-तिए (Su-fa-tie) ने 630 में एक दूत भेजा। इसी समय इस राज्य में भारत जाते हुए चीनी यात्री युवांग-चांग आया था। कुचियन वंश के दो शासकों का इसने उल्लेख किया है। एक को उसने स्वर्ण पुष्प नाम से सम्बोधित किया है जो बौद्ध दर्शन सिद्धान्तों का ज्ञाता था। दूसरे का नाम अ-चू-नी (A-chu-ni) था जो मनोजव (जादू) जानता था। सु-फु-तिए के बाद उसके छोटे भाई हो-ली-पु-शे-पी ने 647 में दो बार

दूत चीन भेजे। थोड़े समय बाद कूचा और चीन के बीच पुनः संघर्ष हुआ जिसका कारण काशहार में चीन के विरुद्ध विरोध में कूचा की सहायता करना था। एक तुर्की विशिष्ट व्यक्ति, जिसने चीनी आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, की अध्यक्षता में सेना भेजी गई। किए-लिए-तिएन के संरक्षण में कूचा की सेना ने इनका सामना किया पर वह हार गई। इस संघर्ष में कूचा के बहुत से नगर नष्ट हो गए और बहुत से सैनिक हताहत हुए। कूचा के शासक हो-ली-पु-शे-पी, सेनापति किए-लिए-तिएन तथा मंत्री न-ली को बन्दी बनाकर चीन ले जाया गया और शासक के छोटे भाई शे-हु को कूचा का नया शासक बनाया गया। थोड़े समय बाद कूचा का बन्दी शासक मुक्त कर दिया गया तथा उसे उसका राज्य भी वापस मिल गया। चीन के साथ सम्बन्ध सामान्य हो गये। नया शासक स्वयं सम्मान प्रगट करने चीन गया और वहीं उसकी मृत्यु हो गई। उसके बाद उसके पुत्र सु-की को कूचा का शासक घोषित किया गया। इस नृप ने 674 में एक दूत चीन भेजा। 692 में कूचा का नया राजा येन-तिएन-ताई (Yen-tien-tie) स्वयं चीन सम्मान प्रगट करने गया। उसी समय तिब्बतियों ने तारिम नदी क्षेत्र के दक्षिणी भाग से चीनियों को भगा दिया और काशहार तक विजय प्राप्त की। चीनियों को कूचा से हटकर तुरफान जाना पड़ा, पर कूचा की ओर से बराबर दूत चीन जाते रहे। इससे प्रतीत होता है कि चीनी आधिपत्य का कूचा की ओर से बहिष्करण नहीं हो सका था। यह दूत 709, 719, 747 तथा 748 में चीन गए और 11वीं शताब्दी में भी कूचा द्वारा चीन में दूत भेजने का उल्लेख मिलता है। उस समय वहां के शासक उइगुर वंशीय थे। प्राचीन शासक वंश समाप्त हो गया था। प्राचीन अन्तिम शासक पो-ह्वान था जो 787 अथवा 788 में कूचा में राज्य कर रहा था जब वु-कोंग वहां से गुजरा था।

कूचा का इतिहास वास्तव में चीन तथा मध्य एशिया में तारिम नदी क्षेत्र में स्थित राज्यों के साथ संघर्ष और मित्रता की कहानी है। इसके इतिहास से यह प्रतीत होता है कि यहां के शासकों को अपनी मित्रता का मूल्य चुकाना पड़ा। चीन के साथ संघर्ष अधिकतर काशहार के प्रश्न को लेकर हुआ। कूचिओं ने सदैव ही वीरतापूर्वक चीनी शक्ति का मुकाबला किया, फिर भी उन्हें सदैव ही पराजय का मुंह देखना पड़ा। कूचा को कभी भी चीनी साम्राज्य का अंग बन कर नहीं रहना पड़ा। हां, उसे चीनी आधिपत्य अवश्य स्वीकार

करना पड़ा । चीन के अतिरिक्त लूंग-नू (हन-हूण) नामक लड़ाकू जाति के साथ भी उसका संघर्ष हुआ और कुछ समय तक उनका कूचा पर अधिकार भी हो गया, पर वहां के शासकों ने सूझ-बूझ से प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना किया । ऐसे संघर्ष के वातावरण में भी कूचा बौद्ध धर्म तथा साहित्य का मध्य एशिया में एक बड़ा केन्द्र था और यहां के कुमारजीव ने तो अपनी विद्वता के लिए विश्व में ख्याति प्राप्त की । उत्तरी व्यापारिक मार्ग पर स्थित होने के कारण कूचा एक समृद्धशाली राज्य था और इसीलिए एक हजार वर्ष से अधिक समय तक इसका इतिहास चीनी स्रोतों में मिलता है ।

कर्शाहार (Kara-shahr)–अग्निदेश[23]

कर्शाहार का कूचा के साथ घनिष्ट राजनैतिक सम्बन्ध था और इसीलिए यह दोनों सम्मिलित होकर चीन का सामना करते रहे । चीनी वृतान्तों में कर्शाहार की राजनैतिक स्थिति का हान काल से तांग वंश के अन्त तक वृतान्त मिलता है । सम्राट् वू-ती (Wu-ti) (140–87) के समय में सर्वप्रथम इसने चीनी आधिपत्य स्वीकार करके एक दूत चीन भेजा था । ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में सबसे पहले इसने चीनियों के विरुद्ध विद्रोह किया और चीनी आधिपत्य को चुनौती दी । पर थोड़े समय बाद दोनों को ही चीन के आगे समर्पण करना पड़ा । 75 ई० में कर्शाहार के शासक शुएन (Shuen) तथा उसके पुत्र चोंग ने चीनी सत्ता का पुन: विरोध किया और चीनी राज्यपाल और उसके संरक्षकों का बध कर दिया । पान-चाऊ के नेतृत्व में चीनी सेना ने इसको तथा अन्य राज्यों को दबाकर चीनी आधिपत्य स्वीकार करने पर बाध्य किया । कर्शाहार के शासक कुआंग की हत्या कर दी गई थी और युवांग-मोंग नामक एक प्रशासनाधिकारी को वहां का 94 ई० में शासक बनाया गया । 121 और 125 ई० के बीच में उसने भी चीनी आधिपत्य का विरोध किया । वह पराजित हुआ और उसे अपने पुत्र को बन्दी के रूप में चीन भेजना पड़ा । उसके बाद कर्शाहार और चीन के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो गए । 220 ई० में एक दूत चीन भेजा गया । 285 ई० में लोंग-अन ने अपने पुत्र को चीन में शासकीय सेवा के लिए भेजा । उसके दूसरे पुत्र हुए (Huei) ने तारिम घाटी के राज्यों पर आक्रमण किया और कुछ समय तक कूचा पर भी अधिकार कर लिया । कर्शाहार और चीन के सम्बन्ध लोंग-अन के पुत्र ही के समय में

बिगड़ गए। वह चीनियों द्वारा पराजित हुआ। 437, 439 और 448 में इस देश से कई दूत चीन भेजे गए पर चीन यहां की राजनीति मुख्यतया चीन के साथ सन्देहात्मक व्यवहार से असन्तुष्ट था और उसने इसके विरुद्ध एक सेना भेजी। कार्शाहार का शासक लोंग-तु-की (Long-tu-ki) कूचा भाग गया। उसके बाद लगभग एक शताब्दी तक इसका कोई वृतान्त नहीं मिलता है। कर्शाहार से 564 और 606 में कई दूत चीन भेजे गए। 606 ई० में यहां का शासक लोंग-तु-की था। 629 में चीनी यात्री युवांग-चांग यहां आया था और उसने इसका बौद्ध धर्म और स्थानीय सांस्कृतिक जीवन के सन्दर्भ में उल्लेख किया है। उसके अनुसार ओ-कि-नी (अकनी) अथवा अग्नि की सीमाएं पूर्व से पश्चिम तक 500 ली तथा उत्तर से दक्षिण तक 400 ली में विस्तृत थीं। मुख्य नगर 6–7 ली (1 मील) के घेरे में था। यहां की लेखन कला भारतीय थी। 10 से अधिक संघाराम थे जिनमें कोई 2000 से ऊपर बौद्ध भिक्षु रहते थे जो सरवास्तिवादिन विचारधारा के अनुयायी थे।

तांगवंश के वृतान्तों में भी कर्शाहार का कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है। तुरफान के शासक के विरुद्ध चीन के सम्राट् ने यहां के नृप की कई प्रकार से सहायता की थी। व्यापारिक मार्ग पर होने के कारण तुरफान का महत्व था और इसका लाभ उठाकर उसने अन्य निकटवर्ती राज्यों, मुख्यतया कार्शाहार पर दबाव डालना चाहा और बहुतों को बन्दी भी बना लिया। 632 में यहां के शासक लोंग-तु-कि-ये (Long-tu-kiye) ने एक दूत चीन भेजा जिसका उद्देश्य तुरफान को छोड़कर मध्य एशिया के व्यापारिक मार्ग को मोड़ देना था। तुरफान उस समय उइगुर के प्रभाव में जा रहा था। 640 में एक चीनी सेना ने तुरफान के शासक को हराया और कार्शाहार के सभी बन्दियों को छोड़ने पर बाध्य किया। पर थोड़े समय बाद कार्शाहार स्वयं उइगुर के प्रभाव में आ गया और चीन से सम्पर्क तोड़ लिया। इसके लिए वहां के शासक को पराजय का मुंह देखना पड़ा। बन्दी के रूप में लोंग-तु-कि-ये को चीन ले जाया गया और कार्शाहार में लि-पो-चून (Li-po-chun) शासक नियुक्त किया गया। इसने पहले ही अपने भाई के विरुद्ध चीन को आमंत्रित किया था। इसके बाद उइगुर ने पुनः कार्शाहार पर आक्रमण करके लि-पो-चून को गद्दी से उतार दिया पर थोड़े समय बाद जनता ने उसे पुनः शासक बना दिया। उसके एक सम्बन्धी शिए-पो-अ-ने-चे (Sie-po-a-n-che) ने कूचा के शासक के साथ मिलकर

राज्य पर अधिकार कर लिया। लि-पो-चून को बन्दी बनाकर कूचा को सौंप दिया गया जहां उसका वध कर दिया गया। चीन ने पुनः हस्तक्षेप किया और सेना भेज कर हें-कि-ये, जो उस समय चीन में बन्दी था, के भाई पो-किए-ली (Po-kia-li) को 648 में वहां का शासक नियुक्त किया। उसकी मृत्यु के बाद, -तु-कि-ये को चीन से काशहािर वापस भेजा गया जहां पर वह पुनः स्थानीय शासक बना। उसके बाद लगभग एक सौ वर्ष तक काशहािर से बराबर चीन राजदूत भेजे जाते रहे। 755 के बाद यह तिब्बतियों के अधिकार में आ गया और काशहािर और चीन के बीच सभी प्रकार के सम्बन्ध टूट गए।

कूचा की भांति काशहािर, जो प्राचीन काल में अग्निदेश के नाम से प्रसिद्ध था तथा वहां के कुछ शासकों के नाम भारतीय हैं जैसे इन्द्राजुँन, चन्द्रोंजुँन इत्यादि, का इतिहास भी चीन और मध्य एशिया के उत्तरी भाग के राज्यों के साथ संघर्ष की कहानी है। यह राज्य कूचा के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाए हुए था। उइगुर के प्रभाव में आकर इसका चीन के साथ सम्पर्क टूट गया जिसका प्रभाव इसके प्रतिकूल ही हुआ। चीन की शक्ति कम होते ही तिब्बतियों ने इस पर अधिकार कर लिया। इसके बाद का अग्निदेश—काशहािर का वृतान्त नहीं मिलता है।

काओ-छंग (Kao-chang)

उत्तरी क्षेत्रीय राज्यों में तुरफान तथा गुशेन मिलकर अन्तिम राज्य थे। ईसवी की चौथी शताब्दी तक यह एक ही राजनैतिक सूत्र में बंधे थे। क्यू-शे (Kiu-she) के नाम से यह हान काल में प्रसिद्ध थे और पश्चिमी जगत की ओर जाने वालों के लिए यह 'तोरगद्वार' कहलाते थे। वू-ती (160–108) के समय में दक्षिण क्षेत्र, जो तुरफान के नाम से प्रसिद्ध था, चीनियों के आधिपत्य में चला गया और वहां चीनी प्रशासन स्थापित हो गया। उत्तरी भाग जो गुशेन कहलाता था, ह्यूंग-नू नामक लड़ाकू जाति के आधिपत्य में था जो चीनियों के घोर शत्रु थे। 89 ई० में उनको चीनियों ने हराया और फिर इस भाग ने भी चीनी आधिपत्य स्वीकार कर लिया। दोनों भागों में बराबर ही संघर्ष होता रहा, पर चीनियों की सहायता से तुरफान अपना अस्तित्व कायम रख सका। 96 ई० में गुशेन की सेना का सामना करने के लिए तुरफान के शासक वाई-पाई-त (Wei-pei-ta) ने चीनियों से सहायता मांगी। गुशेन के अतिरिक्त ह्यूंग-नू भी तुरफान

के लिये भय का कारण बने हुए थे। यहां के शासक को 280 ई0 में अपने पुत्र को चीन की राज्य सभा में सेवा के लिए भेजना पड़ा।

ईसवी की चौथी शताब्दी के आरम्भ से दक्षिणी भाग, जो तुरफान कहलाता था, का नाम बदलकर चीनियों ने काओ-छंग रखा। यहां के शासक मि-टी स्वयं अपने राज्यगुरु कुमारबुद्धि को लेकर चीन की राजधानी गये और उनसे प्रार्थना की कि उनके यहां एक चीनी महा शासक नियुक्त किया जाए। तुरफान पूर्ण रूप से चीनी अधिकार में आ गया और एक चीनी गवर्नर कांसु में नियुक्त कर दिया गया। 460 तक तुरफान पर चीनी आधिपत्य रहा पर इसके बाद यह पुनः स्थानीय शासकों के अधिकार में चला गया। इनमें से कुछ के नाम मिलते हैं जैसे कन-पो-चाऊ, यी-चेंग, शु-कुए (Shou-kuei) यंग-मोंग-मिंग तथा मा-जू इत्यादि। 507 ई0 में यहां एक चीनी राज्य वंश की स्थापना हुई जिसने 640 ई0 तक राज्य किया। उस वर्ष से यह चीनियों के सम्पूर्ण अधिकार में आ गया। इसके बाद का यहां का इतिहास चीनियों, तिब्बतियों तथा उइगिरों के बीच संघर्ष की कहानी है। 870 में तुरफान पर उइगिरों का पूर्ण रूप से अधिकार हो गया और उन्होंने कराकोड़जो को अपनी राजधानी बनाया। उनके समय में मध्य एशिया के इतिहास में तुरफान का महत्वपूर्ण अनुदान रहा।

बौद्ध धार्मिक प्रसरण

मध्य एशिया के उत्तरी क्षेत्र के राज्यों का इतिहास वास्तव में उनके चीन के साथ संघर्ष का वृतान्त है। इनके अतिरिक्त ह्यूंग-नू (हून-हूण) ने भी बराबर निकटवर्ती राज्यों पर दबाव डाला और उनको इनसे संघर्ष करना पड़ा। पर कभी भी यह देश किसी के सम्पूर्ण नियंत्रण में नहीं रहे। हां, उन्हें उन दोनों में से किसी एक का आधिपत्य स्वीकार करना पड़ा। कशगहार और तुरफान तो चीन के सामने प्रथम पंक्ति में पड़ते थे और इसीलिए उनको कूचा की सहायता लेनी पड़ती थी। चीन एक शक्तिशाली राष्ट्र था और हर बार संयुक्त देश की सेनाएं उसके विरुद्ध असफल रहीं। पश्चिम की ओर अक्षु तथा उच-तुरफान के राज्य थे जिनके भी कूचा के साथ राजनैतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध थे। मध्य एशिया के इन उत्तरी क्षेत्र के राज्यों का अपना पृथक् जातीय अस्तित्व था। चीनी स्रोतों में कूचा के राजवंश को 'पो' (श्वेत वर्ण) के नाम से सम्बोधित किया है। तांग काल में यहां के शासकों के नाम भारतीय प्रतीत होते

हैं। कूचा से प्राप्त प्राचीन अभिलेखों में स्वर्णते (सुवर्णदत्त) का नाम मिलता है जिसे चीनी में सु-फ-तिए कहा गया है। उसके पिता का नाम सु-फ-पु-किए (Su-fa-pu-kie) (स्वर्ण अथवा सुवर्ण) और भाई का नाम हो-लि-पु-शे-पि (हरिपुष्प) था। य्वांग-चांग ने भी यहां के एक शासक का नाम स्वर्ण-पुष्प कहा है। काशहार के शासकों के नाम 'लोंग' (नाग) से आरम्भ होते हैं और यह भी भारतीय प्रतीत होते हैं। प्राचीन अभिलेखों में भी बहुत से भारतीय नाम मिलते हैं जैसे विर्यमित्र (वीर्यमित्र), विर्यसेन (वीर्यसेन), ज्ञान सेन, मोक्ष-चन्द्र इत्यादि। इस प्रकार यह पूर्णरूप से विदित हो गया कि इन राज्यों के शासक भारतीय थे अथवा स्थानीय शासकों ने भारतीय धर्म-मुख्यतया बौद्ध धर्म को ग्रहण कर भारतीय नाम रख लिए थे। बौद्ध धर्म यहां पूर्णतया विकसित था और बहुत से विहार तथा संघाराम थे जहां बौद्ध भिक्षु और अरहत रहते थे। बौद्ध धर्म का प्रवेश तो ईसवी की प्रथम शताब्दी में हो गया था पर तीसरी शताब्दी से इसका विस्तृत वृतान्त मिलता है। त्सिन-वंश के वृतान्तों के अनुसार, जिनका काल 265–316 ई० है, कूचा में भी 1000 से अधिक बौद्ध स्तूप और मन्दिर थे। इसी समय से कूचा ने अपने विद्वान चीन भेजने आरम्भ किए। राजवंशी पो-येन नामक बौद्ध भिक्षु 256 260 के काल में चीन आया था। वह लो-यंग के प्रसिद्ध पो-म-से मन्दिर में ठहरा था तथा उसने छः बौद्ध ग्रन्थों का 258 ई० में चीनी में अनुवाद किया था। 307–12 के समय में एक अन्य कूची पो-श्रीमित्र दक्षिण चीन गया जहां वह बहुत समय तक रहा। 335–342 के काल में उसने तीन बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। पो-चेन नामक एक विद्वान भी कूचा का रहनेवाला था। वह 273 में लिआंग-चाऊ गया। वह अपनी विद्वता तथा बहुभाषीय ज्ञाता होने के कारण विख्यात था पर उसका अनुवाद किया कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है।

ईसवी की चौथी शताब्दी कूचा के इतिहास में महत्वपूर्ण है। एक चीनी ग्रन्थ के अनुसार उस समय यह एक बौद्ध नगर बन गया था। शासक का प्रासाद एक प्रकार से बौद्ध विहार था जिसमें बुद्ध जी की पत्थर की मूर्तियां खड़ी थीं। इसके अतिरिक्त बहुत से विहारों में कुछ राजकीय भी थे। त-मु के विहार में कोई 170 भिक्षु थे तथा उत्तर में पो-शन पहाड़ी पर चे-हु-ली में कोई 50–60 ही थे। वेन-सु (उच-तुरफान) में शासकीय विहार में कोई 70 भिक्षु थे यह चार विहार फु-तु-शे-मि (बुद्धस्वामिन्) की संरक्षता में थे। भिक्षु किसी एक

विहार में अधिक समय तक नहीं रह सकते थे और शासकीय विहार में रहने के लिए पंचवर्षीय भिक्षु होना आवश्यक था। बुद्धस्वामिन् स्वयं हीनयानी था पर उसका शिष्य क्यू-क्यू (कुमार) महायान मत का अनुयायी था और बड़ा विद्वान था। बुद्धस्वामिन् की संरक्षता में भिक्षुणियों के विहार भी थे। कूचा के अ-ली (आरण्यक) विहार में 180 तथा ल्यून-जो-कन और अ-ली-फो में क्रमशः 50 और 30 भिक्षुणियां रहती थीं। यह सब राजवंशीय थी अथवा उनका सम्बन्ध प्रशासकों से था और यहां पर धार्मिक जीवन व्यतीत करती थीं। इनका जीवन और दिनचर्या पूर्णतया नियंत्रित था।

क्यू-क्यू-लो अथवा कुमार वास्तव में कुमारजीव ही था जिसके जीवन का वृतान्त चीनी स्रोत से मिलता है[24]। उसके पिता का नाम कुमारायण था और कश्मीर राज्य में मंत्री था। अपने सम्बन्धियों को अपना स्थान देकर उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। पामीर को पारकर वह कूचा आया जहां के शासक ने उसे राज-गुरु पद प्रदान किया। उस समय जीवा नामक एक राजकुमारी उससे प्रेम करने लगी और दोनों का विवाह सम्पन्न हुआ। इनका पुत्र कुमारजीव हुआ और थोड़े समय बाद जीवा भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर भिक्षुणी होगई। कूचा से 40 ली उत्तर में स्यो-ली के विहार में उसने भारतीय भाषा और धर्म का अध्ययन किया। उसके साथ कुमारजीव भी था और सात वर्ष की अवस्था में वह भी सूत्रों को कंठस्थ करने लगा। 9 वर्ष की अवस्था में उसकी मां उसे लेकर कश्मीर गई जहां भानुदत्त नामक एक राजवंशीय बौद्ध विद्वान से उसने 'मध्यम' और 'दीर्घ' आगमनों का अध्ययन किया। तीन वर्ष के अध्ययन के बाद वह अपनी मां के साथ यू-चे (तुखारिस्तान) होता हुआ शु-ले (काशगर) पहुंचा। यहां वह एक वर्ष तक रहा और बुद्धयश नामक विद्वान से उसने सम्पूर्ण अभिधर्मपिटक का अध्ययन किया। यहीं पर उसने चारों वेद, पांचों विज्ञान, ब्राह्मण शास्त्र तथा ज्योतिष का अध्ययन किया। इसी समय सूर्य-सोम और सूर्यभद्र नामक तसन-क्यून के दो पुत्रों ने उससे दीक्षा ली तथा अध्ययन प्रारम्भ किया। सूर्य-सोम महायान मत का अनुयायी था। काशगर में कुमारजीव ने 'शतशास्त्र' तथा 'माध्यमशास्त्र' का भी अध्ययन किया।

काशगर से कुमारजीव वेन-सु (उच-तुरफान) गया जहां उसने एक ताओ विद्वान को अपनी विद्वता से पराजित किया। कूचा का शासक पो-शुन स्वयं कुमारजीव को लेने वेन-सु आया जो कूचा की उत्तरी सीमा पर था। कूचा

जाकर उसने बौद्ध धर्म की पूर्ण दीक्षा ली। उस समय कूचा में 10,000 बौद्ध भिक्षु विहारों में रहते थे। वह स्वयं पो-शुन द्वारा निर्मित विहार में रहने लगा। इसी समय शासक की पुत्री अ-किए-चे-मो-ती (अक्षयमती) भी बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर भिक्षुणी बन गई। कुमारजीव ने उसे 'महासन्निपात' तथा 'महा-वैपुल्यसूत्रों' से अवगत कराया। उसने 'पंचविंशति साहाश्रिका प्रज्ञापारमिता' की भी व्याख्या की। महायान मत का अनुयायी होते हुए भी कुमारजीव ने विमलक्ष नामक कश्मीर से आये एक बौद्ध विद्वान से सरवास्तिवाद विनय पिटक का अध्ययन किया। इस प्रकार वह दोनों मतों के ग्रन्थों का सम्पूर्ण ज्ञाता थी। 382 में लू-क्वांग ने कूचा पर आक्रमण किया और वह यहां से कुमारजीव को अपने साथ ले गया। 401 तक वह लिआंग-चाऊ में रहा और उसके बाद चीनी सम्राट् के आग्रह पर उसे चंग-न्गान लाया गया जहां वह अपनी मृत्यु के समय 413 तक रहा। उसने 14 ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद कर बौद्ध धर्म के साहित्य में अपना अनुदान दिया। कुमारजीव ने मध्य एशिया के तारिम नदी से सम्बद्ध देशों तथा चीन में महायान मत तथा माध्यमिक बौद्ध दर्शन का प्रसरण किया। महायान ग्रन्थों में कूचा का बौद्ध धार्मिक केन्द्र के नाते उल्लेख किया गया है और उसको तथा वहां के विद्वान कुमारजीव को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।

कुमारजीव के अतिरिक्त विमलक्ष भी कूचा से चीन गया था जहां वह 404 में कुमारजीव से मिला। कुछ वर्ष बाद कूचा से धर्ममित्र नामक एक और विद्वान भी वहां गया और थोड़े वर्ष रहकर वह तुन-हुआंग चला गया। 424 में वह चीन की राजधानी गया। इनके अतिरिक्त एक अन्य कश्मीरी विद्वान बुद्धभद्र भी कुमारजीव के पास चीन गया। उस समय कूचा बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था और यहां पर बौद्ध विद्वानों एवं दार्शनिकों का समागम होता था। छठवीं शताब्दी के अन्त में धर्मगुप्त नामक एक भारतीय विद्वान यहां आया था और दो वर्ष तक वह राजकीय विहार में ठहरा था। कूचा के शासक का बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग था और इसीलिए भारत से आए बौद्ध विद्वानों का वह बड़ा आदर करता था। धर्मगुप्त ने भी कूचा में विभिन्न् शास्त्रों का अध्यापन कार्य किया था जिसमें मुख्यतया तर्कशास्त्र था। यहां से वह चीन गया था। चीनी यात्री युवांग-चांग ने भी कूचा के बौद्ध मठों और विहारों का उल्लेख किया है। उस समय यहां कोई 100 विहार थे जिनमें 5000 बौद्ध भिक्षु रहते

थे। यह सब हीनयान मत के अनुयायी थे तथा मूल संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। नगर से 40 ली उत्तर की ओर पर्वतों के ढाल में दो विहार थे जिन्हें चाऊ-हू-ली (त्स्यो-ली—Tsio-li) कहा जाता था। वहां बुद्ध जी की एक बहुत सुन्दर मूर्ति थी। यहां के भिक्षु सच्चे थे तथा अपने धर्म में आस्था रखकर अपने कर्त्तव्यों का पालन करते थे। नगर के पश्चिमी द्वार के आगे बुद्ध जी की खड़ी हुई दशा में 90 फीट ऊंची दो मूर्तियां थीं। इन्हीं के सामने आंगन में हर पांचवें धार्मिक सम्मेलन हुआ करता था। एक अन्य प्रसिद्ध विहार अ-शे-ली-नी (A-she-li-ni) था जहां सब देशों से बौद्ध भिक्षु आकर एकत्रित होते थे। इसमें भी एक बुद्ध जी की सुन्दर मूर्ति थी। इसका प्रांगन भी विशाल था और भिक्षुओं को शासन की ओर से भोजन मिलता था। यहां का प्रमुख अरहत मो-च-क्यू-तो (मोक्षगुप्त) था जिसका य्वांग-चांग ने आथित्य स्वीकार किया था। अपनी विद्वता के कारण उसने सभी बौद्ध मतों के अनु-यायियों से मान्यता प्राप्त कर ली थी। वह बीस वर्ष तक भारत में रहा था और 'शब्दविद्याशास्त्र' में पारंगत था। कूचा में बौद्ध ग्रन्थों के बहुत बड़े संग्रहालय थे जिनमें 'संयुक्त-हृदय', 'अभिधर्मकोश' तथा 'विभाषा' इत्यादि ग्रन्थ थे। चीनी यात्री ने कूचा में वार्षिक बौद्धसंगिति का भी उल्लेख किया है जिसमें बुद्ध जी की मूर्तियों को बाहर जुलूस के साथ निकाला जाता था। यहां के शासकों तथा जनता में बौद्ध धर्म के प्रति बड़ी आस्था थी।

कूचा में ईसवी की आठवीं शताब्दी तक बौद्ध धर्म पूर्णतया विकसित रहा। 751 में वू-कोंग नामक यात्री यहां आया था। उसने यहां के विद्वान वु-ती-ती-सि-यु (उत्पलवीर्य) का उल्लेख किया है जो इसी नाम के विहार में नगर के पश्चिमी भाग की ओर रहता था। वह कई भाषाओं का ज्ञाता था जिनमें भारतीय, तारिम से सम्बन्धित देशों तथा चीनी भाषाएं प्रमुख थीं। उसने 'दश-बलसूत्र' तथा एक खोतानी भिक्षु शीलधर्म के साथ दो अन्य ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीनी यात्री य्वांग-चांग ने निकटवर्ती देश काशंहार तथा आक्षु में भी बौद्ध धर्म की स्थिति का भी उल्लेख किया है। 7वीं शताब्दी में काशंहार में कोई 10 विहार थे जिनमें 2000 भिक्षु रहते थे। कूचा के भिक्षुओं की भांति उनका जीवन भी यहां पूर्णतया नियमित तथा नियंत्रित था। वे नियमों का पूर्णतया पालन करते थे और संस्कृति में बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। आक्षु में कोई 10 विहार थे जिनमें लगभग 1000 सरवास्ति-

वादिन मत के अनुयायी भिक्षु रहते थे। इन बौद्ध भिक्षुओं का केन्द्रीय नियंत्रण कूचा से होता था और वहां पर अन्य राज्यों द्वारा भी विहार बनवाये गए थे। युवांग-चांग के कथनानुसार कूचा में एक विहार का निर्माण वेन-सु (उच-तुरफान) के शासक द्वारा हुआ था। तुरफान का बौद्ध संगठन पहले काशीहार और कूचा पर आधारित था पर पांचवीं शताब्दी में चीन का वहां राज्य होने पर चीनी प्रभाव वहां के धार्मिक जीवन पर भी पड़ने लगा। 7वीं शताब्दी के मध्य तक शासकों तथा जनता की आस्था बौद्ध धर्म में थी। युवांग-चांग का यहां बड़ा आदर-सत्कार हुआ था और वह 630 में एक बौद्ध विहार में ठहरा था। यहां के वेन-ताई नामक शासक के प्रासाद में एक बौद्ध विद्वान भी रहता था जिसने चीनी यात्री को वहीं रुकने का बहुत आग्रह किया पर युवांग-चांग वहां केवल एक मास ही ठहर सका। वहां उसे पूर्णतया शासक की ओर से सम्मानित किया गया। तुरफान से चलते समय वेन-ताई ने उसके साथ बहुत से सैनिक किए तथा बहुत से राज्यों के शासकों के नाम पत्र भी दिए। इनमें से एक तुखारिस्तान के शासक के नाम भी था जो उसका सम्बन्धी था तथा अन्य पश्चिमी तुर्कों के शासक यु-हु-कगान के नाम था। तुरफान में मिले चीनी लेखों से यह प्रतीत होता था कि वहां के जीवन पर बौद्ध धर्म का मुख्यतया प्रभाव था। एक में तो बुद्ध जी के समय के जीवक नामक भिषज् (वैद्य) का उल्लेख किया गया है। उइगुर शासकों ने भी बौद्ध धर्म को अपनाया। तुखारिस्तान के तुर्कों का भी बौद्ध धर्म की ओर झुकाव था और उइगुर तुर्कों ने भी इसी परम्परा को निभाया। तारिम से सम्बद्ध देश—तुरफान, काशीहार, कूचा तथा आक्षु—के साथ सांस्कृतिक सम्बन्ध ने भी उनके अपने जीवन पर गहरी छाप डाली। 9वीं शताब्दी में जब उन्होंने अपने नये राज्य का निर्माण किया जिसका केन्द्र तुरफान था, तब कूचा, काशीहार की सभ्यता का ह्रास हो चुका था पर वहां की जनता से उइगुरों को इस बौद्ध संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए। उइगिरों का साम्राज्य 11वीं शताब्दी तक रहा और इस काल में भी नवीन संस्कृति में बौद्ध धर्म का पूर्णतया आभास था। बहुत से तुखारी बौद्ध ग्रन्थों का उइगुर में अनुवाद भी हुआ। यही तुर्कों का सबसे प्राचीन साहित्य है।

चीनी स्रोतों के अनुसार मध्य एशिया में भारतीय गायन एवं वादवृन्द का भी चलन था और यहां से कई मंडल चीन भी गए थे। गेय विद्या में भारतीय प्रभाव का भी इसमें उल्लेख मिलता है। उन्होंने भारतीय शास्त्रीय परम्परा

को भी अपना लिया था तथा षड्ज, सहग्रम,(सरगम), पंचम, ऋषभ आदि स्वरों का उनकी संगीत परम्परा में उल्लेख मिलता है। 383 में लू-क्वांग ने जब कूचा को जीता तो वहां से वह एक वृन्द समूहगण को भी अपने साथ लिआंग-चाऊ ले गया। उसके बाद 550—577 काल में वाई सम्राटों के समय में एक अन्य वृन्द मंडल को कूचा से चीन में आमंत्रित किया गया था जिसका नेता मिआओ-त (Miao-ta) था। उसका सम्बन्ध त्सावो (कदाचित् झा-उपाध्याय) कुल से था। यह कूचा का एक कुटुम्ब था जो वाद-वृन्द में पारंगत था और गायन वादन पिता से पुत्र को पैतृक रूप से प्राप्त होता था। 568 में एक तुर्की राजकुमारी का एक चीनी राजकुमार के साथ विवाह हुआ और उसके साथ कुछ कूचा के गायक भी आये। कुछ समय तक चीन की राजधानी में तीन कूचा वादवृन्द समूह थे तथा जनता में कूचा का गायन बहुत ही प्रचलित था। राजवंश की भी कूचा के गायन वादन में धीरे-धीरे रुचि बढ़ने लगी। चीनी स्रोतों में नृतकों का भी उल्लेख किया गया है जो विशेष रूप से सिंह नृत्य करते थे। इस नृत्य में नृतकों के अतिरिक्त बहुत से गायक तथा वाद-वृन्दक होते थे। उनकी वेशभूषा का भी उल्लेख मिलता है। गायक कौशेय (रेशम) का सफेद कुर्ता तथा ऊदे रंग का मखमली कसा पैजामा, लाल दुशाला और काले रंग की टोपी पहनते थे। नृतक दो की पंक्ति में नाचते थे और बालों की दो बेणियां रखते थे। उनके जूते रस्सी और हरी मूंज के बने होते थे। गायन तथा वादन में वे शंख, किए नामक मृदंग, बांसुरी (हेंग-ती), भेड़ी (कोंग-हु), गितार (पी-प) तथा मजीरों का प्रयोग करते थे। सुजीव नामक एक गायक 560—78 के काल में चीन गया था। उसके नाम से उसकी भारतीयता का संकेत मिलता है। उसने गेय विद्या पैतृक रूप से प्राप्त की थी और उसके पूर्वज भी प्रसिद्ध गायक थे तथा भारतीय परम्परा के अनुयायी थे।

उपरोक्त मध्य एशिया के प्राचीन राज्यों का वृतान्त केवल चीनी स्रोतों के आधार पर ही निर्धारित किया जा सका। इस विशाल क्षेत्र में उत्तरी भाग के राज्यों का उल्लेख चीनी यात्री युवांग-चांग ने किया है। पो-लू-किये, क्यू-ये (कूचा), अ-कि-नि तथा काओं-छंग राज्यों की एक ही सांस्कृतिक परम्परा थी। राजनैतिक अस्तित्व पृथक् होते हुए भी वे विदेशी आक्रमण के समय संगठित हो जाते थे। इनमें कूचा ही सबसे प्रधान था और उसे चीनियों तथा लूंग-नू का सामना करना पड़ा। काओं-छंग (तुरफान) के साथ मिलकर तो बराबर

ही उसे चीन के साथ रक्षात्मक युद्ध करना पडा। यद्यपि इसमें सदैव ही संगठित शक्तियों की पराजय हुई और कूचा को इसके कारण बड़ा बलिदान देना पड़ा, पर इन राज्यों का पूर्णतया अस्तित्व कभी भी नष्ट नहीं हुआ। चीन के अतिरिक्त लुंग-नू नामक घुमन्तू और लड़ाकू जाति से भी इन राज्यों को संघर्ष करना पड़ा। इस जाति ने तो प्राचीन एशिया के इतिहास में अपनी खूंखार प्रवृत्ति के लिए ख्याति प्राप्त की और चीन को भी इससे भय प्रतीत हुआ। इसीलिए यहां के शासकों ने मध्य एशिया के राज्यों के साथ इनके विरुद्ध मित्रता रखने का प्रयास किया तथा यू-ची नामक एक अन्य जाति के पास भी इस उद्देश्य से एक मंडल भेजा। मध्य एशिया में भी कई राज्य थे जिनमें खोतान सबसे प्रसिद्ध था। चीनी यात्री य्वांग-चांग ने इनका उल्लेख किया है। चीन और पश्चिमी जगत के बीच व्यापारिक मार्ग इन्हीं दो क्षेत्रों से होकर जाता था। इसलिए यह राज्य समृद्ध रहे। भारत से इन्हीं मार्गों से बौद्ध भिक्षु तथा विद्वान मध्य एशिया आये जिन्होंने केवल तथागत के धर्म का प्रसारण ही नहीं किया वरन् वे यहां भारतीय संस्कृति भी लाए। वे सब यहीं बस गए। बौद्ध विहारों तथा संघारामों का निर्माण हुआ। स्थानीय जनता तथा शासकों ने इसके प्रति रुचि दिखाई। कुछ विद्वानों ने तो राजवंशीय कुमारियों के साथ विवाह किया। कुमारजीव की मां भी कूचा की राजकुमारी थी। खोतान के शासकों का सम्बन्ध भारत से और भी घनिष्ट था। यहां के शासकों का नाम विजय से आरम्भ होता है और कहा जाता है कि इस राजवंश की स्थापना बुद्धजी के निर्वाण के 234 वर्ष बाद लगभग 240 ई0 पू0 में अशोक के पुत्र द्वारा हुई थी। यह भी कहा जाता है कि अशोक स्वयं यहां आया था। इस वंश के एक शासक विजयजय का विवाह एक चीनी राजकुमारी के साथ हुआ था और इन दोनों ने बौद्ध धर्म के प्रसरण में बहुत अनुदान दिया। भारत से कई अरहत आए तथा यहां संघारामों की भी स्थापना हुई। य्वांग-चांग ने खोतान में बौद्ध धर्म की स्थिति के विषय में पूर्णतया प्रकाश डाला है।

कूचा तथा खोतान दोनों ही बौद्ध धर्म के प्रमुख गढ़ थे जहां से विद्वान चीन गए और वहां उन्होंने बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीनी स्रोतों के अनुसार यह दोनों ही राज्य बौद्ध धर्म के अतिरिक्त गायन तथा वाद वृन्द और नृत्य के लिए प्रसिद्ध थे। यह भी भारतीय ही प्रभाव था। शास्त्रीय परम्परा के रागों का स्थानीय नामकरण हुआ जो संस्कृत

नामों से मिलता है। इनकी ख्याति चीन तक पहुंची जहां उनके समूह कई बार शिष्ट मंडल के रूप में गए। यहां पर यह बात भी उल्लेखनीय है कि यद्यपि चीन के साथ इन राज्यों का बराबर संघर्ष होता रहा पर इनका अन्त चीनी साम्राज्य का अंग बनकर नहीं हुआ। खोतान पर चीन का आधिपत्य 791 में समाप्त हो गया, यद्यपि दसवीं शताब्दी तक वहां से कई शिष्टमंडल चीन गए। खोतान का अन्त अरब आक्रमणकारियों द्वारा हुआ जिन्होंने 1000 ई0 तक इस पर अधिकार कर इसकी प्राचीन सांस्कृतिक निधि को नष्ट कर दिया। प्राचीन विहार तथा संघाराम जो विद्या के केन्द्र भी थे, अब प्रकृति की शरण में चले गए जिसने उन्हें लगभग एक सहस्त्र वर्ष तक अपने आंचल से ढक लिया। उत्तरी राज्य क्रमशः उइगुर और तुर्क शासकों के अधिकार में चले गए। उइगुर शासकों के समय में तो बौद्ध धर्म विकसित था और तुर्क भी इन देशों के साथ सातवीं शताब्दी से सम्पर्क रखने के कारण अनभिज्ञ न थे, पर नवीं शताब्दी में अपना विशाल साम्राज्य स्थापित करने पर, कूचा-काशहार की प्राचीनसंस्कृति लुप्त हो गई। उइगुर ने 11वीं शताब्दी तक राज्य किया और एक नवीन सभ्यता का निर्माण किया जिसमें बौद्ध धर्म का बड़ा हाथ था। इनके बाद यहां पर भी इस्लाम की गहरी छाप पड़ी।

मध्य एशिया में प्राचीन भारतीय संस्कृति, जो उत्तरी तथा दक्षिणी क्षेत्र के राज्यों से जुड़ी हुई थी, के अन्वेषण और बाद में उत्खनन का कार्य लगभग एक शताब्दी से बड़ा ही रोचक तथा महत्वपूर्ण रहा है। इसमें अन्तर्राष्ट्रीय विद्वानों एवं पुरातात्विज्ञों——स्वीड, जर्मन, फ्रांसीसी तथा अंग्रेजों——ने कठोर परिश्रम के साथ प्राकृतिक कठिनाइयों को झेलते हुए अपना अनुदान दिया। इस उत्खनन कार्य की ही अपनी कहानी तथा इतिहास है।[25] अन्वेषण कर्त्ताओं ने उत्खनन करके साहित्य, अभिलेखों तथा कलाकृतियों का विशाल भंडार ढूंढ निकाला है जिससे उन क्षेत्रों में बौद्ध धर्म, साहित्य संकलन, वहां के विद्वानों, प्राचीन भारतीय संस्कृति, लिपि, लेखन, कला इत्यादि विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है। इनके आधार पर मध्य एशिया के भारतीय सांस्कृतिक वांङमय का विकास एवं विस्तार प्रस्तुत किया जा सकता है।

———

चीनी तुर्किस्तान
+ प्राचीन स्थान
बालकश झील
इली दरिया
मंगोलिया
ईसा कुल
सिर दरया
ति एन शा न
अक्सु
+ कूचा
कारस्शर
+ तुरफान
हामी
तनु-हुआंग
तनु-हुआंग
+ लू-लान
मिरन
कांसु
तारिम नदी
तकला मकान
मरुस्थल
काशगर
यारकन्द
खोतान
केरिया
नीया
आक्सु दरिया
हिन्दुकुश
कराकोरम
काश्मीर
कुनलुन
तिब्बत
चीन

1--बागची ने अपने लेख 'सेन्ट्रल एशियन नोमोड्स इन इन्डियन हिस्ट्री' में 'रामायग', 'महाभारत' तथा 'वृहत संहिता' में उल्लिखित उन सभी राज्यों का उल्लेख किया है जो उत्तरी -पश्छिमी भारत में गंधार के उत्तर में थे (देखिए : इनका 'इन्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया' पृ० 118–119)। भौगोलिक दृष्टिकोण से कई और विद्वानों ने भी महाभारत में वर्णित राज्यों का उल्लेख किया है। राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में भारत से बाहर रहने वालों में तुषार, तुरुष्क, बर्बर इत्यादि का उल्लेख किया है (पृ० 94)। तुषार (वायु पुराण) तथा तुखार (रामायण) एक ही है औरमहाभारत में भी उनका एकीकरण किया है (सभा पर्व, 50.-1850; वन. 51.1991)। आरल स्टाइल ने इनको उत्तरी आक्षु घाटी में, जिसमें बलख और बदकशां आते हैं, रखा है। तुरुष्कों से मुसलमानों का संकेत है। (देखिए : मेरा लेख 'जियोग्राफिकल इन्फारमेशन फ्राम राजशेखर्स वर्क्स'--जनरल आफ इंडियन हिस्ट्री, 40 (1962) पृ० 412)।

2--चीनी स्रोतों के आधार परमध्य एशियाकी राजनैतिक परिस्थिति, ह्यूंग-नू, यूची, वू-सून त्रिकोणीय संघर्ष, शकों का निरस्तीकरण, यूची एवं कुषाणों का सम्बन्ध, कुषाण राज्य की स्थापना और भारत पर विजय और सम्पूर्ण कुषाण वंशीय इतिहास का मेरी पुस्तक 'इन्डिया अन्दर दि कुषाणास' में विस्तृत रूप से सम्पूर्ण स्रोत सामग्री सहित विवरण दिया हुआ है (बम्बई 1965)।

3--हेफथाली, केदार कुषाण एवं सासानियों के बीच त्रिकोणीय संघर्ष का उल्लेख मेकगोर्वन ने अपनी पुस्तक 'दी अर्ली एम्पायर्स आफसेन्ट्रल एशिया' में किया है पृ० 405–410। हेफथालियों की हूणों से विभिन्नता का उल्लेख भी इसी पुस्तक में मिलता है (पृ० 405)। हूणों से विपरीत यह श्वेत वर्ण एवं अच्छी आकृति के होते थे पर साधारणतया इनको ह्यूंग-नू (हूण) से ही सम्बन्धित माना गया है और एक चीनी स्रोत के अनुसार इनकी और यूचियों की एक ही वंशीय परम्परा थी (यही : पृ० 405)।

4--इसका उल्लेख चीनी एतिहासिक ग्रन्थ 'हाऊ-हेन-शू' या उत्तरीय हान वंश का वृतान्त में मिलता है। इसके आधार पर कुजुल कथफिस एवं प्रथम

कुषाण वंश का इतिहास लिखा जा सकता है। इसमें किएन-वु काल (ई० २५–५५) के बाद की घटनाओं का उल्लेख है। इस सन्दर्भ में सम्पूर्ण विवरण मेरी पुस्तक के द्वितीय अध्याय में मिलेगा (पृ0 12 से)।

5—वील: 'बुद्धिस्ट रिकार्डस आफ दी वेस्टर्न वर्ल्ड', एक, पृ0 38 से; वार्टस: 'आन च्वांग-यांग' में भी इन राज्यों का उल्लेख है (पृ० 105 से)। इस सम्बन्ध में यूल का लेख महत्वपूर्ण है जो 'जनरल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी', वाल्यूम ६ में छपा है।

6—यही। चीनी यात्री ने अपने ग्रन्थ में जिन राज्यों का उल्लेख किया है उसकी समानता का प्रयास यूल एवं कुछ अन्य विद्वानों ने किया है जिसका विवरण वील ने फुटनोटों में किया है। अतः उनका संकेत देना यहाँ आवश्यक नहीं है। जिन राज्यों की समानता यूरोपीय अन्वेषण कर्त्ताओं एवं पुरातात्विदों ने प्राप्त अवशेषों के आधार पर की है, उनका उल्लेख निर्देशांकन (reference) सहित कर दिया जायेगा।

7—वील: उ. उ. ग्रन्थ 2 पृ० 280 से; वार्टस: उ. उ. पृ० 268 से। बागची ने अपनी पुस्तक 'इंडिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया' में चीनी वृतान्तों के आधार पर इन राज्यों का उल्लेख किया है तथा बौद्ध धर्म प्रसरण के सन्दर्भ में अन्य चीनी श्रोतों का आश्रय भी लिया है। उनका उल्लेख आगे किया जायेगा।

8—मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में इलियट का वृहत ग्रन्थ 'हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म' वाल्यूम तीन, पृ० 188 से 222 तक देखें। लामोट के फ्रांसीसी भाषा में लिखे ग्रन्थ 'इस्टवाग डू बिद्धिजम आंडियान' में बड़ी ही उपयोगी सामग्री एकत्रित है जिसका पूर्ण रूप से इस ग्रन्थ में प्रयोग किया गया है।

9—एपीग्राफिया इन्डिका, वाल्यूम 21, पृ० 55। इसका पूर्ण रूप से उल्लेख मेरी पुस्तक (उ. उ.) में ब्राह्मण धर्म के सन्दर्भ में है।

10—इसका विवरण कर्न की पुस्तक 'मैन्युवल आफ बुद्धिज्म' में है। लामोट की पुस्तक (उ. उ.) पृ 648 में भी इसका उल्लेख है तथा 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथिक्स में भी 'काउनसिलों' के सन्दर्भ में सम्पूर्ण वृतान्त मिलता है। लामोट ने विभिन्न बौद्ध मतों के विहारों एवं वहाँ पर स्थित भिक्षुओं की संख्या का भी विवरण दिया है।

11--मेकगोर्वन ने अपनी पुस्तक (उ. उ.) में 'बैक्ट्रियन एण्ड सागडियन्स इन दी साउथ' के अध्याय में इनके इतिहास का पूर्ण चित्रण किया है। बागची ने भी अपनी पुस्तक (उ. उ.) में यह इतिहास संक्षिप्त में दिया है (पृ0 36-41)। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया', वाल्यूम 1 में अकमीनी साम्राज्य के उत्थान से यूनानी साम्राज्य के विघटन तक विवरण मिलता है। (देखिए : अध्याय 14 और उसके आगे के अध्याय)।

12--पूर्वी तुर्किस्तान और चीन में सागडिएन उपनिवेश का आरल स्टाइन ने अपने वृहत ग्रन्थ 'सेरिन्डिया' में उल्लेख किया है। (देखिए पृ0 306, 327, 653 से आगे तक, 891, 921)।

13--इन राज्यों का विवरण चीनी यात्रियों ने किया था तथा आरल स्टाइन ने बहुतों का चिन्हीकरण उत्खनन सामग्री के आधार पर किया है। यह राज्य दक्षिणी मार्ग पर महत्वपूर्ण स्थान थे और इनका विवरण चीनी श्रोतों के अतिरिक्त तिब्बती साक्ष्यों से भी प्रतीत होता है। यूवांन-चांग का इन राज्यों का विवरण बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में है (देखिए : बील : (उ0 उ. 0 पृ0 283 से)।

14--देखिए : स्टाइन--उ0 उ0 76 नोट, 79, 80।

15--मध्य एशिया का बलख एवं खोतान क्षेत्र कनिष्क के अधीन था। इसी पुरातात्विदों ने मध्य एशिया में बहुत जगह उत्खनन करके यह सिद्ध कर दिया कि पश्चिमी तुर्किस्तान तक कुषाण साम्राज्य विस्तृत था। वहां पर बहुत से कुषाण सिक्के भी मिले। इस सम्बन्ध में टालसटोव एवं लिटविसकी की पुरातात्विक खोज उल्लेखनीय है। रूसी वृतान्त ड्यूशानवे में हुई कनिष्क कान्फरेंस (1968) की रिपोर्ट में मिलेगा जो अंग्रेजी में उपलब्ध है।

16--कुमारजीव की जीवनी का विवरण 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स' में मिलेगा। उसके द्वारा अनुवादित पुस्तकों का उल्लेख नानजिओं के सूचीपत्र एवं लमोट की पुस्तक में मिलेगा (पृ0 191, 192, 203, 207, 209)। इस विद्वान के जीवन एवं साहित्यिक कृतियों का उल्लेख आगे 'धर्म' के अध्याय में किया जायेगा।

17--तिब्बती ग्रन्थों में ली-युल को खोतान माना है। शीफनर के अनुसार यह फाइयान का न-किए (Na-kie) था जो बौद्ध ग्रन्थों में वकुल के नाम

से प्रसिद्ध था। वैसीलिएफ के अनुसार इससे तिब्बत के उत्तर में बौद्ध देश, मुख्यतया खोतन का संकेत है। (डेर बुद्धिजम, पृ 74। शरतचन्द्र दास ने ली-युल की समानता नेपाल से की है। (जे0 ए0 एस0 बी0 1, पृ 223)।

18——यह ग्रन्थ थे : 'ली-युल-ग्यी-लो-र्ग्युस-प' (Li-yul-gyi-lo-rgyus-pa) अर्थात् ली-युल वृतान्त, 'ली-युल-लुंग-बस्तन-प' (Li-yul-lung-bstan-pa) व्याकरण–भविष्यवाणी, 'दग्र-ब्छोम्-प-दगे-ह्दुन-ह्फेल-ग्यी-लुंग-ब्स्तन-प' (Dgra-bchom-pa-Dge-hdun-hphelgyi-lung-bstan pa), गो श्रृंग व्याकरण री–ग्लंग-रु-लुंग-ब्स्तन (Ri-Slang-ru-lung-bstan)। अन्तिम ग्रन्थ ली-युल से तिब्बती में अनुवादित हुआ था। अन्य ग्रन्थ खोतन की भाषा अथवा द्रुगजगताई तुर्कों से अनुवाद किए गए थे। फाइयान तथा य्वांग-चांग ने भी खोतान का बौद्ध धर्म के संदर्भ में विस्तृत वृतान्त दिया है। तिब्बती ग्रन्थों से उद्धृत वृतान्तों का संकलन अबेल-रेमूसत (Abel Rmeusat) ने अपने फ्रांसीसी भाषा में लिखे 'खोतान नगर का इतिहास' (Histoire de la ville de Khotan) में किया है। राकहिल ने भी अपनी आंगल भाषा में लिखी पुस्तक 'बुद्धजी का जीवन' में ली-युल (खोतान) का प्रारम्भिक इतिहास लिखा है तथा सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री का प्रयोग किया है। (देखिए : 'लाइफ आफ दि बुद्ध', 1884 पृ0 230 से)।

19——खोतान के इतिहास के सम्बन्ध में आरल स्टाइन का 'एंशिएंट खोतान' (आक्सफोर्ड 1907) विशेषतया महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त जिन लेखों से सहायता मिल सकती है, वे क्रमशः निम्न है : स्टेन कोनो : 'खोतान स्टडीज' जे0 आर0 ए0 एस0 1914, पृ 344 से; बागची : 'इंडियन कल्चर इन सेन्ट्रल एशिया' जे0 बी0 ओ0 आर0 एस0——32 1946 पृ0 9–20; ब्रफ : 'लीजेन्डस आफ खोतान एण्ड नेपाल' बी0 एस0 ओ0 ए0 एस0, XII, 1948 पृ0 333–339। एच0 सी0 सेठ ने दो लेखों में खोतान को मौर्य साम्राज्य का अंग माना है——आई0 एच0 क्यू, XIII, 1937, पृ0 400; यही, पन्द्रह, 1939 पृ 389-402।

20——इन लेखों का संकलन रैप्सन और उनके सहयोगियों ने किया। बाद में बरो ने इन खरोष्टी लेखों की भाषा पर दो पुस्तकें प्रकाशित की लांगवेज

आफ दी खरोष्टी डाकूमेंटस फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान' एवं 'ए ट्रांस्लेशन आफ दी खरोष्टी डाकूमेंट्स फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान' प्रकाशित की। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य लेखों का भी उन्होंने अनुवाद किया। अन्य विद्वानों में टामस, स्टेनकोनो एवं बेली ने मध्य एशिया की भाषा एवं कुछ शब्दों की व्याख्या पर बहुत से लेख लिखे जो अधिकतर 'बुलिटन आफ दी स्कूल आफ ओरेन्टियल स्टडीज', लन्दन तथा आसलो (नार्वे) से प्रकाशित 'एक्टा ओरियनटालिया' के विभिन्न भागों में छपे। उन सबका उल्लेख यथाक्रम और समाज के सन्दर्भ में किया जायेगा।

21—लेवी : जनरल एशियाटिक 1913, 11, पृ० 311 से। यह लेख भाषा विज्ञान की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं।

२२—इस संदर्भ में विस्तृत वृतान्त के लिए देखिए 'जूनरल एशियाटिक' जू-ए 1913, दो, 344 से, एवं 'बुलिटन इकोले फ्रांसे डु इक्सट्रीम ओरियांट', 1904 पृ0 562 से।

23—काशंहार या अग्निदेश उत्तरी मार्ग पर था। इसका वृतान्त फाइयान तथा च्वांन-चांग ने किया है। फाइयान के अनुसार यहाँ 4000 बौद्ध भिक्षु रहते थे जो हीनयान मत के अनुयायी थे। इसका विस्तृत वृतान्त स्टाइन ने अपने 'सेरेन्डिया' में दिया है (देखिए : वाल्यूम तीन, पृ 1976 से)।

24—कुमारजीव के जीवनकाल एवं कृतियों का विवरण रेनू तथा फिलिओजा द्वारा लिखी फ्रांसीसी भाषा में पुस्तक 'लांड़ क्लासिक', टोम 2, पैरा 2076–2079 में है (पृ 415–417)। इसके अतिरिक्त 'इंसाइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एंड एथिक्स' में भी इनका विवरण मिलेगा (वाल्यूम आठ, पृ 701 अ)।

25—इस विषय पर देखिये : डाब्रू :–'हिस्ट्री आफ दी डिस्कवरी एण्ड एक्सप्लोरेशन आफ चाइनीज़ तुर्किस्तान'–(दी हेग 1963)।

———

अध्याय 3

अतीत की खोज

मध्य एशिया में अतीत की खोज का अपना इतिहास है। 1500 मील लम्बे और 700 मील चौड़े क्षेत्र में बहुत से राज्य फूले फले, बौद्ध धर्म पूर्णतया विकसित हुआ तथा भारतीय विद्वानों एवं व्यापारियों ने अपना अनुदान दिया और अपनी संस्कृति कला तथा धर्म से वहां बौद्धिक जागृति उत्पन्न हुई। उनके द्वारा प्रज्वलित धर्म और ज्ञान की ज्योति ने यहां से पूर्व तथा उत्तर-पूर्व में चीन, मंगोलिया एवं कोरिया को भी देदीप्यमान किया। इस्लाम की तलवार के ज़ोर के सम्मुख बौद्ध संस्कृति ठहर न सकी, तत्कालीन राज्य जो बौद्ध न होते हुए भी उसके प्रति वैमनस्य नहीं रखते थे, अपने अस्तित्व को खो बैठे। राजनैतिक अस्थिरता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भी बड़ा धक्का पहुंचा और पूर्व का पश्चिम जगत से सम्पर्क टूट गया। मध्य एशिया के बौद्ध विद्वान और भिक्षु न तो धर्म की ओर न स्वयं अपनी ही इन वैदेशिक शक्तियों से रक्षा कर सके। हां, उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों की रक्षा का अवश्य ही प्रयास किया। कहीं-कहीं तो उन्हें बाहर दीवार खड़ी करके अन्दर छुपा दिया। बाहरी रक्खी मूर्तियों एवं विहारों के अन्दर की कला कृतियों की रक्षा का भार स्वयं प्रकृति ने ले लिया। मरुस्थल ने बढ़कर हरे भरे स्थानों को भी अपनी लपेट में ले लिया। प्राचीन भग्नावशेषों ने ऊंचे खंडहरों का रूप धारण कर लिया और राज्यों के नगर प्रायः निर्जन हो गए। यह परिस्थिति बहुत समय तक रही। मध्य युग में इन प्राचीन स्थानों को ढूंढ़ने तथा अतीत की खोज की भावना का पूणतया अभाव था। अतः 18वीं शताब्दी तक ऐसी ही दशा रही और यह प्राचीन स्थान सैकड़ों वर्षों की गहरी निद्रा में सोते रहे।

13वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मारकोपोलो नामक एक वेनिस का व्यापारी बोखारा, काशगर, खोतान, तिब्बत तथा चीन गया था और उसने इन देशों और वहां के निवासियों का उल्लेख किया है। वृतान्त भी चढ़ा बढ़ा कर लिखा है और उसमें वास्तविक ऐतिहासिक तथ्य की कमी है। पर इससे

पश्चिमी जगत में मध्य एशिया के अतीत में रुचि डाल दी। इसने 19वीं शताब्दी तक कोई क्रियात्मक रूप नहीं लिया[1]। प्रथम यूरोपीय विद्वान, जिसने मध्य एशिया में पदार्पण किया, रेगेल (Regel) नामक एक जर्मन वनस्पति शास्त्री था जो उस समय रूस में कार्य कर रहा था। 1879 में वह तुरफान गया और उसने बहुत से प्राचीन अवशेषों तथा ऐतिहासिक स्थानों का उल्लेख किया है। उसके बाद दो रूसी भाई-जी और एम ग्रुम-ग्रजहिमयलो (Grum-Grzhimaylo) ने तुरफान के क्षेत्र का अन्वेषण किया और अपनी रिपोर्ट रूसी में 1896–1907 के लम्बे काल में तीन भागों में प्रकाशित की। 1898 में फिनलेंड के डोनेर (Donner) तथा बैरन मुंक (Baron Munck) ने तुर्किस्तान तथा पश्चिमी चीन की यात्रा की। इसी वर्ष एक अन्य रूसी क्लेमेन्टज (Klementz) चीनी तुर्किस्तान गया तथा तुरफान से 17 मील उत्तर पूर्व में इदिकुतशहरी, जिसे डाकियानुस, कोयो अथवा काओं-छंग भी कहते हैं, को अपना अन्वेषण क्षेत्र बनाया। उसकी रिपोर्ट पर जर्मन विद्वानों ने विशेषतया तुरफान क्षेत्र में अन्वेषण कार्य करने की प्रेरणा की तथा प्रथम जर्मन अन्वेषण मंडल क्लेमेन्टज की अध्यक्षता में तुरफान गया। इसके पहले 1891 में कर्नल बोवेर (Bower) ने बांस के कागज पर हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किया जिसने इतिहासज्ञ विद्वत जगत में सनसनी पैदा कर दी। इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ की उपलब्धि रोमांचकारी ढंग से हुई। कुमंतुर स्तूप के निकट कूचा क्षेत्र में दो तुर्कों ने बांस के कागज पर लिखित यह ग्रन्थ प्राप्त किया। उन्होंने इसे कर्नल बोवेर के हाथ बेच दिया। कर्नल ने इसे बंगाल की एशियाटिक सभा को भेज दिया और वहां पर ह्वोर्नल (Hoernle) ने सर्वप्रथम इसके महत्व पर अपनी रिपोर्ट में प्रकाश डाला। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण था तथा गुप्तकालीन लिपि में था। इसकी तिथि ईसवी की द्वितीय से चतुर्थ शताब्दी तक के बीच में मानी गई तथा यह उतरी-पश्चिमी भारतीय क्षेत्र में लिखी गई थी। इस समय यह आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के बोडन पुस्तकालय में है। इसमें भिषज्--द्रव्य तथा अन्य सम्बन्धी विषयों का विवरण है। पलाण्डु (प्याज) की उत्पत्ति तथा इसके औषधिगुण का भी उल्लेख है तथा इसके सेवन से मनुष्य 100 वर्ष तक जी सकता है। अन्य भैषज् विषयों के अतिरिक्त चक्षुरोग के लिए अंजन का भी उल्लेख है। नवनीत के प्रकरण में अन्य पूर्व भिषज् ग्रन्थों से उद्धत अंश भी हैं। 16 अध्यायों में चूर्ण, तेल, सत, शलाकाभिद, सुधा, औषधि, औषधविधियों

इत्यादि विषयों की भी विवेचना की गई है। इनके अतिरिक्त शिशुओं के पालन-पोषण का भी विवरण है। जिन पूर्व भिषजों का उल्लेख है उनके नाम क्रमशः अग्निवेश, भेद, हारित, जातुकर्ण, क्षारपाणि, पराशर तथा शुश्रुत हैं। सबसे प्राचीन इस ग्रन्थ के रचयिता का नाम कहीं नहीं मिलता है पर यह पूर्णतया निश्चित है कि यह कोई भारतीय ही रहा होगा। यही मध्य एशिया से प्राप्त सबसे प्राचीन ग्रन्थ माना जाता था, पर अश्वघोष द्वारा लिखित 'सारिपुत्र प्रकरण' नामक नाटक के अंश इससे भी प्राचीन हैं। यह कुषाणकालीन है तथा इसे जर्मन विद्वान लूडर्स ने प्राप्त किया था। इनके अतिरिक्त फ्रांसीसी मंडल द्वारा प्राप्त 'धम्मपद' का संस्कृत स्वरूप 'उदान वर्ग' भी अति प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेखनीय है। यह भी कुषाणकालीन है।

1892 में एक फ्रांसीसी मंडल डूत्रे डे रिनस् (Dutreuil de Rhins) की अध्यक्षता में तिब्बत गया। उसने खोतान के निकट एक स्थान से खरोष्टी में लिखा एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किया। इस स्थान की समानता य्वांग-चांग द्वारा उल्लिखित गोश्रृंग विहार से की गई है। यह ग्रन्थ भी ईसवी की द्वितीय शताब्दी का है पर यह खरोष्टी में है जो उत्तरी-पश्चिमी भारत में ईसवी की चौथी शताब्दी तक प्रचलित थी। इसकी भाषा एक प्रकार की प्राकृत है। इस ग्रन्थ की महत्ता पर सेनार्ट नामक फ्रांसीसी विद्वान ने प्रकाश डाला है। इसी ग्रन्थ के कुछ अंश रूसी मंडल को भी मिले। इन ग्रन्थों की खोज के साथ साथ कूचा तथा तुरफान की गुफाओं के चित्र की ओर भी विद्वानों के अतिरिक्त स्थानीय निवासियों ने बड़ी रुचि दिखाई। अतः दोनों दिशाओं में अन्वेषण कार्य जोर पकड़ने लगा और इस सम्बन्ध में अंग्रेजी शासन ने सर्वप्रथम 1900–01 में सर आरेल स्टाइन की अध्यक्षता में चीनी तुर्किस्तान के दक्षिणी भाग में एक मंडल भेजा। इसने महत्वपूर्ण कार्य किया तथा 'प्राचीन खोतान' के नाम से उसका ग्रन्थ दो भागों में 1907 में प्रकाशित हुआ। इसके अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि मध्य एशिया के उस दक्षिणी क्षेत्र में भारतीय बौद्ध, चीन तथा मध्यपूर्वीय यूनानी प्रभाव पड़ा था। इसी समय एक स्वीड (स्वेडिस) स्वेन हेडिन (Seven Hedin) लोवनोर के उत्तरी पूर्वी भाग में गया जहां उसे ईसवी की प्रथम शताब्दी के नगर के अवशेष मिले जिनको वह प्राचीन लोलान समझा। वहां से वह बहुत सी लिखित काष्ट पट्टिकाएं (wooden tablets) लाया।

दक्षिणी चीनी तुर्किस्तान में स्टाइन के सफलतापूर्ण अन्वेषण ने जर्मन विद्वानों का उत्तरी क्षेत्र की ओर ध्यान दिलाया। ग्रुनवेडेल, हुथ तथा बारतुस नामक तीन विद्वान 1902-3 में तुरफान गए। ग्रुनवेडेल (Gruenwedel) ने कूचा के उत्तर-पश्चिम में भी कुछ प्राचीन नगरों के अवशेषों को देखा। 1904 में दूसरा अभियान फान ली काक (Von Le Coq) की अध्यक्षता में गया। इसमें पिछले अभियान के बारतुस (Bartus) भी थे। इसने तुरफान तथा निकटवर्ती क्षेत्र में उत्खनन कार्य किया। इसी काल में ग्रुनवेडेल की अध्यक्षता में एक अन्य जर्मन अभियान ने कूचा, कार्शाहार तथा तुरफान मरुद्यानों के क्षेत्र में छः स्थानों का पूर्णतया अन्वेषण किया। इन दोनों अभियानों के फलस्वरूप बहुत सी कलाकृतियां तथा चीनी, संस्कृत, सीरियक, सागडियन, तोखारियन, कूची और प्राचीन खोतानी भाषा में हस्तलिखित ग्रन्थ मिले।

भारतीय ब्रिटिश प्रशासन ने 1906 में सर आरल स्टाइन की अध्यक्षता में द्वितीय अभियान मध्य एशिया के प्राचीन स्थानों के अन्वेषण तथा उत्खनन हेतु भेजा। यह खोतान से पूर्व में तकलामकान के अन्तिम छोर तक गया। स्टाइन ने मुख्यतया खोतान, तथा पूर्व में डोमोको और नीया में उत्खनन कार्य किया। इस अभियान की सबसे बड़ी खोज तुन-हुआंग की 'सहस्त्र बुद्ध प्रतिमाओं' की गूहे (खोह) थी। यहां पर प्राचीन चीनी वृहत दीवार के अंश भी प्राप्त हुए। इनमें से एक गुफा में दीवार तोड़ने पर एक पुस्तकालय ही निकल आया। इससे प्रतीत होता है कि किसी आक्रमण के समय वहां के बौद्ध भिक्षुओं ने अपने पवित्र ग्रन्थों तथा रेशम के कपड़े पर बने सैकड़ों धार्मिक चित्रों को सुरक्षित रखने के लिए दीवार को चुनवा दिया था। यह घटना 11वीं शताब्दी की है। इन ग्रन्थों का अध्ययन स्वयं स्टाइन ने किया था तथा कुछ का फ्रांसीसी चीनी विद्वान पाल पिलियो ने भी किया था जो 1906-8 तक तुर्किस्तान में रहा। इनका पूर्ण विवरण स्टाइन ने अपने वृहत् ग्रन्थ 'सेरिन्डिया' में किया है जो पांच भागों में प्रकाशित हुआ है। स्टाइन के कथनानुसार मध्य एशिया में भारत, मध्य एशिया तथा पूर्वी एशिया की सभ्यताओं का संगम था और प्राकृतिक कठिनाइयां होते हुए भी व्यापार, धार्मिक अभियान तथा चीन की उग्रवादी नीति के बीच संघर्ष और समन्वय का वातावरण बराबर बना रहा। स्टाइन के इस अभियान के अन्तर्गत खोतान से बहुत सी प्राचीन कृतियां प्राप्त हुई। डोमको में संस्कृत, खोतानी तथा चीनी में हस्तलिखित ग्रन्थ, नीया

से खरोष्टी लिपि तथा प्राकृत में लकड़ी की पट्टियों पर लिखे अभिलेख, और बहुत से प्राचीन पदार्थ, लोउ-लान से, जो वृहत चीनी दीवार की सीमा में था, बहुत से चीनी और खरोष्टी में अभिलेख मिले। यह लेख ईसवी की तीसरी शताब्दी के हैं। मिरान से उत्खनन में लकड़ी और कागज़ पर तिब्बती अभिलेख मिले जो आठवीं शताब्दी के हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध विहारों के भित्तचित्र (Wall Paintings) विशेषतया उल्लेखनीय हैं। इनके नीचे खरोष्टी में अभिलेख हैं। स्टाइन के मतानुसार चित्रों की शैली से गंधार की यूनानी बौद्ध कला का प्रभाव प्रतीत होता है।

स्टाइन का तृतीय अभियान (1913–16) के काल में खोज किए हुए स्थानों में विस्तृत रूप से अन्वेषण तथा उत्खनन और उन्हीं क्षेत्रों में अतीत सम्बन्धी अन्य स्थानों को ढूंढ़ना था। दक्षिणी मार्ग से आगे बढ़कर वह कान-चाऊ तक पहुंचा। मार्ग में वह खोतान, नीया तथा तुन-हुआंग भी पुनः गया। दक्षिण पूर्व से वह उत्तर-पश्चिम में पाइशन के मरुस्थल को पारकर बरकुल, गुचेन तथा जिमस पहुंचा। इस बार स्टाइन ने उस मार्ग का अनुसरण किया था जिससे कश्मीर के शासक चीन के तांग वंशीय सम्राटों को भेंट भेजा करते थे। काशगर जाते समय उसने इदिकुल शहरी स्थान का अन्वेषण भी किया। यह तुरफान-तांग शासन काल तथा उसके बाद उइगुरों के समय में भी उस क्षेत्र की राजधानी रही। इसके अतिरिक्त लोउ-लन के पश्चिम में यी-पिन, कुचा, अक्सु तथा अन्य छोटे स्थानों का भी उसने अच्छी तरह से निरीक्षण किया। लौटते समय वह समरकन्द, खोरासान तथा सीस्तान के उस ईरानी भाग में भी गया जो प्राचीन काल में शक स्थान था। यहां से प्राप्त वस्तुओं से प्रतीत होता है कि यह ईरानी तथा यूनानी मध्य पूर्व सांस्कृतिक समागम का केन्द्र था और इस मिश्रित संस्कृति का प्रभाव उत्तरी-पश्चिमी भारत पर भी पड़ा था। यहां एक पथरीली चट्टान पर खोह-ख्वाजा में वृहत् बौद्ध विहार के अवशेष भी मिले जो ईरानी भूमि पर एक मात्र प्राचीन बौद्ध स्थान का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त सासनीकालीन भित्तचित्र (Frescoes) तथा एक गैलरी में यूनानी कला भी ऐसे चित्र मिले। इन चित्रों से गंधार, मध्य एशिया तथा सुदूर पूर्व की बौद्ध कला शृंखला में ईरानी कड़ी भी जुड़ी मिलती है। इस अभियान का उल्लेख स्टाइन ने अपने ग्रन्थ 'इनरमोस्ट एशिया' (अन्तर्तोत्तम एशिया) में किया है।

फ्रांसीसी, जर्मन तथा ब्रिटिश अभियानों के अतिरिक्त रूसी तथा जापानी अभियान भी मध्य एशिया में अन्वेषण कार्य हेतु समय-समय पर आए। 1876-77 में रेगेल ने इस्सीकुल तथा कुल्जा का अन्वेषण किया था और 1879 में वह तुरफान मरुद्यान क्षेत्र में दाकियानुस गया था। 1898 में क्लेमेन्टज नामक व्यक्ति गुनगारिया तथा चीनी तुर्किस्तान गया था तथा वहां से कुछ चित्र और हस्तलिखित ग्रन्थ भी लाया था। 1906-7 में बेरीसोवास्की कूचा गया पर उसका अभियान असफल रहा। 1908 में कजालोफ, खराखोटो नामक प्राचीन स्थान गया तथा वहां से वह मध्य कालीन तंगुत (तुर्की-मंगोली) भाषा वंशावली से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थ तथा चीनी अभिलेख लाया जो बहुत ही महत्व-पूर्ण थे। 1914 में एक रूसी अभियान तुन-हुआंग गया। रूसियों के अतिरिक्त जापानी भी मध्य एशिया में सर्वप्रथम 1904 में गए। काउंट ओटनी रूसी तुर्किस्तान, काशगर, कूचा तथा तुरफान गया। इसने बहुत से प्रागैतिहासिक अवशेष, मृतभाण्ड, मिट्टी की मोहरें, जो हान कालीन थीं, तथा गंधार कला के अवशेष और चीनी उईगुर और सागडियन हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किए। दूसरा जापानी अभियान तयीबान की अध्यक्षता में मंगोलिया, तिएन-शान, तुरफान, कूचा; लोवनोर तथा खोतान गया तथा बहुत से चीनी और कूची भाषा में अभिलेख वहां से प्राप्त किए। इनका प्रकाशन जापानी में हुआ।

फ्रांसीसी विद्वान भी मध्य एशिया के अन्वेषण अभियान कार्य में पीछे नहीं रहे। इसमें सबसे पहले सेनार्ट ने रुचि दिखाई। पिलियो की अध्यक्षता में एक अभियान 1906 में काशगर गया तथा वहां से कूचा गया। 1907 में कुछ उत्खनन कार्य किया तथा संस्कृत और कूची में ग्रन्थ एकत्रित किए। 1908 के आरम्भ में यह अभियान उरुम्तसी होता हुआ तुन-हुआंग गया। यहां पर पिलियो को भाग्यवश हस्तलिखित ग्रन्थों का एक भंडार मिल गया जो चीनी, तिब्बती, उइगुर तथा संस्कृत भाषा में थे। उस गुहा में तीन सप्ताह ठहरकर उसने उनकी सूची बनाई। यह सब बौद्ध धर्म से सम्बन्धित थे तथा इतिहास, भूगोल, दर्शन, साहित्य इत्यादि दृष्टिकोणों से भी इनका बड़ा महत्व था। इनकी तिथि 11वीं शताब्दी से पहले की थी। कहते हैं कि 1035 में पूर्व से आक्रमणकारी आए थे और इस विशाल पुस्तकालय की रक्षा के लिए भिक्षुओं ने ग्रन्थों को एक गुफा में रखकर उसका द्वार ईंटों से चुन दिया तथा उस पर मिट्टी का लेपन करके भित्तचित्र बना दिए जिससे किसी प्रकार की शंका न रहे। इस विशाल

भंडार में लगभग 3000 चीनी ग्रन्थ थे तथा मध्य एशिया ब्राह्मी में लिखे संस्कृत, कूची तथा खोतानी ग्रन्थों की संख्या भी इनसे कम नहीं थी। यह सब पेरिस के बिब्लिओथे के नेशनल संग्रहालय में सुरक्षित है।

क्लेमेन्टज, गुनवेडेल तथा फान ली काक द्वारा जर्मन अभियानों में एकत्रित हस्तलिखित ग्रन्थ तथा पुरावशेष जो तुरफान संग्रह के नाम से प्रसिद्ध हैं उस समय बर्लिन के म्यूजियम फार इन्डिसे कुन्स (भारतीय कला संग्रहालय) में सुरक्षित है। इनमें भित्तचित्र, लकड़ी के पदार्थ, चूने तथा मिट्टी के बने खिलौने इत्यादि हैं। इनकी निर्माण तिथि ईसवी की प्रथम से दसवीं शताब्दी है तथा इनसे प्रतीत होता है कि मध्य एशिया बौद्ध धर्म का केन्द्र था और यहां की जनता अधिकतर या तो भारतीय बौद्ध थी अथवा स्थानीय जनता ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। यह बात निश्चित है कि भारत से बहुत से बौद्ध विद्वान मध्य एशिया गये और, जैसा कि चीनी यात्री युवांग-चांग का कथन था, वहां पर बहुत से विहार और संघाराम थे जिनमें सहस्त्रों बौद्ध भिक्षु रहते थे। इस मध्य एशिया की प्राचीन संस्कृति, जिसमें भारतीय, ईरानी तथा चीनी संस्कृति भी जुड़ी हुई थी, की खोज में भी एक सौ वर्षों से अधिक काल में रूसी, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, तथा जापानी अन्वेषण और उत्खनन कर्त्ताओं ने अपना पूर्णतया अनुदान किया। प्राकृतिक कठिनाइयों की उपेक्षा करते हुए इन सभी देशों के विद्वानों ने अपने ध्येय में सदैव ही तत्परता दिखाई और उन्हीं के कठिन प्रयास के फलस्वरूप मध्य एशिया के प्राचीन इतिहास का चित्रण हो सका और हस्तलिखित ग्रन्थों, कलाकृतियों तथा पुरावशेषों का विशाल भंडार प्राप्त हो सका। विस्तृत रूप से तो साहित्य तथा कला में इन पर प्रकाश डाला जायेगा, पर सूक्ष्मतया प्रमुख साहित्यिक-धार्मिक उपलब्ध ग्रन्थों का उल्लेख आवश्यक है। इससे पहले 1920 से बाद के काल में रूसी विद्वानों द्वारा मध्य एशिया के रूसी क्षेत्र में उनके अन्वेषण तथा उत्खनन कार्य तथा प्राप्त सामग्री का उल्लेख भी किया जायेगा।[2]

रूसियों ने 1868 में समरकन्द पर अधिकार कर लिया था पर इससे पहले लेर्ख (Lerkh) की अध्यक्षता में एक पुरातात्विक अभियान दक्षिण-सीरदर्या क्षेत्र में जानकेत (ताशकन्द) गया तथा वहां उत्खनन किया। समरकन्द की स्थापत्य कला ने भी रूसियों की इस ओर रुचि जागृति की। इसके निकट आफरोसिआब (Afrosiab) नामक एक ाचीन स्थान था जिसकी ओर उनका ध्यान गया।

यहां 1875 से उत्खनन कार्य आरम्भ हुआ और बीच बीच में रुक-रुक कर यह बराबर चलता रहा। 1890 के दशक में मेर्व के प्राचीन नगर के अवशेषों का अन्वेषण हुआ। 1904 में फिलाडेलफिया विश्वविद्यालय के विद्वान पुम्पेली ने अकशाबाद के बाद जनाऊ स्थान के दो टीलों का उत्खनन किया जिसमें कांस्य युग के पुरावशेष मिले। 1917 की अक्टूबर क्रान्ति के बाद रूसियों का ध्यान इस ओर 1928 तथा 1932 के काल में गया। सागडियन भाषा में कुछ अभिलेख कला-ए-मुग से प्राप्त हुए तथा आमुदर्या के दाहिने किनारे पर स्थित एर्यतम से एक चित्रित पत्थर भी प्राप्त हुआ। 1930 के दशक में कई अभियान मास्को, लेलिनग्रेड तथा ताशकन्द की वैज्ञानिक संस्थाओं द्वारा मध्य एशिया के पुराअन्वेषण हेतु भेजे गए। 1937 में प्रसिद्ध पुरातात्विद ताल्सतोव की अध्यक्षता में खोरजेम क्षेत्र का अन्वेषण हुआ तथा बेरन्षतम (Bernshtam) ने कजाकिस्तान के दक्षिणी क्षेत्र में अन्वेषण कार्य किया।

पुरातात्विक अन्वेषण के फलस्वरूप मध्य एशिया में बहुत से नागरिक स्थानों के अवशेषों का पता लगा। इनमें से कुछ का यूनानी काल से सम्बन्ध है तथा कई कुषाण कालीन प्रतीत होते हैं। तरमेज़ नगर का सम्बन्ध डेमेट्रियस नामक शासक से है। यहां केवल उन्हीं का उल्लेख उपयुक्त होगा जिनका भारतीय धर्म तथा संस्कृति से सम्बन्ध रहा होगा। अर्यतम में 1936 में एक बौद्ध विहार के अवशेष मिले। इसकी तिथि उपलब्ध पुरावशेषों के आधार पर ईसवी की पहली दूसरी शताब्दी प्रतीत होती है और यह विशाल कुषाण साम्राज्य के अन्तर्गत था। अर्यतम के अतिरिक्त कर-तेपे में एक बौद्ध गुफा मन्दिर के अवशेष मिले। इनके अतिरिक्त कई और कुषाण कालीन प्राचीन स्थानों में उत्खनन कार्य हुआ। टोपरा-कला का 1938 में टाल्सटोव ने पता लगाया और 1945 से यहां उत्खनन कार्य आरम्भ हुआ जिसमें 'शासकों का प्रांगन' नामक एक 3000 वर्ग फीट के अन्तर्गत राजकीय प्रासाद स्थान निकला। कदाचित् मथुरा के कुषाण शासकों की प्रासाद वीथि (Royal Gallery) की भांति यह भी रही हो। कुषाण काल में मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का पूर्ण रूप से विकास हुआ था और यह कई शताब्दी तक चलता रहा। किरगिज गणराज्य की राजधानी फुर्जे से 11 मील पश्चिम में अक-बेशिन (Ak-Beshin) में दो बौद्ध मन्दिर तथा एक गिरजाघर उत्खनन में निकला। इससे प्रतीत होता है। कि बौद्ध धर्म के अतिरिक्त यहां ईसाई मत भी प्रचलित था। 1953–54 में कैज़लासोव

(Kyzlásov) ने नगर के बाहर 250 फीट लम्बे और 72 फीट चौड़े क्षेत्र में विशाल तथा मन्दिर के अवशेष प्राप्त किए। इसका प्रांगन 105 फीट लम्बा तथा 60 फीट चौड़ा है और दीवार की ऊंचाई कोई 10 फीट है। इसमें भिक्षुओं के रहने के लिए गृह बने हुए हैं। पश्चिम दिशा में 60 फीट लम्बे और 33 फीट चौड़े क्षेत्र में मन्दिर के अवशेष है। इसकी दीवारें चित्रित है तथा मूर्तियां अलंकृत हैं। पुराकृतियों में मुलम्बे किए ब्लाक मिले जिनमें बुद्धजी को वनस्पतियों (foliage) के बीच में ध्यानमुद्रा में दिखाया गया है। एक दूसरा मन्दिर क्रासनुमा क्षेत्र में बना है जिसके दो ओर प्रदक्षिणा है। यहां पर बुद्धजी का एक शीश मिला तथा दीवारों पर चित्र भी अंकित प्रतीत होते हैं। ईसाई गिरजाघर निस्टोरी जाति वालों का था और सीरियाई स्थाप्य कला पर आधारित था। 1957–58 में बुलातोवा में भी एक बौद्ध मन्दिर का उत्खनन हुआ। यहां पर भी बुद्ध अथवा बोधिसत्व की एक विशाल मूर्ति मिली तथा महायान मत से सम्बन्धित बौद्ध कला की देवी देवताओं के शीश तथा अन्य भाग भी मिले।

रूसी मध्य एशिया में सबसे प्रसिद्ध बौद्ध अवशेष ताजिकिस्तान के कुरगन त्यूबे से 11 मील दूर आक्षु घाटी में प्राप्त हुआ। यह विहार था जिसके दो भागों में प्रत्येक 150 वर्गफीट का था। इसी में एक स्तूप भी था तथा भिक्षुओं के रहने की कोठरियां भी बनी थीं। यहां पर भी दीवारों पर चित्र बने थे पर अब केवल उनकी कहीं कहीं झलक ही मिलती है। इनमें बुद्धजी तथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कला प्रदर्शित है जो शिल्प तथा चित्रों तक ही सीमित है। बुद्ध जी की निर्वाण प्राप्त अवस्था में एक 40 फीट लम्बी मूर्ति भी मिली है। यह कला कृतियां बौद्ध धर्म से सम्बन्धित होते हुए स्थानीय परिपाटी के अन्तर्गत है। इनमें गंधार कला का प्रभाव भी प्रतीत होता है। पेंजीकेन्ता में भी उत्खनन कार्य में आठवीं शताब्दी के सप्तम दशक, जब अरबों का आक्रमण हुआ था, से पूर्व की सभ्यता का चित्रण है। समरकन्द से 40 मील की दूरी पर पेंजीकेन्त के प्राचीन नगर के अवशेष आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है और यहां उस युग के नगर जीवन तथा जन स्थाप्य का चित्रण मिलता है। खेद है कि यहाँ बौद्ध कला की कोई कृति नहीं मिली। रूसी मध्य एशिया में अभी भी कई स्थानों में उत्खनन कार्य चल रहा है। वास्तव में भारतीय संस्कृति तथा बौद्ध धर्म का प्रवाह इस क्षेत्र में सीमित न रहकर चीनी तुर्किस्तान की ओर

वेग से बढ़ा इसीलिए यहां के पुरावशेषों का उतना महत्व नहीं है जितना कि 20वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थ भाग में अंग्रेजी, फ्रांसीसी तथा जर्मन विद्वानों के परिश्रम के फलस्वरूप चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त धार्मिक ग्रन्थों तथा बौद्ध कला कृतियों का है। इसलिए सूक्ष्म रूप से उनका उल्लेख भी आवश्यक है यद्यपि साहित्यिक-धार्मिक दृष्टिकोण से उन पर पृथक रूप से विचार किया जायेगा।

मध्य एशिया से प्राप्त हस्तलिखित ग्रन्थ[3]

मध्य एशिया से प्राप्त ग्रन्थ भारतीय लिपियों—खरोष्ठी तथा ब्राह्मी—में मिले हैं जो लगभग एक सहस्र वर्ष तक मध्य एशिया में प्रचलित रहीं। खरोष्ठी का प्रयोग दक्षिणी क्षेत्र के राज्यों में था जो खोतान से क्रोरेन (लू-लन-लोबनोर) तक के क्षेत्र में सीमित था। उत्तरी-पश्चिमी भारत में इस लिपि का चलन ईसवी की चौथी शताब्दी तक रहा और वहीं से भारतीय प्रवासियों द्वारा यह पूर्वी तुर्किस्तान भी ले जाई गई। मुख्यतया खरोष्ठी अभिलेख, जो लगभग 782 है, नीया, इन्देरे तथा क्रोरेन से प्राप्त हुए हैं। यह लकड़ी की पट्टियों पर लिखे हैं अथवा चमड़े के टुकड़ों और कौशेय-रेशम पर इनको अंकित किया गया है। यहे अधिकतर राजकीय प्रशासन से सम्बन्धित हैं। कहीं-कहीं पर बौद्ध धार्मिक सूत्र मिलते हैं। 'धम्मपद' ही अकेला इस लिपि का ग्रन्थ है जिसे दुत्रे ने पाया था। चौथी शताब्दी से इसके स्थान पर ब्राह्मी का प्रयोग होने लगा जो उत्तरी-भारतीय गुप्तकालीन लिपि से मिलती है। प्रसिद्ध वोओर (Bower) ग्रन्थ तथा 'विनयपिटक' के कुछ अंश, जिनको बेवर ने कूचा से प्राप्त किया था, इसी काल की लिपि में है। इसके बाद कूचा तथा कार्शाहार में ब्राह्मी लिपि पर स्थानीय प्रभाव पड़ने लगा। जो हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं उनकी भाषा प्राकृत अथवा संस्कृत है। खरोष्ठी अभिलेख प्राकृत में है जो कुषाण कालीन लेखों की भाषा से मिलती जुलती है। संस्कृत भाषा का प्रयोग बौद्ध धर्म के साथ हुआ जो सरवास्तिवादिन मत के रूप में वहां गया।

चौथी शताब्दी में महायान मत के प्रवेश से भी ग्रन्थों की भाषा में कोई परिवर्तन नहीं हुआ और खोतान, काशगर तथा कूचा में संस्कृत का ही प्रयोग हुआ। स्थानीय भाषाओं में अनुवाद भी हुआ पर इसके लिए उनके साहित्यिक स्तर को ऊंचा करने का प्रयास संस्कृत से शब्दों को लेकर हुआ। इन्हीं संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद बाद में चीनी में भी हुआ।

सरवास्तिवादिन मत से सम्बन्धित 'सूत्रपिटक' 'विनयपिटक' और 'अभिधर्मपिटक' तथा उनके चार आगम–दीर्घ, मध्यम, संयुक्त और एकोत्तर–ईसवी की चौथी से छठी शताब्दी के बीच काल में चीनी में अनुवादित किए गए। अनुवाद-कर्त्ता कश्मीर के निवासी थे। इनमें बुद्धयश ने 412–413 में दीर्घआगम, गौतम संघदेव ने मध्यआगम 397 में, गुणभद्र ने 'संयुक्तागम' 420–27 में, तथा धर्मनन्दि ने 384–85 में 'एकोत्तरागम' का अनुवाद किया। मध्य एशिया में 'सूत्रपिटक' के तीन आगम मिले। 'विनयपिटक' के अंश पूर्वी तुर्किस्तान के उत्तरी भाग से प्राप्त हुए। कूचा में दुलदुल-अंकुर से फ्रांसीसी अभियान दल के सरवास्तिवादिन मत का प्रातिमोक्ष सूत्र ग्रन्थ प्राप्त हुआ। यह कुमार-जीव द्वारा अनुवादित चीनी ग्रन्थ से मिलता है जिसे उसने 404 में किया था। इसी मत के ग्रन्थ 'भिक्षुणी प्रातिमोक्ष' के अंश भी फ्रांसीसी तथा जर्मन अभियान दलों को कूचा क्षेत्र से प्राप्त हुए। जर्मनों को तुरफान के निकट सोरकुक से मूल सरवास्तिवादिन विनय का 'महापरिनिर्वाण सूत्र' ग्रन्थ मिला। ऐसा ही एक ग्रन्थ कूचा के निकट के ज़िले से भी प्राप्त हुआ। मूल सरवास्तिवादिन मत कश्मीर में विकसित हुआ था। इनके अतिरिक्त सरवास्तिवादिन मत से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं जैसे 'अभि-धर्म पिटक', 'दशबल सूत्र', 'महानदानसूत्र' इत्यादि। दशबल सूत्र जनप्रिय था तथा एक चीनी अनुवाद कूचा में आठवीं शताब्दी में हुआ था जिसको एक चीनी दूत वू-कोंग ने स्थानीय भिक्षु वु-टि-सि-यु के साथ मिलकर किया था। जो महायान मत सम्बन्धी धार्मिक ग्रन्थ मिले हैं उनमें 'वज्रछेदिका', 'रत्नरासि सूत्र', 'रत्नध्वज' तथा 'महापरिनिर्वाण सूत्र', 'सधर्म-पुण्डरीक सूत्र' तथा 'सुवर्ण प्रभासोत्तम' सूत्र' प्रमुख हैं। प्राकृत में 'धम्मपद' तथा संस्कृत में 'उदानवर्ग' भी विशेषतया उल्लेखनीय हैं। यह दोनों ही मध्य एशिया में खोज की देन हैं।[4] प्रथम ग्रन्थ ईसवी की शताब्दी की खरोष्ठी लिपि में है। 'उदानवर्ग' की रचना धर्मत्रात नामक एक सरवास्तिवादिन विद्वान ने की थी जो कनिष्क का समकालीन था। इसका अनवाद तिब्बती तथा अन्य स्थानीय उपभाषाओं में भी हुआ था। चीनी अनुवाद भी है—यह है 'फ-क्यू-किंग' धर्मपद सूत्र जो 224 ई० में अनुवादित हुआ था। फ-क्यू-पि-यू-किंग-धर्मपद अवदान सूत्र, जो 290 और 306 ई० काल में अनुवादित हुआ था तथा यू-याओ-किंग जिसका अनुवाद 398–399 में हुआ था। अन्तिम ग्रन्थ संस्कृत

'उदानवर्ग' से अनुवादित है तथा अन्य दो प्राकृत ग्रन्थों पर आधारित है।

धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त मध्य एशिया से साहित्यिक ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं। तुरफ़ान से जर्मन अभियान को अश्वघोष के ग्रन्थों के अवशेष मिले हैं। यह बौद्ध कवि तथा दार्शनिक कनिष्क का समकालीन था और उसकी रचना 'बुद्ध चरित्र' तथा 'सौन्दरानन्द' मूल में उपलब्ध हैं। तीसरी रचना 'सूत्रालंकार' का अनुवाद कुमारजीव ने चीनी भाषा में किया है। इनके अतिरिक्त एक अन्य धार्मिक ग्रन्थ 'श्रद्धोत्पादशास्त्र' केवल चीनी भाषा में ही उपलब्ध है। मध्य एशिया में 'बुद्धचरित्र' के अंश तुरफान से प्राप्त हुए जिससे प्रतीत होता है कि इसका अध्ययन मध्य एशिया में होता था। वहीं से एक नाटक 'सारिपुत्र प्रकरण' भी प्राप्त हुआ जिसका रचयिता भी अश्वघोष था। उपलब्ध नाटकों की शृंखला में यह सबसे प्राचीन है। यह संस्कृत में है, पर पात्रों की बोलचाल की भाषा प्राकृत है। 'सूत्रालंकार' की भांति एक अन्य ग्रन्थ 'कल्पनामण्डितिका' भी तुरफान से प्राप्त हुआ जिसका लेखक उसी ग्रन्थ की अन्तिम पंक्ति के अनुसार कुमारलात था जो तक्षशिला से आया एक बौद्ध भिक्षु था तथा एक बौद्ध किंवदन्ती के अनुसार वह उत्तरी क्षेत्र का देदीप्यमान सूर्य था जैसे अश्वघोष पूर्वी, नागार्जुन पश्चिमी तथा आर्यदेव दक्षिणी क्षेत्रों में थे। उसे भारत से किए-पन-तो (तष्कुर्गन-पामीर) क्षेत्र ले जाया गया था। चीन में भी यह प्रसिद्ध था और दूसरे प्रमुख ग्रन्थ 'दृष्टान्त पंक्ति' शास्त्र, जो वास्तव में 'कल्पनामण्डितिका' का ही नाम है, का चीनी भाषा में भी अनुवाद हुआ था।

मातृचेत की पद्य रचनाओं के अंश मूल संस्कृत तथा तोखारी अनुवाद में मध्य एशिया से प्राप्त हुए हैं। उसकी प्रमुख बुद्ध स्तुतियों का अनुवाद तिब्बती और चीनी भाषा में भी हुआ है। मूल संस्कृत रचना 'सप्तपंचशतिका स्रोत'[5] नाम से प्रसिद्ध है। इनमें से कुछ पद्य श्लोकों को प्रत्येक बौद्ध भिक्षु को बुद्ध जी की स्तुति के लिए कंठस्त करना पड़ता था। मध्य एशिया में यह लोकप्रिय था तथा 'सप्तपंचस्रोत' की मूल संस्कृत प्रतिलिपि मध्य एशिया के कई स्थानों जैसे, जिग्दलिक, वाई, तुन-हुआंग तथा खोरा से प्राप्त हुई तथा इसका तोखारी में अनुवाद तुरफान से प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त 'चतुहशतक स्रोत' के अंश भी प्राप्त हुए। इन धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त भेषज्य विज्ञान सम्बन्धी प्रसिद्ध वोओर (Bower) ग्रन्थ का उल्लेख पहले

ही हो चुका था तथा इनमें पूर्व भैषज्य अग्निवेश, मेड़, हारित, जानुकर्ण, पराशर, शुश्रुत इत्यादि के उल्लेख से प्रतीत होता है कि मध्य एशिया में भारतीय भेषज्य तथा शल्य के विषय में पूर्णतया जानकारी थी[6]। भारतीय ग्रन्थों का कूची तथा खोतानी भाषा में अनुवाद भी हुआ था। यह भी ज्ञात होता है कि वहां के स्थानीय चिकित्सक भारतीय प्रणाली का प्रयोग करते थे।

स्थानीय कूची भाषा के अतिरिक्त तोखारी में भी ग्रन्थों का अनुवाद हुआ था। इनमें से बहुत से ग्रन्थ जर्मन अभियान को काराशर तथा तुरफान क्षेत्र से प्राप्त हुए। यहां की बोलचाल की भाषा कूची थी। इस क्षेत्र की बौद्ध गुफाओं में भी चित्रों के नीचे जो लेख अंकित हैं वह भी कूची में हैं। लगभग 417 पुरा अंश संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों से अनुवादित हैं तथा उनमें से कुछ मूल संस्कृत तथा कूची अनुवाद सहित हैं। सरवास्तिवादिन विनय के विहारों में बौद्ध भिक्षुओं के अनुशासन से सम्बन्धित ग्रन्थों में 'प्रातिमोक्ष', 'प्रायश्चितिक' तथा 'प्रतिदेशनीय' जिनका मुख्य रूप से उपयोग होता था, का कूची में अनुवाद प्राप्त हुआ था। उपलब्ध भैषज्य तथा तांत्रिक ग्रन्थों में बहुतों का अनुवाद भी विद्वानों ने किया है। 'योगशतक' में भैषज्य ग्रन्थों में संकलित अंश हैं जिनका प्रयोग प्रायः सभी चिकित्सक करते थे। पिलियो, स्टाइन तथा बोओर तथा अन्य अभियानों में प्राप्त ग्रन्थों में बहुत से चिकित्सा शास्त्र से सम्बन्धित हैं जो चरक तथा शुश्रुत संहिता पर आधारित हैं। इनके अतिरिक्त दो भारतीय भैषज्य ग्रन्थों का अनुवाद खोतानी में भी उपलब्ध हुआ है। यह ग्रन्थ 'सिद्धसार' तथा 'जीवक पुस्तक' है। पहला ग्रन्थ रवि गुप्त द्वारा अनुवादित था तथा तिब्बती अनुवाद पर आधारित था।

कुछ अन्य बौद्ध ग्रन्थ सागडियन भाषा में भी उपलब्ध हुए हैं जिसका सम्बन्ध पूर्वी तुर्किस्तान से था जहां सागडी व्यापारी जाकर बस गए थे। यह ग्रन्थ 'दीर्घ नख सूत्र', 'वेस्सान्तर जातक', 'विमलकीर्ति निर्देश', 'ध्यान सूत्र', 'धूतसूत्र', 'नील कण्ठ– धारणी', 'पद्यचिन्तामणि–धारणी सूत्र' है। नवीं शताब्दी में मध्य एशिया में उईगुर साम्राज्य की स्थापना से बौद्ध धर्म को कोई क्षति नहीं पहुँची। इस तुर्की जाति ने भी बौद्ध धर्म की कला, संस्कृति तथा साहित्य को अपनाया और तोखारी भाषा में अनुवादित ग्रन्थों का अनुवाद तुर्की भाषा में हुआ। "मैत्रेय संहिता" नाटक, 'सुवर्ण प्रभास सूत्र', जातकी, 'कल्याणांकर सूत्र' आदि का अनुवाद हुआ। कुछ तुर्की अभिलेख ब्राह्मी में भी हैं।

मध्य एशिया के क्षेत्र में अभी भी पूर्ण रूप से अन्वेषण एवं

उत्खनन कार्य नहीं हो सका है। १६ वीं शताब्दी तक जो अभियान इस क्षेत्र में आये उनका उद्देश्य पुरा अवशेषों की प्राप्ति तथा जीव, वनस्पति अनुसंधान तथा भौगोलिक परीक्षण था। जिन व्यक्तियों ने मध्य एशिया में अन्वेषण किया, वे थे : कैरे (Carey 1885–1386) डीसे (Deasy 1896–99), मर्जबचेर (Merzbacher 1902–03), एटकिंसन (Aitkinson 1849 – 59), आस्टिन सैक्लेस (Osten-Sackles 1867), हेवर्ड (Hayward 1808), कुरोपैटकिन (Kuropatkin 1886-87), बुनवेलोफ (Bunvalog 1889–90), वेलरी तथा मालकम (Welry & Malcom 1876), रंगेल (Regel 1876–79), बेल (Bell–1889), पेवत्सोफ तथा प्रिज्लेवेल्सकी (Pevtsof & Przlevalosky 1879-80); (1884-85), ग्रुमग्रिजहिमैलो (Grum Grzhimailo 1889-90), डनमोर (Dunmore 1892), यंगहसबैंड (Young Husband 1887), डवेंग्न (Davergne 1883), जो कायवरलैंग तथा वोओर के साथ गया था। 1874 की स्वेन हेदिन नामक स्वीडन की यात्रा बहुत ही महत्वपूर्ण थी। वह पहले से ही ईरान में अपने अन्वेषण कार्य के लिए प्रसिद्ध हो चुका था। 1890 में उसका ध्यान मध्य एशिया की ओर गया और अपने से पहले अन्वेषण कर्ताओं के अनुभव से लाभ उठाकर वह पामीर के वर्फीले क्षेत्र का अन्वेषण कर काशगर वापस आ गया। 1895 में वह काशगर और मारकन्द के बीच क्षेत्र के अन्वेषण कार्य में लग गया। अप्रैल में उसने खोतान और यारकन्द नदियों के बीच तकला माकान को पार किया। इसमें वह प्रथम यात्री था। दिसम्बर 1895 में वह पुनः उधर गया तथा उसे कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों के अंश प्राप्त हुए जो उसे रेगिस्तान के किसी नगर में मिले थे। फिर वह तिब्बत की ओर गया। वह उस काल में लगभग 14,600 मील चला तथा उसने 6250 मील क्षेत्र के नक्शे बनाए।

रूसी तथा स्वीड अन्वेषण कर्ताओं के अतिरिक्त जिन अंग्रेजों ने 19वीं शताब्दी में अन्वेषण कार्य में रुचि दिखाई थी, वे थे : कैप्टन डेर्जी (Deasy) जो 1896, 1897 में तिब्बत तथा यारकन्द की ओर प्राचीन अवशेष तथा नगर ढूंढ़ निकालने में असफल रहे। वास्तव में सर आरल स्टाइन तथा उनके भारतीय सहयोगी रामसिंह को मध्य एशिया में अन्वेषण तथा उत्खनन का श्रेय है जिसका पूर्णतया क्रमिक रूप से उल्लेख पहले ही हो चुका है। 1901 में नीया तथा इन्देरे, 1906 में डोमको तथा निचले

दो स्थान, 1907–8 में कांसु तथा तुन-हुआंग क्षेत्र, तथा तुरफान और दक्षिणी क्षेत्र में अक्षु और 1913–16 के काल में कश्मीर से चीन की ओर जाने वाले नए मार्ग से मरलवशी तथा काशगर गया और पुनः खोतान आया जहां से वह नीया गया। इन्देरे तथा छेरछेन से उसे बहुत से ग्रन्थ तथा रेशम के टुकड़े मिले। लू-लान में उसने उत्खनन कर ईसवी की चौथी शताब्दी के अवशेष प्राप्त किए। वहां से वह तुन-हुआंग गया जहां बहुत से ग्रन्थ मिले तथा करखोतो, कान-चाऊ होता हुआ तुरफान पहुंचा। उसने बैज़ालिक गुफाओं के भित्तचित्र भी प्राप्त किए। स्टाइन द्वारा संचित किए हुए विशाल मध्य एशियाई अवशेष, जिनमें भित्तचित्र प्रमुख है, राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली में है तथा कुछ लन्दन के ब्रिटिश संग्रहालय में भी है।

फ्रांसीसी अभियानों द्वारा उपलब्ध पुरावशेषों में ग्रन्थ तो पेरिस के बिब्लिओथिक नेशनल तथा कलाकृतियां म्यूजेगिमे में सुरक्षित हैं। जर्मनों द्वारा संचित कलाकृतियां तथा ग्रन्थ और लकड़ी के पदार्थ, मिट्टी के खिलौने इत्यादि बर्लिन के इन्डिसे कुत्स (भारतीय कला) संग्रहालय में है। यह कलानिधि ईसवी की प्रथम से दसवीं शताब्दी तक के काल की है जिस समय मध्य एशिया में बौद्ध धर्म पूर्णतया विकसित था तथा वहां की अधिकतर जनता इसी धर्म की अनुयायी थी। सम्पूर्ण उपलब्ध ग्रन्थ जो गुफा मन्दिरों अथवा विहारों से प्राप्त हुए, संस्कृत, तोखारी, मनीसियन, उइगुरियन, तिब्बती तथा मंगोली भाषा तथा उपभाषा में हैं और इनकी लिपि ब्राह्मी, तिब्बती, चीनी तथा उइगुरियन है। जिन पदार्थों पर यह लिखित है वे तालपात्र, मोटे काग़ज तथा कपड़े हैं। चित्रों में मुख्यतया किजिल, तुमशुक, कुमतर, शोरचुक तथा बैज़ालिक से प्राप्त हुए हैं तथा इनमें बुद्ध जी की जीवनी तथा जातक कथाएं चित्रित हैं। बर्लिन संग्रहालय तथा भारतीय राष्ट्रीय संग्रहालय में अधिकतर मध्य एशिया से प्राप्त चित्र सुरक्षित हैं। लकड़ी की कलाकृतियां अधिकतर किज़िल से प्राप्त हुई तथा इसके अतिरिक्त तुमशुक, शोरचुक, कुमतुर, मुरतुक, खोयो और तोयोक से प्राप्त हुए। इनमें बुद्ध, बोधिसत्व, लोकपाल तथा अन्य देवी देवताओं की प्रतिमाएं हैं तथा कुछ गायक भी दिखाए गए हैं। यह कृतियां या तो लकड़ी को तक्षण कर (तराश कर) बनाए गई हैं अथवा लकड़ी पर चित्रित हैं। चूने तथा पकी मिटटी की बनी मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। कुछ चित्रित भी हैं। यह किज़िल, शोरचुक, कुमतुर, यार-

खोतों तथा खोयों से प्राप्त हुई है। कुछ भाण्डपात्र भी मिले हैं जिनपर सुन्दर चित्र अंकित हैं। खोतान के निकट योतकन नामक प्राचीन स्थान से एक सुन्दर सम्पूर्ण पात्र मिला जिसपर मदिरा पान करता दृश्य चित्रित है।

इस सम्पूर्ण उपलब्ध सामग्री, जो मध्य एशिया के विभिन्न अभियानों के प्रयास से प्राप्त हुई है तथा जिसका प्रकाशन भी हो चुका है, उस विशाल क्षेत्र की प्राचीन संस्कृति का चित्रण करने के लिए पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त बौद्ध ग्रन्थों से तथागत के धर्म के प्रसारण तथा स्थानीय जनता के अनुदान के फलस्वरूप वहां पर साहित्य तथा कला क्षेत्रों में जो प्रगति हुई उसका वहाँ के कला केन्द्र, मुख्यतया तुन-हुआंग की एक सहस्त्र बुद्धों की गुहाओं से पता चलता है। मध्य एशिया वास्तव में भारतीय सांस्कृति, धर्म तथा कला का एक प्रमुख केन्द्र ही न था पर उसका अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक अस्तित्व भी था। पाश्चात्य यूनानी, ईरानी, तुर्की और पूर्वीय चीनी मंगोली संस्कृति का यहां भारतीय तथा स्थानीय संस्कृति के साथ संगम हुआ। भारतीय सांस्कृतिक लहर का श्रोत उत्तरी पश्छिमी भारत, मुख्यतया कश्मीर, था जहां से विद्वान वहां गए। वे केवल मध्य एशिया तक ही सीमित न रहे, वरन् उन्होंने बौद्ध धर्म तथा कला को और आगे भी चीन, जापान, कोरिया तक प्रसारण किया। इस विशाल सांस्कृतिक वांङमय में मध्य एशिया का अपना अनुदान रहा। वहां पर भारतीय संस्कृति ने लगभग एक सहस्त्र वर्ष तक अपना अस्तित्व स्थापित रखा। इसी संस्कृति के विभिन्न अवयवों––सामाजिक–आर्थिक जीवन, धार्मिक परिवेषण, साहित्यिक विकास तथा कला कृतियों का विस्तृत रूप से अध्ययन अनिवार्य है जो अगले अध्यायों में किया जायेगा।

1––मध्य एशिया में अतीत की खोज का कार्य लगभग एक शत (सौ) वर्ष से चल रहा है। अन्वेषणकर्त्ताओं एवं पुरातत्विज्ञों के वृतान्त का एक पुस्तक भंडार बन सकता है। पाश्चात्य देशों में मुख्यतया फ्रांसीसी, जर्मन, ब्रिटिश तथा स्वीडिश और फिनिश विद्वानों एवं रूसियों ने इस विशाल क्षेत्र में अन्वेषण कार्य किया तथा बहुत से स्थानों पर उत्खनन भी किया गया। उपलब्ध सामग्री को सभी लोग उठा ले गए। चीनी तथा जापा-

तियों ने भी इस क्षेत्र के पूर्वीय भाग में अन्वेषण कार्य किया। अभी भी बहुत से प्राचीन स्थान पृथ्वी के गर्त में दबे हैं। डाब्स ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ दी डिस्कवरी एण्ड एक्सप्लोरेशन आफ चाइनीज तुर्किस्तान' (हेग–1963) में इसका विस्तृत रूप से वृतान्त दिया है। एन0 पी0 चक्रवर्ती ने भी संक्षिप्त रूप से अपनी पुस्तक 'इन्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया' में इस अन्वेषण कार्य का विवरण दिया है। (देखिए : कालिदास नाग—'ग्रेटर इंडिया' (बम्बई 1960) पृ० 231 से)। यह संक्षिप्त विवरण इन दोनों ग्रन्थों के आधार पर है।

2—रूसी पुरातत्विदों द्वारा मध्य एशिया में अन्वेषण तथा उत्खनन का कार्य बड़ी तेजी से हुआ है। मध्य एशिया के विभिन्न गणराज्यों के अन्तर्गत प्राचीन स्थानों की खोज हुई और उत्खनन करके वहाँ से प्राप्त कलाकृतियों को प्रायः लेलिनग्राड के प्रसिद्ध संग्रहालय 'हरमिटेज' में भेज दिया गया। इन स्थानों का विवरण बहुत सी रूसी भाषा में प्रकाशित पुस्तकों में है। इनमें से एक पुस्तक अलेकजन्दर वेलेनिटस्की 'सेन्ट्रल एशिया' का अनुवाद जेम्स होगर्थ ने किया है जो इसी दशक में प्रकाशित हुआ है। रूसी उत्खनन का वृतान्त इसी पुस्तक एवं कुछ अन्य लेखों एवं प्रकाशनों पर आधारित है जो लेखक को मध्य एशिया की अपनी यात्रा (सितम्बर 1968) में दुशान्वे (ताजिकिस्तान) में हुए 'कुषाण सम्मेलन' में प्राप्त हुए थे।

3—इन ग्रन्थों का उल्लेख विभिन्न अभियानों द्वारा प्रकाशित रिपोर्टों में मिलता है। इनके आधार पर एन0 पी0 चक्रवर्ती ने अपनी पुस्तक 'इन्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया' में किया है (देखिए : कालिदास नाग का विस्तृत ग्रन्थ 'ग्रेटर इंडिया' बम्बई 1960, जिसमें यह पूर्ण रूप से उद्धत है, पृ0 281–268)। बागची ने भी अपनी पुस्तक 'इंडिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया' में इनका उल्लेख किया है (पृ0 90 से)। इनके अतिरिक्त मध्य एशिया के विद्वानों का बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का विवरण रेनो और फिलओजा के ग्रन्थ लांड क्लासिक–टोम 2–में भी मिलेगा (पैरा 2967 से आगे)। इसमें चीनी बौद्ध साहित्य का भी उल्लेख है।

4—द्रुत्रे द्वारा 'धम्मपद' की पोथी का उल्लेख पहले ही हो चुका है। यह खरोष्ठी लिपि में है। दूसरे 'धम्मपद' की पोथी प्राकृत भाषा में है और

यह भी मध्य एशिया में खोज की देन है। पाली 'धम्मपद' बौद्धमत से संबद्ध थी और प्राकृत 'धम्मपद' किसी दूसरे बौद्ध मत से सम्बन्धित रही होगी। इसके अतिरिक्त स्टाइन, ग्रुनवेडेल तथा पिलियो के अभियानों ने संस्कृत ग्रन्थ 'उदानवर्ग' के अवशेष भी मध्य एशिया से प्राप्त किए। स्टाइन संग्रह के अंशों का प्रकाशन पुसान ने जे0 आर0 ए0 एस0 1912, पृ0 356–77) में किया तथा एन0 पी0 चक्रवर्ती ने पिलियो द्वारा प्राप्त 'उदानवर्ग' ग्रन्थ का प्रकाशन किया। (बागची–'इंडिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया' पृ0 99)।

5--मातृचेत एक बौद्ध लेखक था जिसकी समानता तारानाथ ने अश्वघोष से की है, पर चीनी यात्री ईतसिंह ने इन दोनों को भिन्न माना है। यह एक समृद्ध ब्राह्मण संघगुहा का पुत्र था और उसने एक बौद्ध व्यापारी की कन्या से विवाह किया था। पहले यह महेश्वर शिव का भक्त था और उनके लिए बहुत से स्रोतों की रचना की पर बाद में आर्यदेव ने इसे बौद्ध धर्म में दीक्षा दी। इसने कई ग्रन्थों की रचना की जिनमें 'शतपंचाशतक' सबसे प्रसिद्ध है। इसका अनुसाद शेकेल्टनवेली ने किया है (कैम्ब्रिज 1951)। इसके अतिरिक्त 'वर्णहेवर्ण स्रोत्र' (चतुहश तक), तथा 'महाराज कनिक लेख' भी है और इनका अंग्रेजी में अनुवाद एफ0 डब्लु0 टामस ने किया है (मातृचेत के जीवन एवं कृतियों के विषय में टामस का लेख 'इन्सावलोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स, वाल्यूम 8 पृ0 495 (बी)–197 (ए) तथा वेली के ग्रन्थ में मिलेगा (पृ0 1 से)।

6--भेषज्य ग्रन्थों का अध्ययन लेवी एवं फिलियोजा ने किया है। फिलियोजा ने इनका उल्लेख 'लांड क्लासिक' में भी किया है (रोमन पैरा 1661–1666 पृ0 157–159 तक। बागची ने भी इनका विवरण दिया है। 'इंडिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया', पृ0 104 से।

अध्याय 4

सांस्कृतिक जीवन

मध्य एशिया के प्राचीन निवासियों के सामाजिक जीवन का अध्ययन वहाँ से प्राप्त लेखों तथा कलाकृतियों द्वारा ही किया जा सकता है। इस विशाल क्षेत्र में न तो एक ही जाति के लोग रहते थे और न उनका साधारण जीवन ही एक सा था। घुमन्तू जाति के लोग तो एक ही स्थान पर कभी न टिक सके। राजनैतिक तथा आर्थिक परिस्थितियों ने सदैव ही उनके जीवन पर अपना प्रभाव डाला तथा उसको नया मोड़ दिया। एक ओर चीन के निकट होने के कारण तथा दूसरी ओर पश्चिम से ईरानी प्रभाव ने भी जन-जीवन पर अपनी छाप डाली। जो भारतीय उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र से मध्य एशिया गये तथा वहीं पर बस गये उन्होंने भी अपनी सामाजिक परम्पराओं को नहीं छोड़ा तथा इनका प्रभाव भी स्थानीय जीवन पर पड़ा। इनके अतिरिक्त बौद्ध मठों, विहारों में नियंत्रित जीवनचर्या के कारण, भिक्षुओं को कोई नवीन परम्परा स्थापित करने का अवसर न था। य्वांग-चांग के मतानुसार मध्य एशिया में बहुत से स्थानीय राज्यों में सैकड़ों तथा सहस्त्रों की संख्या में भिक्षु रहते थे तथा साधारण बौद्ध भी थे जिनका जनता पर प्रभाव था। चीनी तुर्किस्तान के नीया, इन्देरे तथा लो-लान नामक स्थानों में जो 782 खरोष्टी लेख प्राप्त हुए हैं, उनके अध्ययन से इस क्षेत्र की सांस्कृतिक परिस्थिति का बहुत कुछ पता चलता है।[1] बहुत से व्यक्तियों के नाम भारतीय प्रतीत होते हैं जैसे आनन्दमित्र, बुधमित्र, धम्मपाल, पुन्यदेव, वासुदेव इत्यादि।[2] इनसे वहाँ की संस्कृति में भारतीय अनुदान का पता चलता है तथा यह भी प्रतीत होता है कि भारतीयों ने वहां की जीवन व्यवस्था में कहाँ तक अपना प्रभाव डाला था। यह तो साधारण सा नियम है कि दो संस्कृतियों के समागम से एक मिश्रित संस्कृति का जीवन होता है जिसमें वैदेशिक प्रभाव अधिक होता है पर बाद में स्थानीय प्रभाव उसको अंगीकार कर अपना ही रूप दे देती है। ऐसा ही मध्य एशिया में भी हुआ। लगभग एक सहस्त्र वर्ष के लम्बे काल

में मध्य एशिया के जन-जीवन में भी बहुत कुछ परिवर्तन हुए । लेखों के आधार पर केवल उसी समय के जीवन पर प्रकाश डाला जा सकता है और भारतीय तत्वों का निरीक्षण भी यहाँ की जीवन पद्धति के संदर्भ में किया जा सकता है । सांस्कृतिक जीवन के अन्तर्गत सामाजिक-आर्थिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा कला कृतियाँ आदि विषय आते हैं । इनमें से इस अध्याय में केवल प्रथम दो अवयवों को लेकर ही वहाँ के जीवन प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा ।अन्य तीन पृथक रूप से विभिन्न अध्यायों का विषय होंगे ।

सामाजिक जीवन[3]

इसके अन्तर्गत सामाजिक संगठन, जाति व्यवस्था, सामूहिक कुटुम्ब परिपाटी, स्त्रियों का समाज में स्थान, विवाह, खानपान, वेशभूषा, दास्यप्रथा, मनोरंजन के साधन, दाह संस्कार इत्यादि विषय आते हैं । सामाजिक संगठन वास्तव में जाति और कुटुम्ब को लेकर ही होता है । विभिन्न जाति के लोग अपने जनपद अथवा गाँव में एक साथ रहकर एक प्रकार से नियंत्रित व्यवस्था स्थापित कर लेते हैं । उनका अध्यक्ष या मुखिया समाज में प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है जो पारस्परिक सुख-दुख सम्बन्धी विषयों पर अपना आदेश देता है । उसकी आज्ञा का पालन अनिवार्य रहता है अन्यथा व्यक्ति को समाज से बहिष्कृत होने का डर रहता है । इसी अनुशासन की भावना समाज से कुटुम्ब में भी आती है और गृहपति अथवा गृह स्वामी इसी प्रकार से अपने कुटुम्ब के अन्य व्यक्तियों पर अपना नियंत्रण रखता है । व्यक्ति कुटुम्ब से और कुटुम्ब जनपद (के समाज नियंत्रण) से बँधा रहता है । इस सामूहिक कौटुम्ब प्रथा का चलन हमको मध्य एशिया में भी मिलता है । यहां से प्राप्त लेखों में कुटुम्ब में पिता, माता, भ्राता तथा लड़कियों (कुड़ी) का उल्लेख है (नं0 164, 195) । जिगुत महिरिय (महाराज), देवपुत्र के राज्यकाल के 15वें वर्ष में भरास के कुछ निवासियों ने एक धार्मिक उत्सव मनाया, जिसमें उसके बन्धु, वसु, उपगेय, सुगीय, वुरु, कुलए, वुरुविसाए तथा कुतग ने भाग लिया था । एक अन्य लेख (नं0 288) में धर्मप्रिय द्वारा अपने ज्येष्ठ भ्राता चोज़वो बुद्धरयि के प्रति आदर सम्मान की भावना प्रदर्शित की गई थी । माता पत्नी, पुत्र तथा पुत्री के साथ गृहस्वामी को न्यायालय में बुलाये जाने की सूचना का उल्लेख एक लेख (नं0 450) में मिलता है । इसका कारण

स्वामी द्वारा कर न देना था, तथा भूमि बेच देने की आज्ञा देने के समय परिवार के सभी व्यक्तियों को बुलाया गया था। इससे प्रतीत होता है कि यह सब प्राणी एक ही परिवार का अंग थे। इसी संदर्भ में एक अन्य लेख (नं० 362) से भी इसकी पुष्टि होती है। लेख में 'विशजितग' (संस्कृत विशः) का उल्लेख है जिससे कुटुम्ब का संकेत होता है। इनके अतिरिक्त लेखों में कुछ पत्रों का भी उल्लेख है जिनसे सामूहिक कुटुम्ब प्रणाली तथा संगठित जीवन की झलक मिलती है। इन लेखों में प्रेषक अपने निकट सम्बन्धी को पत्र लिखने में आत्मीयता दिखाता है, जैसे प्रिय, जामातृ, प्रिय युत (पुत्र), प्रिय धितु (धात्रि), प्रिय भ्रात (भ्राता) इत्यादि। बहुत से पत्रों में पुत्रों द्वारा पिता को (नं० 552), पुत्र द्वारा माता, पिता तथा अन्य सम्बन्धियों (नं० 164), दम्पत्ति द्वारा पिता को (नं० 702, 476), पिता द्वारा पुत्र को (न० 109, पिता द्वारा दोनों पुत्रों को (नं० 106), माता पिता द्वारा पुत्र-वधु तथा अन्य व्यक्तियों को (नं० 475) भी पारिवारिक समस्याओं से अवगत कराया गया है। माता पिता तथा पुत्रों के बीच पत्र व्यवहार के अतिरिक्त, भ्राताओं के बीच भी यह स्वाभाविक रूप से होता था। (नं० 139, 152, 157, 499, 519)। एक बौद्ध भिक्षु द्वारा अपने अपने भाई को पत्र लिखने से यह प्रतीत होता है कि संघ में प्रवेश करने के बाद भी कुटुम्ब के प्रति अनुराग बना रहता था। (न० 646)। दो लेखों में 'कल्याण-कारी मित्र' का उल्लेख है (नं० 499, 612) तथा शीघ्र ही उत्तर भेजने का भी आग्रह किया गया है (नं० 247)। पुरुषों के अतिरिक्त स्त्रियों के बीच भी पत्र व्यवहार का उल्लेख मिलता है। एक लेख (नं० 316) में एक बहिन द्वारा लिखे गए पत्र में दूसरी को प्रियदर्शिनी कहकर सम्बोधित किया गया है। (न० 756) रक्त सम्बन्धियों के अतिरिक्त स्त्री के भाई सालि (श्याला) को भी कई पत्र सम्बोधित है (नं० 140 475, 702)। एक अन्य पत्र पुत्री तथा जामातृ को लिखा गया था (नं० 690)। पत्रों में सुखद (नं० 702) तथा दुखद (नं० 399) समाचार भी भेजे जाने का उल्लेख है। इन पत्रों को उनमें लिखे शब्दों के प्रयोग तथा सांकेतित भाव-नाओं के संदर्भ में पढ़ने पर यह प्रतीत होता है कि सामाजिक परम्परा सामूहिक कौटुम्बिक प्रणाली पर आधारित थी। पत्रावली के शब्द पूर्णतया भारतीय हैं और इनसे यह प्रतीत होता है कि किस प्रकार से भारतीय

शिष्टाचार ने सामाजिक क्षेत्र में सामूहिक कुटुम्ब प्रथा को लेकर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। जिन शासकों के नाम मिलते हैं उनसे भी उनके भारतीय होने का संकेत मिलता है। खोतान के विजय वंश का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। नीया से ,देवपुत्र जितुग वषुमन का कई लेखों में उल्लेख है (नं० 195, 204, 209)। 'जितुग मयिरि (नं० 222) के उल्लेख से प्रतीत होता है कि जितुग शब्द शासक की उपाधि का द्योतक है। इसका उल्लेख अन्य लेख (214) में भी है। एक लेख में कल (काल) कुणाल का उल्लेख है। (नं० 305)। इसी विशेषण अथवा उपाधि का प्रयोग एक शासक के नाम के पूर्व भी है (कालकुपषुद नं० 307)। 'जितुग' उपाधि तथा 'काल' का प्रयोग केवल शासकों के नाम के पूर्व ही किया गया है। यह उपाधियां भारतीय प्रतीत नहीं होती हैं पर कुछ अन्य प्रशासकीय शब्दों के भारतीय होने में कोई सन्देह नहीं है। शासक के लिए 'महनुअव-महरय' संस्कृत 'महानुभाव महाराज' का प्रयोग किया गया है। स्टाइन के मतानुसार[4], 'प्रियदर्शन', 'प्रियदेव मनुष्य', 'सुनामपरिकीर्तित' जिसके नाम की कीर्ति दूर तक फैली हो, 'प्रत्यक्षदेवता', 'स्वयं देवस्वरूप', 'अतिप्रियदर्शन' इत्यादि शीर्षकों से पूज्यनीय सम्बन्धियों को सम्बोधित करना भारतीय शिष्टाचार तथा सभ्य समाज के संस्कारों का प्रतीक है। पत्र प्रेषक द्वारा प्रेषती के स्वास्थ एवं शुभकामना की याचना भी पत्रों में की गई है (अरोग्यप्रेष्टि)। इस प्रकार इन लेखों के आधार पर यह प्रतीत होता है कि मध्य एशिया में संगठित एवं सुव्यवस्थित समाज व्यवस्था थी जिसमें मनुष्य का उसके परिवार एवं जन-समुदाय से मधुर सम्बन्ध था।

जाति व्यवस्था[5]

भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म इसका प्रधान अंग है। यह कहना कठिन है कि मध्य एशिया में जाति व्यवस्था भारत की भांति चार वर्णों में बंटी हुई थी अथवा व्यवसाय पर आधारित थी। एक लेख में ब्राह्मणों का उल्लेख श्रमणों के साथ हुआ है (नं० 554), पर जिस संदर्भ में यह है उससे यह प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों का कोई विशेष स्थान नहीं था। इस लेख में 'श्रमण', 'गृहस्थ', राज कर्मचारी' और वुर्लुगस् के साथ ब्राह्मणों को तुरन्त प्रस्तुत होने का आदेश दिया गया है अन्यथा वे चर्मदण्ड

के भागी होंगे। कदाचित् इन सभी व्यक्तियों ने राज कर न दिया होगा और इसीलिए उनको प्रस्तुत होने का आदेश दिया गया था। वास्तव में श्रमण ब्राह्मण का उल्लेख तो पालि साहित्य तथा अशोक के लेखों में बराबर ही मिलता है और इससे इन सभी लोगों का संकेत होता है जो ब्राह्मण धर्म तथा बौद्ध धर्म को मानते थे। ब्राह्मण वर्ण का पृथक् रूप से उल्लेख मध्य एशिया के किसी भी लेख में नहीं हुआ है और न क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र का ही कहीं विवरण है। इसलिए यह संभव है कि व्यवसाय की दृष्टि से समाज में विभाजन रहा हो। उपरोक्त लेख के आधार पर वुर्चुगस् से किसी एक वर्ग का संकेत है। व्यवसाय की दृष्टि से चीनी तुर्किस्तान का समाज कई वर्गों में विभाजित था। राजकर्मचारियों का सर्वप्रथम स्थान था और इनमें भी उच्च तथा साधारण व्यक्ति के कर्मचारी थे। चोझवो सोजक का उल्लेख लगभग 40 लेखों में है।[6] इसके अतिरिक्त ओगू, गुशूर, काल तथा चेकुर का उल्लेख है। प्रशासनिक दृष्टिकोण से इन वर्गों का अपना अस्तित्व और महत्व रहा हो पर समाज में भी इनका अलग स्थान था। एक लेख (नं० 272) में चोझवो सोजक का उल्लेख है जो एक प्रदेश का शासक था जिसकी राजधानी चडोटा नीया थी। उसको राजा की ओर से आज्ञा दी गई थी कि वह रात दिन परिश्रम करके अपने नियंत्रित कार्य को पूरा करे। उसे यह भी अधिकार था कि उसकी आज्ञा की अवहेलना करने वालों को राजा की ओर से दंड मिले।[7] एक लेख (नं० 14) में राजदूतों की रक्षा के लिए अंगरक्षकों का उल्लेख है जो 'सखिग' कहलाते थे (नं० 10)। इनका प्रायः अपना ही वर्ग था। एक अन्य लेख में भीमसेन का उल्लेख है जिसके वंशज 'अखिज' नहीं थे (पिनरपित उनदये न अखिग), अतः वह रक्षक (अखिग) का कार्य नहीं कर सकता था (नं० 438)। एक अन्य लेख में भी लिपे ने राजा को सूचित किया था कि वह 'वलेसेचि' वर्ग का जन्म से था न कि अखिग का। राजा ने इस आधार पर आदेश दिया कि यदि वह अखिग नहीं है तो उसे उस पद के कर्त्तव्यों से मुक्त किया जाये। ऐसे बहुत से लेख (नं० 430, 439, 452) मिले हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रशासनिक नियुक्तियां वर्ग के आधार पर होती थीं और वर्ग का व्यवसाय से सम्बन्ध था।[8] एक लेख (नं० 320) में कृषक समुदाय का उल्लेख है। इस वर्ग के लोगों को कृषि का अच्छा ज्ञान था और इनके जन्मजात व्यवसाय का संकेत करता है (नं० 574)।

शिल्पकारों की श्रेणी में सुवर्णकार का उल्लेख है (नं० 578)। एक लेख में बुने कपड़े, ऊनी कपड़े, रजत आभूषण का भी उल्लेख है जिससे प्रतीत होता है कि इनके निर्माण करने वालों का अपना व्यवसाय था (नं० 149)। इसी प्रकार से मदिरा, वस्त्र, ऊनी लोई का भी उल्लेख मिलता था तथा उनके व्यापार और व्यापारियों का भी विवरण है। जन्मजात व्यवसाय का प्रशासन से भी सम्बन्ध था क्योंकि ऐसे बहुत से लेख (580, 654) मिले हैं जिनमें लेखक के पिता को भी लेखक (दिविर) कहा गया है। इसी प्रकार की परम्परा चीनी समाज में भी थी और भारत में भी जन्मजात व्यवसाय ने ही जाति व्यवस्था के स्थापन में अपना अनुदान दिया।[9] लेखों में कई स्थानों पर उच्च कुल के व्यक्तियों का उल्लेख है। एक लेख (नं० 120) में किसी पुल के निर्माण के सन्दर्भ में श्रमिक वर्ग के व्यक्तियों के अतिरिक्त उच्च वर्ग के लोगों का भी उल्लेख है जो वहां पर किसी राजकीय कार्य से आए थे तथा उन्होंने गन्दले पानी (खलुष) के सम्बन्ध में कुछ समझौता किया था। इन उच्च कुल के व्यक्तियों में ज्येष्ट चोझबों, नमरजम, पंचिमन, नमसुर, लाय, अप्सु, अपर्झाय, कलमस, कंचिय तथा अरिल्पियन थे। यह कोई भी नाम भारतीय नहीं प्रतीत होते हैं। एक अन्य लेख (नं० 272) से यह प्रतीत होता है कि उच्च कुल का संकेत धनिक वर्ग से था। उस लेख में यह आदेश दिया गया था कि इन व्यक्तियों द्वारा ऋणी पुरुषों पर किसी प्रकार का अभियोग न लगाने दिया जाये। शान्ति व्यवस्था स्थापित होने पर ही एवं खोतान संधि के बाद जब राजकीय स्थिरता स्थापित हो जावे तभी ऋणी व्यक्तियों को धन लौटाने का आदेश दिया जाये। इस लेख में प्रशासकीय उच्च वर्गीय व्यक्तियों दारा चोझघो सोजक की आज्ञाओं की अवहेलना का भी उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि इन व्यक्तियों का अलग वर्ग था तथा सामूहिक रूप से उनका प्रभाव प्रशासन पर भी था।

उपरोक्त विवरण से प्रतीत होता है कि समाज तीन श्रेणियों में बंटा था––पदाधिकारी तथा कुलीन व्यक्तियों का वर्ग, कृषक, व्यापारी तथा कलाकारों का वर्ग और भृत्य तथा दासों का वर्ग, जिनके लिए 'वटयग' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'वटयग' अथवा 'वथयग' की समानता भृत्य अथवा अनुचर से की गई है जिन्हें भोजन के अतिरिक्त वेतन, पचेवर, वस्त्र, चोड़ा इत्यादि दिया जाता था। (नं० 19)। इनको एक स्थान से दूसरा स्थान बदलने

की छूट थी। इस लेख में तमष्यनए नामक स्त्री का चितसेन के स्थान पर कार्य करने का उल्लेख है और इसमें प्राचीन नियम के अनुसार वस्त्र, भोजन तथा वेतन प्राप्त करने का अधिकार था (चोड़ा, पचेवर परिद्रय ददवो)। दास दासियों का समाज में पृथक् स्थान था तथा उनको भृत्यों की भांति वेतन तथा स्थान परिवर्तन की सुविधाएं नहीं थीं। खरोष्ठी लेखों से इन दास्यों की शोचनीय तथा दयनीय दशा का पता चलता है। इनके साथ बल प्रयोग साधारणतया होता था और कभी कभी तो इसके कारण इन दासों की मृत्यु भी हो जाती थी। इस प्रकार स्वामी का अपने दास दासी पर पूर्ण अधिकार था। यदि किसी व्यक्ति द्वारा उसको मारा गया है जिसके कारण उसकी मृत्यु हो गई तो उसे बदले में दूसरा व्यक्ति लौटाना पड़ता था। सामाजिक दृष्टिकोण से दासों की परिस्थिति तथा उनके व्यक्तित्व पर पृथक् रूप से आगे विचार किया जायेगा।

खरोष्ठी लेखों से बौद्ध भिक्षुओं के जीवन तथा उनके समाज में स्थान का भी पता चलता है। वे भी समाज का एक अंग थे तथा वे पारिवारिक सुख दुख से वंचित नहीं थे। यह आश्चर्यजनक बात है कि मध्य एशिया के बौद्ध भिक्षु गृहस्थ जीवन भी व्यतीत करते थे तथा उनकी आर्थिक जीवन से भी अभिरुचि न थी। एक लेख (नं० 265) में भिक्षु संघरात्रि ने अपने सम्पत्ति भाग का दूसरों द्वारा अपहरण के विरुद्ध याचिका की है। एक अन्य लेख (नं० 322) में चडोत के बौद्ध संघ में संगो नामक व्यक्ति के प्रवेश तथा वहां से पुनः वापस आने का उल्लेख है। सम्राट जिटुंघ अंगोक के राज्यकाल के 36वें वर्ष के लेख में बुद्धवाम के कथनानुसार भिक्षु शारिपुत्र ने देनुगअंतों से उसकी पुत्री शिर्सतेए को गोद लिया था। इसके बाद उसका विवाह प्रार्थी बुद्धवम के साथ विधिपूर्वक किया गया। उसी शिर्सतेए की पुंञवतिए का विधिवत विवाह एक भिक्षु जिवलो अठम से हुआ था जिसकी मृत्यु हो गई थी। इसके बाद का अभिलेख का अंश टूटा है पर उपरोक्त वृतान्त से प्रतीत होता है कि या तो यह सम्पूर्ण वैवाहिक सम्बन्ध इन दोनों व्यक्तियों–बुद्धवम तथा जीवलो अठम के संघ में प्रवेश होने से पहले हुए थे अथवा भिक्षु और गृहस्थ के जीवन में किसी प्रकार का भेद न था और बौद्ध भिक्षु भी वैवाहिक जीवन व्यतीत कर सकते थे। चडोत के भिक्षु संघ का प्रशासन सम्बन्ध एक अन्य लेख (419) से ज्ञात होता है। इस लेख में भिक्षु शेय, सुजत तथा

धम्मिल द्वारा अभिलेखों पर मोहरें लगाने का उल्लेख है तथा कई भिक्षुओं को साक्षी के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। बौद्ध भिक्षु गृहस्थ का भेष भी धारण करते थे पर विहार में 'पोसक' के अवसर पर गृहस्थ के कपड़ों में जाना वर्जित था अन्यथा वह एक कौशेय (रेशम) के थान का दंड भागी था (नं० 489)। भिक्षु बुद्धसेन और मषधिगे द्वारा पांच दिष्टि ऊंचाई की एक लड़की के क्रय (खरीदने) का उल्लेख मिलता है (नं० 437)। उपरोक्त अभिलेख इस बात का प्रमाण है। बौद्ध संघ के भिक्षुओं का भी समाज में अपना स्थान था। एक लेख में श्रमण सुन्दर की पुत्री सुप्रिया का चटो के साथ विवाह तथा सजमोवी के साथ भाग जाने एवं सुन्दर का उससे निष्क्रय मांगने का उल्लेख है (नं० 621)।

कौटुम्बिक जीवन तथा स्त्रियों की दशा[10]

कुटुम्ब समाज की छोटी इकाई है और सभी सदस्य रक्त अथवा वैवाहिक सम्बन्ध से एक दूसरे से बंधे रहते हैं। अभिलेखों में गृह के अन्दर रहने वाले सभी प्राणियों में माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री तथा दौहित्र और पौत्र का भी उल्लेख मिलता है। मध्य एशिया में भी इसी प्रकार गृह स्वामी परिवार का संचालक था। एक लेख में (नं० 362) सुवेट खोष द्वारा खोतान भेजे जाने पर उसके परिवार के सभी प्राणियों को चडोत नीया ले जाकर स्थापित करने का आदेश दिया गया है। लेखों में प्रशासनीय निर्णयों में स्त्रियों, पुत्रों, पुत्रियों तथा पौत्रों एवं अन्य सम्बन्धियों को भी भविष्य में पुनः निर्णय के विरुद्ध वाद-प्रतिवाद न उठाने का आदेश दिया गया है। सगमोवी और सुप्रिया के कूचा से वापस आने और एक साथ रहने तथा श्रमणसुन्दर द्वारा निष्क्रय को लेकर झगड़ा करने के सन्दर्भ में सगमोवी को भी लेख में (नं० 621) आदेश दिया गया है कि वह अपनी स्त्रियों, पुत्रों, पुत्रियों तथा दासों पर अपना अधिकार छोड़ दे। पहले यह सब उसी के परिवार के अंग थे। अधिकांश परिवारों में दासों को रखने की प्रथा थी जिनका उल्लेख बहुत से लेखों में मिलता है और वह भी कुटुम्ब का अंग थे। इनके अतिरिक्त गोद लेने की भी प्रथा थी (गोठर्ये) और यह केवल बालक तक ही सीमित नहीं थी। लड़कियों को भी गोद लिया जाता था। गोद लेने वाला व्यक्ति बच्चे के पिता अथवा संरक्षक को धनराशि अथवा पशु के रूप में भुगतान कर देता था

(नं० 11)। उपसेन नामक एक शिशु का जन्म होते ही ल्यिमो ने उसे गोद ले लिया था तथा यह आदेश दिया था कि उस पर जो भी आश्रित हैं वे सब उपसेन को उसके ज्येष्ट पुत्र के रूप में मानकर उसकी समस्त आज्ञाओं का पालन करेंगे तथा घर के दास उसी के आदेशों से कार्य करेंगे (नं० 31 एवं 764)। एक अन्य लेख (नं० 528) में सुनन्द की दादी (मौली) द्वारा एक स्त्री रमाश्री को गोद लेने का उल्लेख है। इसमें इस समझौते का भी विवरण है कि उसके अपने परिवार तथा रमाश्री के आश्रितों के बीच सम्पत्ति का बराबर बराबर वंटवारा हो जायेगा। उपरोक्त प्रसंगों से चीनी तुर्किस्तान में संयुक्त परिवार प्रणाली का पता चलता है जिसमें परिवार में पति-पत्नी अथवा पत्नियां और बच्चों के अतिरिक्त दादा, दादी, पौत्र तथा दास भी सम्मिलित थे। रक्त सम्बन्धियों के अतिरिक्त गोद लिए व्यक्तियों को भी परिवार में यथेष्ट स्थान प्राप्त था और उनको सम्पत्ति में भाग मिलता था। कई भाई एक साथ रहते थे। अभिलेखों से संकेत मिलता है कि गृहपति और कुटुम्ब के अन्य सदस्यों में कर्त्तव्यपरायणता की भावना का पूर्णतया आवेश था और व्यक्ति का कुटुम्ब से अलग स्थान नहीं था। एक लेख (नं० 702) में पुत्र जन्म का शुभ अवसर सब की प्रसन्नता का केन्द्र था। स्त्रियों की दशा इससे विपरीत थी। यद्यपि लड़की का जन्म दुखद नहीं माना जाता था पर बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक स्त्री जाति स्वतंत्र न थी तथा पारिवारिक बन्धनों से जकड़ी हुई थी।

विभिन्न दशाओं एवं परिस्थितियों के अनुसार स्त्रियों को अभिलेखों में घर श्रेणियों में रखा गया है और उनके लिए प्रथक शब्दों का भी प्रयोग किया गया है। कुई अथवा कुड़ी से बाल्यावस्था का संकेत है। बड़े होने पर घितु (नं० 279) (संस्कृत दुहितृ) अथवा 'घिहरे' (नं० 46) नाम से उसे सम्बोधित किया गया है। विवाह उपरान्त उसे 'भार्या' का रूप दिया गया है तथा मां बनने पर 'मतु' (संस्कृत मातु) शब्द का प्रयोग उसके लिए किया गया है। विवाहित स्त्री को अनिति अथवा नित भी कहा गया है। बहिन के रूप में वह स्वसु, संस्कृत स्वसृ, थी। मामी को माहुलि अथवा संस्कृत मातुलि नाम से सम्बोधित किया गया है। इनके अतिरिक्त स्त्रियों के सम्बन्ध में कई और शब्दों का प्रयोग किया गया है जैसे वेषिस्त्रि (वोंपसि) (नं० 719) जिससे कदाचित वेश्या का संकेत रहा होगा। लेख में दो पुरुषों द्वारा इस स्त्री के

अपहरण तथा उसके साथ बलात्कार करने का उल्लेख है। कई लेखों (नं० 58, 63, 248) में 'खखोर्निस्त्रि' अथवा 'खसोर्न' का उल्लेख है। उसकी समानता 'स्वसूरानि' से की गई है तथा वरो महोदय ने इसे खरोंद पढ़ा है और आवेस्ता के 'करदवरूद' के आधार पर इसे डायन का रूप माना है। हो सकता है कि इससे किसी कर्कशा स्त्री का संकेत हो।[11] अनिति अथवा 'अनित' (नेटाव) की भार्या अथवा स्त्री से समानता की गई है। बौद्ध ग्रन्थ पेतबत्थु, सुत्तनिपात तथा दीघनिकाय में 'अनेति' का प्रयोग स्त्रियों के सन्दर्भ में हुआ है। अन्त में दाज्ञि अथवा दासी या 'वसि (नं० 621) से दासी का संकेत मिलता है।[12]

साधारणतया लड़कियों के जन्म में बालक के जन्म की भांति प्रसन्नता का आभास न था। पैतृक समाज व्यवस्था में लड़की को बोझ मानकर कभी कभी उसे त्यजित भी कर देते थे। एक लेख में कन्या (कुड़ी) को बाहर भूमि पर छोड़ देने का उल्लेख है। जबकि एक अन्य लेख (नं० 702) में बालक के पैदा होने पर खुशियां मनाई जाती थीं। (पुत्र जात सर्वेहियतेन भवितव्य)[13]। अविवाहित कन्या पर पिता का ही अधिकार था और अपनी लड़की का विवाह करने का उसी पर दायित्व था। अभिलेखों में पिता द्वारा जामातृ को अपनी पुत्री विवाह में अर्पित करने का उल्लेख है। इसमें वह अपनी लड़की के विवाह का शुल्क भी ले लिया करता था। यह भारतीय 'आर्ष' विवाह प्रथा की भांति था और चीन में भी यह 'मैहुन' के नाम से प्रसिद्ध था।[14] एक लेख (नं० 690) में लालची पिता द्वारा अपने जामातृ को उसके लिए मूल्यवान उपहार भेजने का उल्लेख है। एक अन्य लेख में पिता अपने दामाद के विरुद्ध 'लोते' न देने का अभियोग लगाता है जबकि उसकी पुत्री स्वयं एक कुम्हार (कुलाल) लड़के के साथ भाग गई थी (नं० 621)। पिता को इस 'लोते' प्राप्त करने का कोई अधिकार न था।

लेखों से प्रतीत होता है कि कन्या की अपनी इच्छा अथवा अनिच्छा का समाज तथा कुटुम्ब में कोई महत्व नहीं था। एक निधि के रूप में वह पिता तथा विवाह के बाद अपने पति की सम्पत्ति थी जिसे वह क्रय-विक्रय, दान, प्रतिदान तथा अदला-बदली के रूप में प्रयोग कर सकता था और इसमें न तो समाज और न शासन की ओर से ही कोई प्रतिबंध था। लेखों में कन्या को सम्पत्ति के रूप में मानकर उसकी ऊंचाई तथा स्वरूप के आधार पर मूल्य आंका जाता था। दिष्टि ऊंचाई की कन्या एक वर्षीय और जिसका मूल्य 40 मुली

के बराबर था, निश्चित की गई थी (नं० 589) और एक अन्य लेख (नं० 437) में पांच दिष्टि ऊंची कन्या 45 मुली के मूल्य पर ली गई। ऊंचाई के आधार पर मूल्य भी निर्धारित था। एक लेख के अनुसार 4 दिष्टि ऊंची एक कन्या 40 मुली के एक ऊंट और एक खोतानी लोई अथवा कम्बल के मूल्य पर बिक्रित हुई। बिकने के बाद वह पूर्णरूप से ग्राहक की सम्पत्ति मानी जाती थी और किसी को भी उसके प्रति व्यवहार में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। कन्या के सगे सम्बन्धी किसी प्रकार की आपत्ति नहीं प्रगट कर सकते थे। अभिलेखों में लड़कियों के विनिमय–अदला-बदली (नं० 551), उपहार के रूप में देने (नं० 380) तथा साधारणतया देने (नं० 114) और ऋण के बदले में देने का उल्लेख है। एक लेख में सूर्यमित्र द्वारा ऋण में दी गई कन्या का न्यायालय में विरोध का उल्लेख है। चीनी तुर्किस्तान में लड़कियों को बचपन में गोद लेने की प्रथा का भी विवरण है (नं० 331,542) और इसके लिए 'कुठछिर' अथवा 'दुग्ध मूल्य' का देना आवश्यक था। प्रायः इस सम्बन्ध में घोड़े घोड़ियां दिए जाते थे। गोद ली लड़कियों के साथ साधारणतया अच्छा व्यवहार किया जाता था तथा उनका अपनी ही कन्याओं की भांति पालनपोषण किया जाता था।[15] वे न तो बेची जा सकती थीं और न बंधक के रूप में दूसरी जगह रखी जा सकती थीं। (नं० 331)।

कन्याओं को अपना धन संचित करने की सुविधा थी। प्राचीन भारत में भी शुल्क का स्त्रीधन से सम्बन्ध था। इस धन पर उसका अपना अधिकार था और यदि उसकी मृत्यु हो जावे तो वह उसके पुत्र तथा पुत्रियों में बंटता था। एक अभिलेख (474) में इसी प्रकार का उल्लेख है। माता की सम्पत्ति में लड़के लड़कियों का बराबर भाग रहता था (समभग)। लड़कियों के विवाह के सम्बन्ध में कोई कड़े नियम नहीं थे यद्यपि प्रायः एक ही व्यवसाय अथवा वर्ग के साथ विवाह होता था जैसे एक भिक्षु ने अपनी कन्या का विवाह एक अन्य भिक्षु के साथ वैधानिक रूप से किया। (नं० 18, 474)। पर एक अन्य लेख (नं० 621) में एक दूसरे भिक्षु ने अपनी पुत्री का विवाह अन्यत्र वर्ग के व्यक्ति के साथ किया। एक भिक्षु की कन्या एक कुलाल-कुम्हार के पुत्र के साथ भाग गई (नं० 621)। कभी कभी तो विवाह निकट सम्बन्धी अथवा विनिमय के रूप में भी हो जाते थे। एक लेख में सगवेय द्वारा अपनी पुत्री का चिंग के साथ विवाह करने का उल्लेख है। विनिमय में चिंग अपने स्वश्रु कोअपनी

वहिन अर्पित करता है। हूणों में भी यह प्रथा थी। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में एक हूण सरदार जिजी ने कंग-गू शासक की कन्या से विवाह किया। इसके बदले में जिजी ने अपनी पुत्री कंग-गू को दी। यह राजनैतिक विवाह होते थे। विवाह प्राय: स्थानीय क्षेत्र में ही होते थे जिससे यातायात में असुविधा का ध्यान रखना पड़ता था। पर एक लेख (नं0 279) में यवे-अवन की एक स्त्री का विवाह अजियम अवन के निवासी के साथ हुआ। इसके बदले में उपरोक्त व्यक्ति को एक पुत्री यने-अवन निवासी को देनी पड़ी। एक अन्य लेख (नं0 481) में भी इसी प्रकार का उदाहरण मिलता है। इसका कारण जनसंख्या पर नियंत्रण तथा मार्ग की कठिनाइयों का ध्यान था।

स्त्रियों के वैवाहिक जीवन का वृतान्त भी कई लेखों से प्राप्त होता है। समाज में स्त्रियों का स्थान निम्न होते हुए भी कुटुम्ब में उनकी मर्यादा तथा व्यक्तित्व में कमी नहीं थी। लेखों में उनका मूल्य भी आंका गया है। एक लेख (नं0 3) में यह रेशम के 41 पटन का थान था। अन्य में (नं0 209) यह सात वर्षीय ऊंट था, कुछ अन्य घरेलू वस्तुएं, एक विचल ऊंट, एक अंक्लस ऊंट। एक 12 फीट लम्बी कालीन, दूसरा कालीन 11 फीट लम्बा, तथा 8 सूत्रमूलि— इन सबका मूल्य 98 था। लेख के अनुसार वह उसके साथ सभी प्रकार का व्यवहार कर सकता था जिसमें पीटने से लेकर उसे बंधक रखना तथा बेचना सम्मिलित था। स्त्री का विनिमय ऊंट से हो सकता था (नं0 578); तथा घर के अन्य पदार्थ से उसे बदला जा सकता था (नं0 706); और ऋण की अदायगी में उसका अपहरण किया जा सकता था (नं0 719); कुछ खोतानी लुटेरों ने एक स्त्री का उसके पुत्रों तथा पुत्रियों सहित अपहरण करके किसी अन्य व्यक्ति को भेंट कर दिया (नं0 415)। ऐसी कठिन परिस्थिति में भी स्त्रियों को अपने वैवाहिक परतंत्रता की बेड़ियां तोड़ने की छूट थी। चीनी तुर्किस्तान में वे पुरुषों के साथ सामाजिक तथा सार्वजनिक कार्यों में भाग नहीं ले सकती थीं। एक लेख (नं0 621) में स्त्री द्वारा अपने विवाह सम्बन्ध को विच्छेद करने का उल्लेख है, पर यह कदाचित् स्वेच्छा से विवाह करने वाली स्त्री के लिए ही रहा होगा जिसमें पिता को किसी प्रकार का जामातृ से धन नहीं मिलता था। पिता को वर से 'लोते' लेने का कोई अधिकार इस सम्बन्ध में नहीं रह गया था। 'लोते' के अतिरिक्त 'मुकेषी' शब्द का भी प्रयोग किया गया है जो थामस के अनुसार उन पद के व्यक्ति थे जो पिता की भांति स्त्री

का दान करते थे।[16] (यति एदेस्त्रिय न मुवेषिन दितग स्यति'--अर्थात् 'यदि वह स्त्री मुवेषी के द्वारा नहीं दी गई हो) वधु शुल्क देने की प्रथा प्राचीन चीन और असीरिया में भी प्रचलित थी। भारतीय स्मृतकारों ने इसका विरोध करते हुए उन अभिभावकों को चेतावनी दी है जो इस प्रकार कन्या की बिक्री करता हो। एक लेख (नं0 34) के प्रसंग के आधार पर विवाह-विच्छेद की प्रथा का संकेत मिलता है। लेख में उद्धृत शब्द 'विवेक' का इस सम्बन्ध में प्रयोग किया गया है। वरो के अनुसार[17] 'विवेक' शब्द की उत्पत्ति विच् धातु से हुई जिसका अर्थ प्रथक होना है। लेख के अनुसार क्रेय तथा चमश्रिये अलग होकर फिर एक साथ रहने लगे थे और पुनः अलग रहना चाहते थे। पति-पत्नी के परस्पर स्वीकृत से विवाह सम्बन्ध तोड़ने की प्रथा चीन में भी प्रचलित थी। विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए भी अन्य किसी के साथ प्रेम का उल्लेख एक अन्य उल्लेख में है (नं0 621)। इसमें सगमोवि नामक एक कुलाल पुत्र का सुप्रिये के साथ कूचा राज्य में भागकर जाना तथा बहुत समय तक वहां रहने का उल्लेख है। वहां से लौटने पर उसे अपनी स्त्रियों, पुत्रों तथा दासों के ऊपर सब प्रकार के अधिकार छोड़ने का उल्लेख है। एक अन्य लेख (632) में पति-पत्नी का एक साथ कूचा राज्य में भागकर रहने का तथा शासक के प्रति अनुराग के कारण पुनः लौटने का विवरण है।

साधारणतया स्त्रियों का समाज में स्थान दयनीय था। उसके अस्तित्व का कुटुम्ब में विशेष परिस्थितियों में मूल्य रहा हो, पर समाज की दृष्टि में उनकी समता पशु तथा गतिशील वस्तुओं से की जाती थी। कन्या का मूल्य ऊंट, वस्त्र, कौशेय के थान आदि पर निर्धारित था। एक लेख (514) में स्त्रियों की क्षुरे की तेज धार से तुलना की गई है। उनके विचार में किसी पुरुष की प्रशंसा कोई मूल्य नहीं रखती है। अतः समाज में स्त्रियों की सहमति अथवा विचार का कोई मूल्य नहीं था। उनके निर्दयतापूर्ण पीटे जाने का उल्लेख कई लेखों में मिलता है। ओपगेये नामक एक व्यक्ति ने आवेदन किया था कि चढि, परशु, अल्याय तथा रशवर नामक व्यक्ति उसकी एक स्त्री को भगा ले गए और उसे इतना पीटा कि उसका गर्भपात हो गया और तीसरे दिन उसे पुनः भेज दिया (नं0 9)। उसके साथ बलात्कार का भी उल्लेख मिलता है (719)। ल्यीमिन ने याचिका दी कि सगपेय नामक व्यक्ति उससे वेशि स्त्री जिसका नाम चेतमोकए था, ले गए तथा उसके साथ बलात्कार किया और दो या तीन बार प्रशासन

से बन्द मोहर आदेश भेजने पर भी उसे वापस नहीं किया। इस सम्बन्ध में प्रशासन ने भी कोई निर्णय नहीं लिया जो ठीक नहीं था। उसे स्वामिन को पुनः वापस दिलाने की याचना की गई है। वेशि को वेश्या माना गया है और इस सन्दर्भ में लेख से प्रतीत होता है कि उक्त स्त्री उसकी रखेल थी तथा बलात्कार के बाद भी वह उसे रखने को तैयार था।

स्त्रियों को प्रशासन के सामने साक्षी के रूप में भी प्रस्तुत किया जाता था (नं० 3, 420)। एक लेख में सुगीसए नामक स्त्री से यह पूछताछ करने का आदेश दिया गया है कि वास्तव में उसकी बिक्री सुगीत के हाथ 4 कोजेव देकर हुई थी अथवा नहीं। एक अन्य लेख में सेवाश्रए नामक एक स्त्री का साक्षी के रूप में उल्लेख है जो भाई की मृत्यु के पश्चात् उसके ऋण आदि के समझौते के लिए न्यायालय में लाई गई। एक अन्य लेख (569) में गोद लिए बालक के संरक्षण के सम्बन्ध में नागु नामक एक कन्या को साक्षी के रूप में प्रस्तुत किया गया था। स्त्रियों की स्वतंत्र आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में भी कई लेख मिले हैं। स्त्रियों को कुछ तो पैतृक अथवा अन्य प्रकार से सम्पत्ति प्राप्त होती थी तथा कुछ जीविकोपार्जन करके धन एकत्रित कर लेती थीं। उनकी अपनी सम्पत्ति में ऊंट, घोड़ियां एवं घोड़े तथा भूमि सम्मिलित थी (60, 421)। एक लेख (677) में कोसेनम द्वारा सिगमित से भूमि क्रय करने का उल्लेख है। यह भूमि विनिमय (Exchange) के रूप में प्राप्त हुई थी तथा इस पर कोसेनम के पुत्रों का कोई अधिकार नहीं था। एक अन्य लेख (नं० 19) में चितसेन के स्थान पर भेड़ों के झुंड की देखभाल के लिए तमप्यनए को वस्त्र, भोजन तथा मजदूरी (वेतन) देने का आदेश दिया गया है। स्त्रियों में कुछ पढ़ी भी होती थीं तथा पत्र व्यवहार अपने सम्बन्धियों को करती थीं (नं० 316)। एक स्त्री द्वारा अपनी बहिन को कुछ रेशमी कपड़े और उस ओर से भेंट के रूप में एक कोट भेजने का उल्लेख किया गया है। इसके विपरीत 'खखानि स्त्रि' का भी उल्लेख कई लेखों में किया गया है और इनको डायन समझ मार डालना शासन की ओर से अदंडनीय था (नं० 63)। अन्यथा स्त्री की हत्या के बदले धन इत्यादि देना पड़ता था। स्त्रियों की वेशभूषा के सम्बन्ध में कंचुलि का उल्लेख मिलता है जो सफेद रेशम, पटुआ अथवा सन और ऊन की बनी होती थी (नं० 318)। शुंग-चुन ने भी खोतान की स्त्रियों की छोटी जाकिट (कंचुलि) का उल्लेख उनकी वेशभूषा के सम्बन्ध में किया है। कुछ स्त्रियां कंकाल

होती थीं और एक लेख (नं0 606) में एक भिक्षु ने अवरोध किया था कि एक स्त्री ने उसके पीले चोगा (कपर) को जला दिया।

साधारणतया मध्य एशिया में स्त्रियों की दशा अन्य देशों की भांति पुरुषों की अपेक्षा निम्न तथा दयनीय थी। कुटुम्ब में उनका भले ही आदर का स्थान हो तथा वह पैतृक सम्पत्ति भी प्राप्त कर सकती थी और सम्पत्ति क्रय करके एकत्रित भी कर सकती थीं, पर समाज उनको नीच दृष्टि से ही देखता था और उनकी तुलना क्षुरे की धार से की गई है। उनके कुछ अधिकार भी थे और उनकी रक्षा का प्रयास भी किया जाता था (नं0 3, 19, 403) पर यह तो केवल यदा-कदा ही होता था। पशु की भांति स्त्रियां पीटी एवं बेची जाती थीं तथा उनके साथ पाशविक व्यवहार भी होता था। इस सन्दर्भ में यह कहना कठिन है कि स्त्रियों की ऐसी परिस्थिति स्थानीय कारणों से थी अथवा चीन से निकट होने के कारण वहां की संस्कृति मुख्यतया स्त्रियों की समाज में स्थिति से प्रभावित हुई थी। दासी के रूप में इनको दासों से विभिन्न होकर नहीं आंका जा सकता है और इनकी स्थिति पर सम्मिलित रूप से ही विचार किया जायेगा।

पारिवारिक जीवन तथा उसके सन्दर्भ में स्त्रियों के स्थान के साथ गोद लिए हुए बालक-कन्या की परिस्थिति पर विचार करना भी उपयुक्त होगा। दो लेखों (नं0 31, 764) में उपगेय तथा उपसेन द्वारा आवेदन है कि जब उपसेन का जन्म हुआ तो लियियों ने उसे गोद ले लिया तथा यह कहा कि उसके ऊपर जो भी आधारित हैं वे सब उपसेन को उसका ज्येष्ठ पुत्र मानकर उसकी आज्ञा का पालन करेंगे तथा उसपर आधारित रहेंगे। लियियों की मृत्यु के बाद इस समझौते को चुनौती दी गई तथा उपसेन की आज्ञा का सब कर्मचारी अवहेलना करने लगे। शासन की ओर से उस समझौते के पालन का आदेश दिया गया। कन्याओं को गोद लेने का उल्लेख भी कई लेखों में मिलता है। दो लेखों में एक दासी चिम्मिकएं द्वारा अपनी कन्या को गोद में देने का उल्लेख है जो उसके मालिक की अनुमति के विरुद्ध था। पहले लेख में कप्गे की दासी ने उसे गोद लिया था पर दूध का दाम नहीं दिया था (नं0 39)। यदि दाम नहीं दिए गए हैं तो कप्गे के दासों को लियियेय को एक तिर्ष घोड़ी अथवा घोड़ा देने का आदेश दिया गया है। दूसरे लेख (नं0 45) में पिम्मिकए द्वारा रुत्रय के हाथ अपनी लड़की—कदाचित् यह दूसरी रही होगी—को गोद देने तथा

एक तिर्य घोड़े के प्राप्त करने का उल्लेख है। दूध के दाम के लिए 'कुठछिरे' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'छिर' से क्षीर का संकेत होता है अतः यह बच्चे को दूध पिलाने का व्यय था जो गोद लेने वाला व्यक्ति उसकी मां को देता था। एक अन्य लेख (नं0 533) में गोद लिए हुए बच्चे—मुख्यतया कन्या के प्रति-उदार व्यवहार का आदेश दिया गया है। इस लेख में कंचन नामक व्यक्ति को आदेश दिया गया है कि वह गोद ली कन्या को न तो बेच सकता है, न बंधक रख सकता है। उसको घर से बाहर हटाने तथा उसके साथ दुर्व्यवहार भी निषेध था। उसे अपनी पुत्री की भांति उसे पालना पड़ेगा। भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार स्त्री द्वारा गोद लेने का अधिकार पति की अनुमति प्राप्त होने पर ही वंश परम्परा स्थापित रखने के लिए ही हो सकता था और वह भी केवल बालक तक सीमित था (दत्तकश्च पु कानेक भवति न कन्या—मयूख—काणि 'धर्मशास्त्र' 624) किन्तु बाद में कन्या के गोद लेने का भी उल्लेख मिलता है।

दासों का स्थान[18]

दास प्रथा तो सदैव से ही प्रायः विश्व के सभी देशों में प्रचलित थी। प्राचीन भारत में दास तथा दस्यु का उल्लेख वैदिक काल से ही प्राप्त होता है। प्रायः युद्ध के बाद जीते हुए शासक को यह स्वतः प्राप्त हो जाते थे तथा सार्वजनिक रूप से इनका क्रय-विक्रय भी होता था। चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त बहुत से लेखों से इनका विवरण प्राप्त होता है तथा इनके लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है जैसे दस (नं0 345, 491), दझ (नं0 569), धज (नं0 225), दास-जन; दझि (नं0 39, 45), दसि (नं0 621)। भटरे (नं0 147) अथव भटरग—संस्कृत भट्टारक का प्रयोग स्वामी के लिए किया गया है। नौकर के लिए प्रेषि (नं0 204) (संस्कृत प्रेष्य) शब्द का प्रयोग हुआ है। दास और किंकर के बीच भिन्नता प्रतीत होती है। किंकर को वटयग अथवा वठयग (संस्कृत उपस्थायक) कहा गया है। इसका विस्तृत रूप से प्रयोग खोतानी भाषा में (वढ़ाय—118) 'वक्षाय' अथवा वक्षाये, वक्षाया, बढ़ाये से की गई है[19]। तोखारी में 'उपस्थायक' शब्द सीधे संस्कृत से लिया गया है। कुछ लेखों (नं0 19, 54, 403) में उनके वेतन अथवा पारिश्रमिक दर का भी उल्लेख है। इनको इस सम्बन्ध में परिक्रय, भोजन (पचेवर) तथा कपड़ा (चोडग)

मिलता था तथा इनका कार्यस्थान पशुओं के झुंड को चरवाहे के रूप में निगरानी करना था। दासों को केवल भोजन तथा कपड़ा ही मिलता था। एक लेख (नं० 25) के अनुसार पारिश्रमिक के रूप में 3 मिलिम धान तथा 1 मिलिम, 10 खी धान, भोजन के लिए मिलने का उल्लेख है (नं० 470)। भारवाहकों का भी उल्लेख मिलता है (नं० 396) जिन्हें 'पृठभारिक'–संस्कृत 'पृष्टभारकः' कहते थे। इन दासों का कार्य क्षेत्र घर का काम करना तथा अपने स्वामी के खेत पर काम करना था। यह भारतीय गृह सूत्र में उल्लिखित दास कर्मों से मिलता था। नारद स्मृति (पांच–6–7) के अनुसार वे गृह द्वार के आगे झाड़ू करते थे तथा भोजन के अंश इत्यादि को संचित कर बाहर फेंकते थे एवं अपने स्वामी की शारीरिक सेवा भी करते थे। खेत पर काम करने वालों की तुलना चीनी तथा रोमन दासों से की जा सकती है। लेखों के अनुसार यह दास 10 वर्ष (नं० 550) अथवा 12 वर्ष (नं० 364) तक अपने मालिक की सेवा करते थे यद्यपि पूर्णतया कोई निश्चित अवधि का कहीं पता नहीं चलता है। पहले लेख में उधुगे नामक भीमसेन के पास एक दास का उल्लेख है जो दस वर्ष से कमयग नामक गांव में काम कर रहा था। उसके विषय में उसने दो तीन बार आदेश भेजे थे कि वह आ नहीं रहा था। उन्ह अपने स्वामी के आदेशों का पालन करना पड़ता था पर उनके उदण्ड व्यवहार के भी उदाहरण मिलते हैं। एक लेख (नं० 764) में अपने स्वामी के साथ किए गए संविद को तोड़ने का उल्लेख है। उनके द्वारा वस्त्र, पशु इत्यादि के चुराने के भी उदाहरण मिलते हैं (नं० 345, 561, 318)। एक लेख में न्यायालय में चोरी के अभियोग का उल्लेख है। (नं० 318)। दासों की ताड़ना भी होती थी तथा वे इतने पीटे जाते थे कि कभी कभी उनकी मृत्यु भी हो जाती थी। (नं० 144)। इस लेख में कयन नामक दास की सगन की मार से आठवें दिन मृत्यु हो गई। इस कारण सगन को उसके स्वामी ल्यिवेय को एक अन्य व्यक्ति (दास) देने का आदेश हुआ। दास के अपहरण का भी उल्लेख है (नं० 56, 324, 491)। गोद लिए हुए बालक को दास नहीं माना जाता था (नं० 569)। अपहरण किए गए दासों के स्थान पर 'लोते' का देना अनिवार्य था। यदि वह पुनः अपने पुराने स्वामी के पास वापस आ जाए तो अपहरणकर्ता का उस पर कोई अधिकार नहीं रहता था। कभी कभी दासों को उपहार, विनिमय तथा बेच भी दिया जाता था। एक लेख (नं० 491) में संघराथ के पास

बुधम्र नामक दास का उल्लेख है जिसे सिपिस नामक व्यक्ति द्वारा अपने मालिक के पास से अपहरण किया गया था पर वह भागकर पुनः अपने पूर्वस्वामी के पास आ गया। राज्यादेश के अनुसार उसपर संघरथ का अधिकार घोषित किया गया। दासों को उपहार के रूप में भी दिया जाता था तथा उनका विनिमय भी होता था जो सामाजिक व्यवस्था में मान्य था। मेरि नामक शासक के चतुर्थ वर्ष के समय में सुपियो द्वारा बन्दी किए व्यक्तियों में सर्पिन नामक एक व्यक्ति, जो पहले वसु योनु का दास था, चिनसगषि को भेंट में दिया गया (नं० 324)। बाद में इसे उसके नए स्वामी ने बेच दिया था। दासों द्वारा चोरी करने के कई और उदाहरण हैं जिनका लेखों में उल्लेख है। एक लेख (नं० 345) में बौद्ध भिक्षु आनन्द सेन के दास बुद्धघोष द्वारा पट (रेशम), ऊनी कपड़े, रसेन और पशुओं की चोरी करने पर उसके स्वामी को इसकी पूर्ति करनी पड़ी। एक अन्य लेख (नं० 318) में संगिल के दास कयनों द्वारा चोरी करने का उल्लेख है तथा उसके गृह से जो वस्तुएं भी पाई गई थीं उनके नाम भी दिए गए हैं। इसका न्याय चोजवो इन्द्रसेन तथा कीर्तिसम द्वारा हुआ था। जिमोय के दास द्वारा चोरी का निर्णय लुटू तथा चोझवो कंचि द्वारा हुआ था और उसे ऊंटों को लौटाना पड़ा था। (नं० 561)।

लेखों से प्रतीत होता है कि दास पूर्णतया अपने स्वामी के नियंत्रण में थे तथा उन्हें गोद लेने व देने का स्वतः अधिकार नहीं था। वे यह कार्य केवल अपने स्वामी की आज्ञा से ही कर सकते थे। एक लेख (नं० 39) में चिम्किए द्वारा अपनी पुत्री को कपगे के दासों द्वारा अनधिकृत रूप में गोद देने का उल्लेख है और उसका उन्होंने पालन पोषण किया था पर दूध का धन नहीं दिया गया था। दो लेखों (नं० 31, 764) में दास के कर्त्तव्यों का उल्लेख है। प्रसंग के अनुसार दास को घर गृहस्थी सम्बन्धी सभी कार्यों में स्वामी की आज्ञा का अक्षरसः पालन करना था तथा किसी प्रकार की अवहेलना का औचित्य न था। दास अपने स्वामी की सेवा लगातार 10, 12 वर्ष तक करते जाते थे। एक लेख में चप्गेय का चमक के यहां 12 वर्ष तक दास के रूप में कार्य करने का उल्लेख है। लेख से यह भी संकेत मिलता है कि उसने एक ऊंट खरीदा था पर इसके विषय में कुछ विवाद उत्पन्न हो गया था। एक अन्य लेख (नं० 550) में चोझवो भीमसेन के पास उपुगे नामक एक दास का 10 वर्ष तक काम करने का उल्लेख है। वह कंचग गांव में काम करता था पर दो तीन

बार बुलाने पर भी वह अपने स्वामी के पास नहीं आया। इससे प्रतीत होता है कि दास अपने स्वामी के निवास स्थान से दूर पर उनकी भूमि पर कार्य करते थे तथा अधिक समय तक वहां रहने पर अपने को स्वतंत्र समझने लगते थे। दासों की स्थिति आर्थिक दृष्टिकोण से कुछ अच्छी प्रतीत होती है तथा अपने मूल्य का प्रतिदान देकर वे अपने स्वामी की दासता से मुक्त भी हो जाते थे।[20] एक लेख (नं० 585) में अंतगीय नामक दास द्वारा एक 'मनुष्य' तथा 6 भेड़ें देकर अपने मुक्त होने की चेष्टा करने का उल्लेख है पर इतना पर्याप्त न था। अतः उसे मुक्त होने के लिए पूरा 'लोते' तथा 'मुकेषि' देने का आदेश हुआ। कुछ लेखों में दास द्वारा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय का भी उल्लेख मिलता है। एक लेख (नं० 36) में अपगे नामक खोतान के निवासी ने अपने दास के खलिहान से कुछ सम्पत्ति ले ली। दास का खलिहान पर अधिकार होना इस बात का संकेत करता है कि स्वामी प्रसन्न होकर अपने दास को उसी गांव की अपनी भूमि का भाग पारिश्रमिक के रूप में दे दिया करते थे। उनको वेतन (परिक्रय), भोजन (पचेदर) तथा वस्त्र (चोडग) मिलता था और वे भेड़ों के झुंड के साथ रहते थे। कुछ को केवल भोजन और वस्त्र ही मिलते थे (मत्तचोडग–506)। दास की सम्पत्ति के अन्तर्गत भूमि, अश्व, कम्बल, अथवा लोई और बुने हुए कपड़ों के नाम आते हैं (नं० 24,327)। दास की सम्पत्ति पर स्वामी का अधिकार नहीं था और यदि आवश्यकता पड़ने पर स्वामी ने अपने दास की सम्पत्ति ले ली तो उसे पुनः वापस कर देनी पड़ती थी। ल्यिपेय नामक कर वसूलने वाले (प्वढंघ–सोढम्ग) ने शासक से याचना की थी कि सुगीय नामक व्यक्ति ने अपने दास परम से तीन अंविल और एक घोड़ा ले लिया था। शासन की ओर से इसकी जांच का आदेश दिया गया तथा सच पाने पर उसे लौटाने को कहा गया। इस सम्बन्ध में एक अन्य लेख (नं० 24) में शासन की ओर से उदारता का परिचय मिलता है। चौले नामक व्यक्ति अपने दास सरपिग से एक घोड़े के बदले उसका घर तथा भूमि लेना चाहता था जो शासक की ओर से उसे दी गई थी। न्याय के अनुसार शासन और स्वामी की दी गई भूमि दास के ऋण में नहीं ली जा सकती है। दास प्रायः अपने स्वामी की सम्पत्ति के क्रय-विक्रय में सहायता करते थे। एक अन्य लेख (नं० 49) में तमेगेय के दासों द्वारा चोझवो समसेन के पास अपनी सम्पत्ति सम्बन्धी याचना का उल्लेख है। कई भिक्षु भी दास रखते थे तथा उनके पारि-

वारिक जीवन में उनकी निजी सम्पत्ति का यह अंग थे। एक लेख (नं० 152) में धर्मप्रिय नामक एक श्रमण का उल्लेख है जिसके कई स्वामी रह चुके थे। इस प्रकार दास दासी समाज का अंग थे और बौद्ध भिक्षु भी अपने पारिवारिक जीवन में इनकी सेवा लेते थे।

भोजन[21]

खरोष्ठी अभिलेखों से चीनी तुर्किस्तान के निवासियों के आहार के सम्बन्ध में कुछ पदार्थों का विवरण मिलता है। वहां के लोग निपुण कृषक थे तथा गेहूं, चावल और जौ की उपज करते थे जो उनके मुख्य रूप से भोजन के पदार्थ थे, तथा इन्हीं का प्रयोग होता था। भोजन के लिए 'पचेवर' शब्द का प्रयोग किया गया है। एक लेख में विहरवल तथा उसके पुत्रों और संगियों के भोजन के लिए आटा (अट), सतु (शक्तु) देने का उल्लेख है। एक अन्य लेख (नं० 505) में 2 मिलिम 15 खी भोजन, 5 खी मक तथा एक कवशि का उल्लेख है। इनका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता है। कुछ मसालों का भी उल्लेख अन्यत्र मिलता है। लेख नं० 702 में जिन मसालों की सूची है वे क्रमशः मरीच-मिर्च, शिंगवेर-अदरख, पिपली-पीपल, स्वच,-सुगंधित मसाला, सुषमेल—छोटी इलायची तथा शकर-शर्कर-शक्कर विभिन्न मात्रा में हैं। खाद्य भोजन पदार्थों के अतिरिक्त अंगूर की फसल भी पैदा की जाती थी। घी तथा दूध का प्रयोग भी सार्वजनिक रूप से होता था। लेखों में घृत (घी) के लिए 'घ्रिद' शब्द का प्रयोग किया गया है (नं० 13, 15)। एक लेख (नं० 514) में सहस्त्रों घड़े घी तथा सैकड़ों घड़े तेल मांस के एक टुकड़े के आगे तुच्छ थे। इससे प्रतीत होता है कि वहां के निवासी प्रायः मांसाहारी थे।[22] खलियानों से की गई चोरी में घी की चोरी का भी उल्लेख मिलता है (नं० 15)। भोजन पदार्थ में जो का उल्लेख कई लेखों से मिलता है (नं० 8, 478, 641) तथा उसे 'निसगअंन' अर्थात् जीवन रक्षा हेतु अन्न कहा गया है।[23] राजधानी से आये हुए सेनानियों को गुसुर कुषनसेन को एक मास के भोजन के लिए 4 मिलिम और 10 खी धान तथा 3 मेढ़े दी गई और चोझवो नेतिपाल को इतनी ही मात्रा में धान तथा 3 भेढ़े भी एक मास के लिये दिया गया। (नं० 478)। दूसरे लेख (नं० 641) में यह 'निसगअेन' तीन खी पुंजवंत के लिए निर्धारित किया गया। कदाचित् यह एक दिवस अथवा एक सप्ताह के लिए

निर्धारित किया गया होगा। गोद देते समय गोद लेने वाला व्यक्ति शिशु के पिता को उसके दूध के लिए धन देता था। समाज में मदिरा का भी प्रयोग होता था। इसका उल्लेख कई लेखों में है (नं० 175, 244, 317, 329, 345) तथा प्रशासन की ओर से यह कर में भी ली जाती थी। इसका व्यापार भी होता था। एक लेख (175) में पुरानी मदिरा का उल्लेख है जो शासक के पास भेजी जाती थी तथा जनता द्वारा तीन खी शराब पीने का उल्लेख है। एक अन्य लेख (247) में शासक के पास पुरानी मदिरा को मोहर लगा-कर भेजने का विवरण है। यह शराब अंगूर से बनाई जाती थी जिसकी खेती होती थी, पर कहीं पर इसके विक्रय के लिए दुकानों का उल्लेख नहीं मिलता था।

वेश-भूषा[24]

मध्य एशिया के निवासियों की वेश-भूषा जलवायु के अनुकूल शिष्ट थी तथा विभिन्न व्यक्तियों की रुचि के अनुसार थी। भारतीय संस्कृति का आभास वहां की वेशभूषा से भी मिलता है। यद्यपि उसपर चीनी प्रभाव भी प्रतीत होता है। युवांग-चांग ने खोतान निवासियों का वर्णन करते हुए उनके वस्त्रों का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार यहां के लोग ऊन तथा 'फर' के बने कपड़े पहिनते थे तथा रेशमी और सफेद कपड़ों का भी प्रयोग होता था[25]। स्त्रियों की वेशभूषा पाजामा तथा मेखला (घाघरा) थी और ऊपर चोली पहनती थीं। खरोष्ठी लेखों में भी पहनने वाले वस्त्रों के कुछ नाम मिलते हैं जिनके समीकरण का प्रयास विद्वानों ने किया है। एक लेख (नं० 316) में चुकपए नामक एक स्त्री ने अपनी बहिन को लिखा है कि उसने प्रिघ (कदाचित रेशम) का बना एक 'पंजवंत' भेजा है और इसके बदले बहिन से चोडग (कोट) भेजने का आग्रह किया है (राजथमेय चोडेग पचेवर परिकुच ददवो)। चोटग अथवा चोडग (319) का अनुवाद कोट अथवा लबादा से किया गया है।[26] 'चोडग' शब्द का प्रयोग दास दासियों के पारिश्रमिक के सन्दर्भ में भी किया गया है। एक लेख (नं० 19) में एक स्त्री को भोजन, कपड़ा और पारिश्रमिक के रूप में 'चोडग' तथा 'पचेवर' का उल्लेख है तथा एक दूसरे लेख (नं० 506) में इसका उल्लेख एक दास को दिए जाने वाले कपड़े के सन्दर्भ में है। अतः यह प्रतीत होता है कि चोटग अथवा चोडग का प्रयोग पुरुष स्त्री दोनों ही करते थे।

एक अन्य लेख (नं0 505) में 'चटग' का अनुवाद वस्त्र के रूप में किया गया है जिसका प्रयोग सार्वजनिक रूप से होता था । यह सम्भव है कि यह कोट की भांति सिला हुआ कपड़ा हो । लेखों में वेश से सम्बंधित कुछ अन्य शब्द भी मिलते हैं जैसे 'कवशी' या 'कवजी', 'कुंचुलि', 'कचवध', चांद्री इत्यादि का उल्लेख है । कवशी अथवा कवजी को अन्तर्वासक या अन्दर पहनने वाला वस्त्र माना है । कंचुलि की समानता संस्कृत के कंचुलिका से की जा सकती है और वह स्त्रियों के स्तन ढकने का वस्त्र है तथा इसका प्रयोग पूर्ण रूप से होता था जैसा कि चित्रों से प्रतीत होता है । लेखों में तीन प्रकार की बनी कंचुलिकों का उल्लेख है—रेशम की बनी प्रिय कंचुलि, पटुआ अथवा सन की बनी कंचुलि तथा ऊन की बनी कंचुलि (नं0 318) । खोतान में स्त्रियों की छोटी जाकिट का उल्लेख उनकी वेशभूषा के सन्दर्भ में किया है ।[27] कमरबन्ध की तरह कंचवंध (नं0 149) नामक एक वस्त्र था । मेखला या कटिसूत्र की भांति इसका व्यवहार भी होता था ।[28] स्टाइन को मीरान प्रदेश से रेशमी कपड़े का एक कमरबन्द प्राप्त हुआ । जिस लेख (नं0 149) में इस कचवंध का उल्लेख है उसमें अन्य वस्त्रों में चार मोटे बुने कपड़े, तीन ऊनी कपड़े, एक चांदी का आभूषण, दो ज़ाकिट तथा दो 'सोंस्तनि', दो कचवंध और तीन चीनी लबादों का भी विवरण है । एक लेख (नं0 353) में 'चीनवेड़' भेजे जाने का उल्लेख है जो कदाचित् चीनी पगड़ी थी जिसका प्रयोग सर ढकने के लिए किया जाता था । इनके अतिरिक्त दो अन्य लेखों (272, 714) में 'चाद्री कमंत' का उल्लेख है जिसकी व्याख्या कई विद्वानों ने की है ।[29] वरों ने इसका अनुवाद करते हुए इसका समीकरण एक प्रकार के कर से किया है । पर वेली महोदय ने चाद्री कमंत से चादर के बने पैजामे से किया है । जिस सन्दर्भ में इसका प्रयोग हुआ है उससे प्रतीत होता है कि शासन को कर के रूप में जो चीजें भेजी जाती थीं उनमें यह भी सम्मिलित था । टामस महोदय के अनुसार इससे जेड-जस्ते का संकेत है । पहनने तथा ओढ़ने से सम्बन्धित वस्त्रों के लिए लेखों में कुछ अन्य शब्दों का भी प्रयोग किया गया है जिनपर विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं । एक लेख (नं0 149) में 'चीन चिमर' का उल्लेख है जिसका अनुवाद चीनी लबादे के रूप में किया गया है । 'चीनी' संस्कृत में एक पौधे का नाम है[30] जिसके अर्शु या रेशे से कपड़ा बुना जाता था । 'चीमर' अथवा 'चीवर' बौद्ध भिक्षुओं के लिए पहनने का वस्त्र था ।[30] एक अन्य लेख में 'कचीं कमुत'

का उल्लेख है जिसके अर्थ कर्ची का बना पैजामा है अथवा अवेस्तन कर्ची मान-कर कुरता अथवा कमीज के लिए माना गया है। यह शरीर के ऊपरी भाग का वस्त्र प्रतीत होता है। 'कमत' नामक वस्त्र का कालीन, गलीचा, कम्बल के साथ उल्लेख एक लेख (नं0 714) में हुआ है और इसकी समानता खोतानी 'कौमिदई' 'कामदा' से की गई है जो संस्कृत 'सुवथ' 'सुथन' है जो 'महाव्युत्पत्ति' के 'सुन्थणा' से मिलता है और जिसके अर्थ पैजामा है। ल्यूडर्स ने 'कमुत' की समता 'कमत' से की है[31] तथा टामस ने इसको 'शमुत' मानकर इसके अर्थ कोई बुना हुआ वस्त्र बताया है।[32] अग्रवाल इसे वैदिक 'शामूल', 'शामूल्य' मानकर इसे वधु के लिए किसी विशेष रूप से बुने वस्त्र को मानते हैं।[33] एक अन्य शब्द 'पुच्छम' है जिसका उल्लेख एक खरोष्ठी लेख (नं0 534) में मिलता है। यह 'पोत्सु' से मिलता है जो उस सूती कपड़े का नाम था जिससे रात्रि में पहनन का वस्त्र बनाया जाता था।[34] हो सकता है कि चीनी तुर्कि-स्तान में कश्मीर के इस वस्त्र को अपनाया गया हो। 'पोथी एकवर' (नं0 534) का अर्थ कपड़े के एक टुकड़े के बने वस्त्र से किया गया है।[35] एक अन्य शब्द 'सडी' को 'रजी' 'रजाई' के अर्थ में लिया गया है अथवा इसे शाट; शाटिका के रूप स्त्रियों के पहनने का वस्त्र माना गया है।[36] इन पहनने वाले वस्त्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य वस्तुओं का भी उल्लेख है जिनका वस्त्रों से सम्बन्ध है तथा उनका उपयोग होता था। लेख (नं0 566) में 'चित्र-वटमयलस्तुग' का उल्लेख है जिसका अनुवाद बहुरंगे रेशम से बने लस्तुग से किया गया है। 'लस्तुग' का उल्लेख दो अन्य लेखों (184, 258) में उपहार के सन्दर्भ में हुआ है। 'लस्तुग' शब्द की भी कई विद्वानों ने व्याख्या की है। वरो के अनुसार यह उत्तरी फारसी 'दस्तार' जिसके माने तौलिया, रूमाल आदि है, के अर्थ में है[37]। डी0 सी0 सरकार ने इसे रस्सी नापने का फीता माना है।[38] यह ठीक नहीं प्रतीत होता है क्योंकि उपहार के लिए और वह भी किसी स्त्री के द्वारा कोई अच्छी उपयोगी वस्तु ही होना चाहिए। टामस के मतानुसार[39] संभवतः यह दुशाला या ओढ़ने का पट होगा जो विशेष रूप से चित्रित किया गया होगा (चित पटनये लस्टुग)। कालीन की भांति इसका भी माप लिया जाता था। एक अन्य वस्त्र 'कजह वनग' (नं0 583) की समानता मेंजपोश या कोई कालीन से की गई है।[40] इनके अतिरिक्त ओढ़ने के वस्त्रों का भी विवरण मिलता है। खोतान के साहित्य में भारतीय कम्बल

का उल्लेख है पर नीया के लेख इसे 'लोई' कहते हैं जिसे 'कोजव' (नं० 583, 595, 599) कहा गया है जिसको टामस[41] ने कौशेय' या रेशमी कपड़ा बताया है तथा इसकी पुष्टि आटो स्टाइन ने अपने एक लेख में की है।[42] बेली ने इस शब्द को ऊनी चादर के अर्थ में लिया है।[43] एक अन्य लेख (432) में एक घोड़े के साथ एक कोजव तथा एक अगिष्ध' का उल्लेख है जो एक प्रकार का कम्बल था।[44] पालि साहित्य में भी इसका विवरण दीघ-लोमको महाकोजवो' के रूप में किया गया है।[45] 'कोजवो' के साथ एक अन्य शब्द अवलिक' का भी उल्लेख मिलता है (नं० 575)। यह भी कोई वस्तु रही होगी जिसका पहिनने से सम्बन्ध होगा। एक लेख में रजी जो कर से सम्बन्धित सन्दर्भ में है तथा कोशव', 'अर्नवजी, थवस्ते (कालीन), नंमते (नमदा), 'चांद्री' तथा 'कमंत' के साथ उल्लिखित है। इसकी रजाई से समानता की गई है, पर एक अन्य लेख (431) में 'सडी' शब्द को रजाई के अर्थ में लिया गया है।[46] 'तवस्तग' अथवा 'थवस्त' ईरानी शब्द है जिसका अर्थ कालीन है[47] तथा इसके उल्लेख कई लेखों में है (नं० 431, 578)। एक लेख में इसकी लम्बाई 13 हाथ दी है। यह सभी ओढ़ने वाले वस्त्र कर के रूप में भी लिए जाते थे तथा जीवन चर्या में भी इनका प्रयोग होता था।

दैनिक जीवन से सम्बन्धित वस्त्र ऊन, सन, पटुआ, रेशम, कपास, रुई तथा चमड़े के बने होते थे। खरोष्ठी लेखों में इन पदार्थों का उल्लेख मिलता है। शीतकाल में कम्बल, रजाई तथा अन्य ऊनी वस्त्रों की आवश्यकता होती थी। ऊनी वस्त्रों का उल्लेख 'उर्नवरडे' (सं० 345) के नाम से हुआ है तथा एक अन्य लेख में 'उंन' से इसे संकेतित किया है जो संस्कृत ऊर्ण तथा हिन्दी 'ऊन' कहलाता है। इसी लेख में उल्लिखित 'शन' की समानता संस्कृत' शण' हिन्दी 'सन' से की गई है। इस लेख का 'सनपट'–शणपट या सनपट है जिसकी कंचुलि बनाई गई थी। लेखों में विभिन्न प्रकार के कौशेय–रेशमी वस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है जिसके लिए 'पट' शब्द का प्रयोग किया गया है। एक अन्य शब्द 'कोज़व' संस्कृत 'कौशेय' का उल्लेख तीन लेखों में मिलता है। (नं० 549, 583, 592)। 'पट' की समता 'पट्ट' अथवा रेशमी कपड़े के थान से की गई है।[48] टामस ने 'पट' तथा 'पट्ट' शब्द पर विस्तृत रूप से व्याख्या करते हुए पट को एक नियमित रूप से डुपट्टा माना है जिसका प्रयोग शिष्टा-चार के रूप में होता था तथा विभिन्न प्रकार के दंड देन में भी इसका उल्लेख

है जैसे संघ की बैठक में अनुपस्थिति होन पर, पोसथ में सम्मिलित न होन पर तथा किसी साधारण व्यक्ति को पोसथ में लाने पर ,एक 'पट' देना पड़ता था। कुछ चीनी लेखों में इसकी नाप भी दी गई है।

वस्त्रों को रंगा भी जाता था तथा 'वर्न' शब्द से रंगभेद का अनुमान होता है (नं० 318, 660)। जिन रंगों के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है वे श्वेत-स्पेत (नं० 431), अथवा 'श्विति' (नं० 83), 'पंदुर'–संस्कृत पांडुर-पीला (नं० 781) तथा पीत (606) और कशद (संस्कृत कषाय) का भिक्षु के चीवर के सन्दर्भ में उल्लेख है। नीले रंग का भी प्रयोग होता था जैसा कि एक लेख (नं० 318) से प्रतीत होता है जिसमें कई रंगों के बने एक ल्योवमन का भी उल्लेख है। जिन वस्त्रों से सम्बन्धित शब्दों का उल्लेख है उनमें से बहुतों का चिन्हीकरण नहीं किया जा सकता है। यह है 'षमिन', ल्योकमन, क्रेमेरु, पलि-यर्नग, 'दरे' तथा 'किगि'। 'किगि' नामक वस्त्र को नीले रंग में रंगा गया था।

ऊनी, रेशमी तथा साधारण वस्त्रों का प्रयोग जनसाधारण की आर्थिक स्थिति तथा जलवायु और समाज में स्थान के अनुसार ही होता था। इसी तरह से आभूषण भी सामाजिक स्तर के आधार पर पहने जाते थे। कुछ लेखों में इनका उल्लेख मिलता है तथा उत्खनन से भी बहुत प्रकार के आभूषण प्राप्त हुए जिनका विवरण स्टाइन ने किया है।[49] एक लेख (नं० 566) में कुष्षुत तथा तिलुतमए द्वारा खोई गई वस्तुओं में मोतियों की सात लड़ी वाला हार (मुतिलत), एक दर्पण, कई प्रकार के रेशम का बना एक लस्तुग, तथा एक सुडि कर्ण आभूषण का विवरण है। जिस चोर ने इन्हें चुराया था उसने इसको एक अन्य व्यक्ति के हाथ बेच दिया था पर उसे कोई मूल्य नहीं मिला था। एक अन्य लेख (नं० 113) में एक सोने के गले का हार तथा दो अर्नवजी के विक्रय का उल्लेख है। सोने तथा मोतियों के अतिरिक्त चांदी तथा अन्य धातुओं के आभूषण भी बनाए जाते थे। मरुग से ली गई वस्तुओं में एक चांदी के आभूषण का भी उल्लेख है (नं० 149)। स्टाइन को जो आभूषण उत्खनन में प्राप्त हुए उनमें कर्णशोमन के समान नीया से प्राप्त एक छोटा मध्य सोने का गहना है। यह सोने के एक पतले चादर का बना है तथा बीच में एक छोटा सा हीरा जड़ा है।[50] खाक प्रान्त से भी स्टाइन को कर्ण-शोमन आभूषण प्राप्त हुआ। यह गोल आकार का है जिसमें दो मोती भी जड़े

हैं।[51] स्टाइन ने कांसे के आभूषणों का भी उल्लेख किया है। एक भन्डाकार कांसे का आभूषण की भांति पदार्थ भी मिला।[52]

दैनिक जीवन से सम्बन्धित अन्य पदार्थों में बरतन, जूते, शीशे, कंघे इत्यादि का विवरण भी खरोष्ठी लेखों में मिलता है। एक लेख (नं0 432) में नमदे के बने चार 'कवजी' का उल्लेख है जिसका समीकरण 'कवर्ण' अथवा काफस' से किया गया है जिसके अर्थ जूते हैं। स्टाइन ने अपने सेरेन्डिया' में कई प्रकार के जूतों का उल्लेख किया है जो कपास या कपड़े, रेशम, नमदे, ऊन तथा चमड़े के बनते थे।[53] लोकपाल चित्रों में जूते पहने दिखाए गए हैं। सभी प्रकार के जूते मोटे तथा ऊंचे होते थे जिसमें शीत से रक्षा हो सके तथा घुड़सवारी के लिए भी उपयोगी हो। इसी प्रकार के जूते मध्य एशिया में प्रसिद्ध थे और कनिष्क की मथुरा में मिली मूर्ति में भी इसी प्रकार के ऊंजे जूते जिनपर पट्टा बंधा है, दिखाया गया है।[54] इन जूतों में सन का फीता बांधा जाता था।[55] श्रंगार के लिए कंघ तथा शीशे का भी प्रयोग होता था। एक शीश का अन्य वस्तुओं के साथ चोरी हो जाने का उल्लेख एक लेख (नं0 566) में मिलता है। एक मिट्टी की मोहर पर शीशा अंकित है तथा चित्रों में भी यह दर्शित है।[56] खोतान से कांस्य का शीशा भी प्राप्त हुआ। कंघे भी कई धातुओं के प्राप्त हुए जिनमें हड्डी, सींघ, लकड़ी के कंघे उल्लेखनीय है।[57] एक लेख (नं0 13) में आखेट का भी उल्लेख है तथा घोड़ियों और घोड़ों का शिकार का विवरण है। मध्य एशिया की जलवायु के लिए यह जनसाधारण का सुलभ विनोद था।

कृषि व्यवस्थ

मध्य एशिया में कृषि तथा पशुपालन ही विशष रूप से अर्थ व्यवस्था से सम्बन्धित थे। कुछ व्यवसायों का उल्लेख लेखों में मिलता है। खरोष्ठी लेखों से कृषि की प्रधानता तथा फसल पैदा करने के लिए सम्पूर्ण कार्य प्रणाली का विवरण मिलता है। वहां का कृषक, भूमि भेद, खेती की विधियां तथा उपयुक्त बीजों की परख इत्यादि का ज्ञान रखते थे। उपजाऊ भूमि 'मिषि' कहलाती थी तथा परती भूमि जिसपर अन्न न पैदा किया गया हो या यह उसके उपयुक्त न हो, को 'अक्रि' कहा जाता था। एक लेख में चड़ोर के भिक्षु यिपिय द्वारा उस भूमि के विक्रय का उल्लेख है जो पहले 'मिषि' थी पर बाद में 'अक्रि' हो गई। (मिषिय हुअति तदे पराएश भूमि अक्रि पतिदं)। टामस ने 'मिशि'

भूमि का अर्थ जोती हुई तथा 'अक्रि' बिना जोती हुई भूमि बताया है।[58] भूमि को जोतने के लिए हल का प्रयोग होता था तथा जुताई और बुनाई के लिए क्रमशः 'कृषितम' तथा 'ववितग' शब्दों का प्रयोग किया गया है (नं० 320) जिसको संस्कृत में 'कृषनतः' तथा 'वपन्तः' कहा गया है। इस लेख में फुवसेन नामक व्यक्ति को इस कार्य के लिए रखनें की याचना की गई है। कदाचित् यह पत्र किसी मित्र को लिखा गया था तथा इससे प्रतीत होता है कि याचक स्वयं अपनी खेती का कार्य नहीं कर सकता था। एक अन्य लेख (नं० 574) में भी इसी प्रकार दूसरे व्यक्ति द्वारा खेती कराने का उल्लेख है जो किसी अनुबन्ध के अन्तर्गत हुई और उपज होने के बाद ही कुछ निर्णय किया जा सकता था। भूमि के विक्रय तथा जोतने और बोने के सम्बन्ध में एक अन्य लेख (नं० 678) में चिमक द्वारा चप्गु के हाथ 'कुरोर' भूमि जिसमें 3 मिलिम बीज लगता था, के बेचने का उल्लेख है तथा उसको और उसके पुत्रों को उस भूमि को बंधक रखने, बेचने तथा दूसरे को दान देने का पूर्ण अधिकार था। 'मिशि' तथा 'अक्रि' के अतिरिक्त 'मूम'—भूमि से सम्बन्धित एक और शब्द 'कुरोर' का भी प्रयोग मिलता है (मूम कुरोर त्रे मिलिम प्रमन') अथवा कुरोर भूमि जिसमें 3 मिलिम बीज की आवश्यकता होती है। एक अन्य लेख (514) में भूमि को पहले 'कुरोर' कहा गया है (यंथ पुरविग कुरोर हुअति)। यह शब्द उत्तरी फारसी के 'कुरार' अथवा 'कुरारा' से मिलता है जिसके अर्थ है कि वह भूमि जिसपर मेंड़ बंधी हुई है तथा बोने के लिए तैयार कर दी गई है। 'मूम कुरोर' की समानता 'मूम क्षेत्र' से करने पर प्रतीत होगा कि कृषि योग्य भूमि को बोते समय ठीक से जोतना पड़ता था तथा उसके चारों ओर ऊंची मेंड़ बना दी जाती थी। मेंड़ बनाने का कार्य पहले भी किया जा सकता था। किसी की भूमि का मूल्य उसकी बीज डालने की शक्ति के आधार पर होता था तथा यही मापदंड निर्धारित था और इसका उल्लेख भी कई लेखों में मिलता है। बीज के लिए 'मिज' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा इसी के मूल्य पर भूमि बेचने का उदाहरण लेख नं० 495 में मिलता है। यवे-अवन में अप्चुल नामक व्यक्ति द्वारा कल्यिगय के हाथ एक भूमि बेची गई। उसमें बीज डालने का मूल्य 1 मिलिम और 10 खी था। इसके आधार पर भूमि का मूल्य 30 मूली के एक तीन वर्षीय घोड़े पर तय हुआ। इसके अतिरिक्त कई अन्य लेखों (422, 519, 580, 676) में भी इसी प्रकार बीज

के मूल्य पर आधारित भूमि के क्रय-विक्रय का उल्लेख मिलता है। लेख (नं० 715) में 3 मिलिम बीज की शक्ति वाले मिशिय मूम का विक्रय मोगत्त चिमोल तथा उसके पुत्र मोगेचमोछ ने एक 9 वर्षीय ऊंट लेकर किया। इस प्रकार भूमि का क्रय विक्रय पशुओं के माध्यम से होता था। एक लेख (366) में नवग अवन में कुन्गेय नामक व्यक्ति द्वारा जोती हुई भूमि को वहां के ग्रामवासियों को लौटाने का आदेश है।

कृषक को अपने बोए हुए खेत के लिए नियमित रूप से पानी की आवश्यकता होती थी। इस सम्बन्ध में सिंचाई का उल्लेख कई लेखों में मिलता है। यदि अमुक पर पानी का अभाव है तो दूसरे स्थान से पानी खेत सींचने के लिए लाया जाता था (नं० 368)। गेहूं में तो तीन चार बार पानी लगाने का विवरण है। (ज उम द्विवर त्रेवर उतग पे तग तस्मेष)। सिंचाई के लिए पानी का मूल्य भी देना पड़ता था (नं० 72)। एक लेख (नं० 160) में बीज तथा पानी के मूल्य देने का उल्लेख है। एक अन्य लेख (नं० 502) में मोयप्रिय भिक्षु ने याचिका की है कि अप्जिय नामक व्यक्ति ने पानी उधार में लेकर दूसरों को बांटा था जिसकी जांच करने का आदेश दिया गया है। कभी कभी अधिक पानी के कारण खेतों में बाढ़ का पानी भी आ जाता था। एक लेख (नं० 47 तथा देखिए 125) में ल्यिपेय की याचिका थी कि अप्जेय के पानी से उसका खेत तथा रहने का घर भर गया था। पानी बन्द करने का भी उल्लेख एक लेख (नं० 125) में मिलता है। खेत में खड़ी फसल तथा उसके काटने की विधि का किसी लेख में उल्लेख नहीं मिलता है पर खलियान के लिए 'गोठदे' शब्द का प्रयोग एक लेख में मिलता है। (एदस दास चडयस गोठदे अर्चगिडति च) (नं० 36)। यह किसी दास का खेत था पर याचिका ल्यिपे ने की थी कि खोतान के अप्गे और किल्यगे ने उसके खेत से कुछ वस्तुएं चोरी करी थीं। खेती के लिए ऋण के रूप में बीज उधार देने का भी उल्लेख है। (नं० 140) और इसे व्याज सहित लौटाया जाता है। अन्य लेख (नं० 142) में दूनी मात्रा में लौटाने का क्रम है। अनाजों के अतिरिक्त अंगूर तथा शहतूत की भी खेती होती थीं। स्टाइन ने खोतान में गेहूं, कपास तथा सन और फल, तरकारी तथा शहतूत की खेती का विवरण दिया है। चीनी यात्री के अनुसार खोतान का अधिक भाग मरुस्थल था जिसमें कुछ भूमि खाद्य पदार्थों के अनाजों की उपज के लिए उपयुक्त थी। वहां की जलवायु

तथा भूमि फलों की उपज के लिए भी उपयुक्त थी। तुर्किस्तान खोतान कपास की उपज का केन्द्र था और अधिक से अधिक कपास और सन की खेती होती थी ।[59]

पशुपालन

कृषि के अतिरिक्त पशुपालन भी वहां के प्राचीन निवासियों का व्यवसाय था । लेखों में जिन पशुओं का उल्लेख मिलता है उनमें ऊंट ही सबसे प्रधान है और मरुस्थल भूमि में इसका विशेष महत्व था । ऊंटों के लिए 'उट' ही शब्द का प्रयोग किया गया है। (न0 4, 6 10, 16 इत्यादि)। यह सवारी तथा बोझ ढोने का काम करते थे तथा किराए पर भी चलते थे (नं0 6, 16, 21)। कभी कभी तो अधिक बोझ के कारण इनकी मृत्यु भी हो जाती थी (न महि परिक्रमेन नधमि उट सवित एद परिक्रयेद मय) (नं0 52) । ऐसी अवस्था में इसका उत्तरदायित्व बोझ लादने वाले पर होता था और यदि वह चलने में कमजोरी के कारण असमर्थ हो तो जिस प्रान्त में वह हो वहीं पर उसकी चिकित्सा का प्रबन्ध किया जाये । (न0 40) । यदि वह स्वभाविक रूप से मर जाए तो उसके 'पंचरे' को वहीं दे दिया जाए। यातायात के लिए भी ऊंटों का प्रयोग होता था (नं0 125) तथा अश्वों के साथ ऊंटों का भी सैनिकों की सवारी के सन्दर्भ में उल्लेख है। (नं0 367) । ऊंटों की देखभाल का राज्य की ओर से भी प्रबन्ध था । एक लेख (नं0 10)में ल्यिपं का पेतअवन में 'कलेसेंचि' पद पर कार्य करने का उल्लेख है जो सैनिकों के ऊँट और घोड़ों की देखभाल करता था[60] । एक अन्य लेख में (नं0 82) भी ऊंट रखने वालों का उल्लेख है। ऊँटों का प्रयोग विनिमय तथा 'क्रय विक्रय के सन्दर्भ में भी होता था तथा कर के रूप में भी ऊंट दिए जाते थे। एक लेख (नं0 16) में यह आदेश दिया गया है कि 13 वर्ष से अधिक आयु वाले ऊंटों को कर के रूप में न लाया जाये । कन्यायों की बिक्री में भी ऊंटों का मूल्य लगता था। अकाल के समय एक स्त्री तथा उसके पुत्र ने एक लड़की को एक वर्षीय ऊँट जिसका मूल्य 40 था, लेकर बेचा। (नं0 589) । एक अन्य लेख (नं0 592) में चार दिष्टि ऊंची एक लड़की का एक 'अंवलत्स' ऊंट जिसका मूल्य 30 था, लेकर बेचा गया। ऊंट का मूल्य भूमि विक्रय में भी मापदंड का काम देता था । 3 मिलिम जोत वाली एक मिषिय भूमि का विक्रय एक 9 वर्षीय ऊंट लेकर हुआ (नं0 715) ।

ऊंट के अतिरिक्त घोड़े पालने का भी चलन था और इनका प्रयोग सैनिक तथा असैनिक कार्य के लिए होता था। सैनिकों के लिए विशेषकर यह अपनी तेज चाल के कारण उपयोगी थे। सूपियो–कदाचित् ह्यूंग-नू-के कल्पदन की ओर बढ़ने की टोह लेने के लिए रक्षक को घोड़े पर बैठाकर भेजा गया। (नं० 119)। ऋण तथा उपहार में भी घोड़े दिए जाते थे। एक लेख (नं० 24) में चालें द्वारा अपने दास सरपिग को ऋण के रूप में घोड़े देने का उल्लेख है। कदाचित् इस घोड़े का प्रयोग उस दास ने खेत जोतने के लिए किया होगा क्योंकि इसके बदले में वह दास के मालिक सुगीत से उसका मकान तथा भूमि चाहता था। एक अन्य लेख (नं० 243) में चकवल द्वारा अपने पिता चोजवो समसेन को उपहार के रूप में एक अश्व देने का उल्लेख है। इसके बदले में उसने दो भेड़ और तीन 'हस्तवर्ष' उसको दीं। भेड़ों का उल्लेख कई लेखों में मिलता है। (नं० 56, 519)। भेड़, मेमने तथा बकरों के उल्लेख से प्रतीत होता है कि इनको ऊन के सन्दर्भ में पाला जाता था जिसका व्यापार मध्य एशिया में खूब होता था। एक लेख (नं० 568) में 10 भेड़ों के देने का उल्लेख है। लेखों तथा चीनी यात्रियों के विवरण से मध्य एशिया में ऊन के व्यापार का संकेत मिलता है। बकरे भी पाले जाते थे। इन्हें 'हेडिपशन' नाम दिया है जिसका अनुवाद 'बकरा' किया गया है[61]। बकरे का भी क्रय-विक्रय शासकीय ढंग से होता था (न० 633)। गायें भी पाली जाती थीं तथा इनके दूध से घी बनाया जाता था जो बहुतायत में होता था। गाय के लिए 'गो' शब्द का उल्लेख है। गायों का भी क्रय-विक्रय होता रहता था तथा यह उपहार में भी दी जाती थीं। एक लेख (नं० 122) में नमरस्म द्वारा एक राजकीय गाय के उपहार रूप में भेंट देने का उल्लेख है (लोषिदित) तथा उसी लेख में पिसल्मी द्वारा सोतुगे के हाथ एक गाय के बेचने का विवरण है और उसका मूल्य मिलिम संघ के अध्यक्ष को दिया गया। राजा और रानी के पृथक गोशाले थे[62] जिसके लिए गोपालकों की नियुक्ति होती थी (नं० 439)। लेख के अनुसार राजा की गौओं का रक्षक वही हो सकता था जो किसी अन्य कार्य का अधिकारी न हो। एक विभाग का एक ही अधिकारी हो सकता था। गोपालन से दूध बहुतायत में होता था जिससे घी बनता था। लेखों में इसके लिए 'घ्रिद' अथवा 'घ्रत' शब्द का प्रयोग हुआ है (नं० 13)। एक लेख में सहस्त्रों घड़े घी के उत्पादन का उल्लेख है (नं० 514)। खलिहानों से घी

की चोरी का भी उल्लेख मिलता है (नं० 15)।

पशुओं के पालन तथा उनकी रक्षा का भी समुचित प्रबन्ध था। नगर के बाहर पशुओं के लिए चारागाह था जहाँ वे चरने जाते थे। इसके लिए 'कमोढ़' शब्द का उल्लेख है (वरिदतो न इंचि कमोढयि नचिर...) जिसका अनुवाद टामस ने 'सार्वजनिक चारागाह' किया है।[63] पशुओं की रक्षा का भार पशु-पालकों पर था और उनपर अत्याचार करने वालों को राज्य की ओर से उचित दंड मिलता था। कुछ व्यक्ति अपने पशुओं के लिए चारागाह रखते थे। एक लेख में उस स्थान पर शिकारियों द्वारा उसके घोड़े घोड़ियों को मारने का उल्लेख है (यथ एतस कमोढमि वड़वि स्तोरंच तह जनतंत्र नचीर गच्छंति)। बरो ने 'नचीर' का अर्थ शौनिक या शिकारी के रूप में लिया है[64]। शासक ने इस याचिका के फलस्वरूप अधिकारियों को किलमुद्र भेजकर उन शिकारियों पर रोक लगाने की आज्ञा दे दी।

पशुपालन मध्य एशिया की आर्थिक व्यवस्था के लिए अनिवार्य था। इससे वहां के निवासियों की पूर्ति होती थी। घी दूध का उपयोग तो भोजन के लिए होता था पर भेड़ों के ऊन से कपड़े तथा नमेद बनाए जाते थे जो वहां की जलावयु के अनुकूल थे। ऊन के विभिन्न प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे। पशु-सम्पत्ति यहां के निवासियों के लिए ही बहुत महत्व रखती थी। य्वांग-चांग के वृतान्त के अनुसार खोतान में पशुओं की संख्या बहुत थी जिनमें ऊंट अधिक थे।[65]

कृषि तथा पशुपालन के अतिरिक्त मध्य एशिया में कला शिल्प तथा औद्योगिक व्यवसायों का भी विवरण मिलता है। सोने के आभूषण बनाने के लिए स्वर्णकार थे। इसका उल्लेख एक लेख (नं० 578) में मिलता है (वितित भविष्यति अवि च सुवर्णकार पर्व तियत अत्र)। स्टाइन ने भी 'सेरन्डिया'[66] में खोतान से प्राप्त आभूषण तथा चित्रित आभूषणों का उल्लेख किया है जो सोने के बनाये जाते थे। सोने के अतिरिक्त चांदी के झुमके तथा अंगूठी का भी उल्लेख है। 'रजतकार' या चांदी के गहने बनाने वालों का किसी लेख में उल्लेख नहीं है यद्यपि भारत में तो इनकी अपनी श्रणी थी। इन दो धातुओं के अतिरिक्त कांसा तथा मुलम्वे के आभूषण भी चित्रित है तथा प्राप्त आभूषणों में मोती तथा वीड भी उल्लखनीय है।[67] लकड़ी का प्रयोग की अच्छी तरह होता था

और विभिन्न प्रकार की लकड़ी की तख्तियें जिनमें कुछ आयताकार, कुछ चतुभुंज तथा कुछ पंचभुज हैं यह संकेत करती है कि इनको बनाने के लिए कुशल वधिक या बढ़ई रहे होंगे। उत्खनन में भी केवल काष्ट की वस्तुएं ही नहीं मिली हैं वरन् स्थाप्य तथा शिल्प कला के भी बहुत से सुन्दर उदाहरण मिलते हैं जिनका विस्तृत में उल्लेख नहीं किया जा सकता है। लकड़ी के अतिरिक्त चमड़े पर लिखे लेख तथा उपानह चर्मकला का उदाहरण है। इनके अतिरिक्त रेशम के उत्पादन तथा वस्त्रों का सिलना, तन्तुवाय तथा दर्जियों का संकेत करता है। खरोष्ठी लेखों में 'तवस्तग' शब्द का भी उल्लेख मिलता है जिसके अर्थ कालीन अथवा गलीचा कहा गया है (तसभगेन तलवस्तग त्रोदम (नं० 431) पर वेली ने 'थवस्तये' जिसका उल्लेख 714 नं० के लेख में है, का अर्थ गलीचे के कपड़े से लिया है[68]। तुर्किस्तान कालीन तथा गलीचों के लिए प्रसिद्ध था और यहीं से इनका निर्यात भी होता था था[69]। एक लेख (नं० 527) में 12 हाथ लम्बे कालीन का मूल्य निर्धारित किया गया है। कालीन के अतिरिक्त ऊन तथा रेशम के लिए भी चीनी तुर्किस्तान प्रसिद्ध था। ऊन के लिए भेड़ें पाली जाती थीं और इनका उल्लेख कई लेखों में मिलता है। रेशम अथवा कौशेय का भी कारोबार होता था और इसके आयात तथा निर्यात का भी उल्लेख मिलता है। एक लेख (नं० 660) में कई प्रकार के रेशमी थानों का उल्लेख है। एक अन्य लेख (नं० 35) में रेशम के चीनी व्यापारियों का उल्लेख है जिनका लेनदेन स्थानीय व्यापारियों के साथ होता था (चीन विहेडिदवो यं कल चिनएथनदे वनिये अगामिष्यन्ति)। रेशमी थानों के लिए पट शब्द का प्रयोग किया गया है। इन रेशमी थानों का प्रयोग कपड़े बनाने, वस्तु के क्रय-विक्रय, दंड की मुक्ति तथा उपहार हेतु किया जाता था। एक लेख (नं० 3) में सुगीसम नामक एक स्त्री के मूल्य में 41 रेशमी थान देने का उल्लेख है। भिक्षु संघ में नियमों की अवहेलना करने वालों को भी दण्ड के रूप में एक थान देना पड़ता था। (नं० 489)। यदि कोई भिक्षु 'पोसथ' में सम्मिलित न हो अथवा गृहस्थ की वेशभूषा में आये तो उसे दण्डित किया जाता था।

भोजन तथा पेय पदार्थों के भी व्यवसायी थे। मदिरा और इसके बनाने का कई लेखों में उल्लेख है (नं० 175, 244, 317 इत्यादि) और इसका व्यापार भी अन्य प्रदेशों के साथ हुआ करता था। अंगूर की खेती मदिरा निर्यात के लिए होती थी और यह कार्य राजकीय स्तर पर भी होता था। मदिरा

के बनाने तथा कर के रूप में लेन देन के लिए एक अलग ही कार्य विभाग था (नं० 567)। इसमें पुरानी तथा नई मदिरा का कर रूप में वसूलने का उल्लेख है। एक अन्य लेख (नं० 247) में मोहर लगा कर मदिरा भेजे जाने का उल्लेख है। शराब का उपयोग ऋण चुकाने (नं० 168, 244) तथा वस्तु के मूल्य में देने में भी होता था। मदिरा की भांति घी का भी व्यापार सुचारु रूप से होता था। लेखों में सहस्त्रों घड़े घी का उल्लेख है (घ्रितकुंब सहस्त्रानि) (नं० 514)। राजकीय गायों से बनाए गए घी का उल्लेख एक लेख में है और इससे प्रतीत होता है कि घी का व्यापार राज्य की ओर से भी होता था। इस सम्बन्ध में 'शदविद' पदीय एक शासक था जो इसका प्रबन्ध करता था। उपरोक्त लेख में राजा की आज्ञानुसार शदविद द्वारा दो घोड़े इन्देरे तथा नीया के लिए भेजे गए। शासक ने सम्पूर्ण वर्ष में घी निर्यात का पूरा ब्यौरा भी मांगा। घी का लेनदेन के रूप में भी प्रयोग होता था तथा इसके चोरी जाने का भी उल्लेख है। एक लेख (नं० 621) में मिट्टी के बर्तन बनाने वाले (कुलल-कुलाल) का भी उल्लेख है जिसका पुत्र सगमोमि सुप्रिया नामक एक स्त्री के साथ भागकर कुचि चला गया था। बर्तनों में 'कलश' या घड़े का उल्लेख भी मिलता है। (न० 349) तथा मीरान की चित्रकला में तो 'कमण्डलु' भी दिखाया गया है। मिटटी के भाण्डों या बर्त्तनों में कलश तथा मटके और बड़े घड़े इत्यादि थे और इनको बनाने का कार्य कुलाल या कुम्हार का था।

मध्य एशिया की अर्थ व्यवस्था अच्छी प्रतीत होती है और सोने का प्रयोग उनकी सुगठित तथा सुसम्पन्न आर्थिक अवस्था का संकेत करता है। एक लेख (नं० 140) में स्वर्ण के क्रय-विक्रय की बात है। इसमें स्वर्ण का मूल्य पूछा गया है जो बिक्री के लिए था तथा पहाड़ी क्षेत्र से इसकी उपलब्धि का भी संकेत है। चीनी तुर्किस्तान में स्वर्ण की खानों का उल्लेख भी अन्य स्रोतों से प्राप्त होता है[70]। एक अन्य लेख (न० 177) में उपहार के रूप में स्वर्ण देने का उल्लेख है जो किसी बालक के लिए रक्खा गया था। सोने का उपयोग मुद्राओं के रूप में भी होता था तथा कुछ लेखों में 'सुवर्ण सतेर' अथवा 'सुवर्ण-सदेर' का उल्लेख है। एक लेख में 'सदेरस' का उल्लेख है जिसकी समानता यूनानी स्टेटिरस से की गई है।

विनिमय तथा मुद्राएं और माप साधन[71]

मध्य एशिया में विनिमय तथा पशुओं के मूल्य के आधार पर क्रय-विक्रय होता था। एक लेख (नं0 338) में एक 'किलमे' की विवाहित स्त्रियों का दूसरे स्थान की स्त्रियों से विनिमय (अदला-बदली) का उल्लेख है। इसके लिए 'स्त्रियन मुकेषि' शब्द का प्रयोग किया गया है। एक अन्य लेख (नं0 32) में दो अवनों के बीच वैवाहिक विनिमय का उल्लेख है। एक लेख (नं0 591) में मनुष्य की खरीद पशु के मूल्य से हुई थी। 'काल' रोकत्सि ने प्रुष्धय की विक्री में एक पांच वर्षीय ऊंट, एक पांच वर्षीय अश्व तथा 25 'अत्ग' पाए। लेख (नं0 186) में भूमि की विक्री में मूल्य के रूप में एक गाय तथा एक बछिया, ओगय और सरविग ने कुवय से प्राप्त किया। इसी प्रकार अप्चुल द्वारा विक्रित भूमि का मूल्य तीन वर्षीय एक अश्व था (नं0 495)। एक अन्य लेख (नं0 886) में चीन तथा खोतान में गायों के भेजने का उल्लेख है। यह कदाचित् किसी आयात वस्तु के बदले में भेजी गई होगी। इन पशुओं का विनिमय के रूप में अथवा धन के स्थान में मूल्य निर्धारण में प्रयोग होता था। एक लेख (नं0 180) में शासक के 6 खोतानी ऊंटों का उल्लेख है जो संभवतः व्यापार के सम्बन्ध में प्राप्त हुए थे। इस प्रकार खरोष्ठी लेखों से यह ज्ञात होता है कि विनिमय में पशुओं तथा अन्य पदार्थों जैसे मदिरा, घी, अनाज, तथा बुने हुए कपड़े का प्रयोग होता था। पशुओं में गाय, ऊंट तथा अश्व भी इसी काम में लाये जाते थे। इनके अतिरिक्त कुछ सिक्कों या मुद्राओं का भी प्रयोग होता था जिनका उल्लेख लेखों में मिलता है (न0 43 324 419 431)। इनके नाम सदेर द्रम्म-त्रम्म, त्रस्य, मूलि, कम्पोमाश, घने, ममक है। देवपुत्र मरि के राज्यकाल के चतुर्थ वर्ष में चिनषगार्ष नामक व्यक्ति ने र्सपिन नामक एक दास का मूल्य दो सोने के सतेर तथा दो त्रम्म देकर चुकाया (नं0 324)। दो अन्य लेखों (नं0 12 और 43) में लिवरजम द्वारा दो स्वर्ण सदेर के प्राप्त होने का उल्लेख है। एक दूसरे लेख (नं0 419) में श्रमण अढ़मों के पुत्र बुधिल तथा बुधय द्वारा एक अंगूर की वाटिका–जो पांच क्षेत्रों में थी––का विक्रय एक सुवर्ण सदेर में हुआ। एक अन्य लेख (नं0 702) में चार सदेर (मूल्य) की चीनी तथा दो त्रम्म की मिर्च (पिपलि) का उल्लेख है। इन दोनों मुद्राओं की समानता यूनानी स्तेतर तथा द्रम्म से की गई है[72] तथा यह भी कहा गया है कि गन्धार होकर यह मुद्राएं चीनी तुर्कि-

स्तान पहुंचीं। तीन लेखों में सुवर्न (स्वर्ण) सतेर अथवा सदेर का उल्लेख तथा एक में सदेर लिखा है जिससे चीनी खरीदी गई थी, इस बात का संकेत करता है कि वहां सोने के स्तेतर के अतिरिक्त चांदी के स्तेतर का भी चलन रहा होगा। इसकी पुष्टि एक उइगुर तुर्की अभिलेख से होती है जिसको गुन्वेडेल ने प्रकाशित किया था। इसमें चांदी के 6 सतेर का उल्लेख है। सोने तथा चांदी की सतेर मुद्राओं के अनुपात (रेशियो) का उल्लेख खरोष्ठी लेखों में नहीं मिलता है, पर कुछ वहां से प्राप्त तिब्बती लेखों में सोने का आधा ज़ो तीन चांदी के ज़ो के बराबर था[73]।

इन दोनों मुद्राओं के अतिरिक्त एक लेख (नं0 ,43) में सुवर्न सदेर के साथ कम्पो 1 का भी उल्लेख है—(कनक शकस्यमि कम्पो 1 सुवर्न सदेर 2 लधं)—जिस सन्दर्भ में यह लिखा है उससे प्रतीत होता है कि सोने के एक छोटे पात्र में एक कम्पो और दो सुवर्न मुद्राएं प्राप्त हुई। अत: यह भी एक प्रकार का सिक्का रहा होगा जिसका समीकरण नहीं हो सका है। वरो ने इसे कोई वस्तु माना है[74]। कई खरोष्टी लेखों में मश (मष) का भी उल्लेख है जिसकी समानता भारतीय मुद्रा 'माष' से की गई है। एक लेख (नं0 500) में नरसक नामक नीया निवासी को भिक्षु मोछप्रिय से 2800 माष मिलने का उल्लेख है। यह किसी क्रय-विक्रय से सम्बन्धित रहा होगा, अथवा ऋण के रूप में दिया गया होगा। एक अन्य लेख (149) में एक निर्वसित व्यक्ति ने अपने अपहरण किए धन में 2500 माष का भी उल्लेख किया है। माष का उल्लेख लेखों में बड़े मूल्य जैसे 8000, 2800, 2500 के रूप में मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि यह छोटे मूल्य का सिक्का था। वास्तव में इसकी समानता भारतीय 'माष' या मास से, की जा सकती है। एक अन्य मुद्रा का नाम 'घने' था जिसका उल्लेख भी खरोष्टी लेख (नं0 702) में मिलता है जिसमें पुत्र जन्मोत्सव के उपलक्ष में कुछ वस्तुएं भेजने का विवरण है जिनका मूल्य भी दिया है जैसे मरिच धने 3, शिंगवेर अदरक द्रख्म 1; पिपलि द्रख्म 2, त्वच घने 1, सुष्मेल (छोटी इलायची) धने 1, शकर सदेर 41 वरों ने इसे ईरानी शब्द 'दग' का रूप माना है जो द्रम का चौथाई भाग था जिसकी समानता 'द्रख्म' से की गई है। अग्रवाल[75] ने इसकी भारतीय 'धानक' से तुलना की है जिसका उल्लेख वृहस्पति स्मृति में है और इसका मुल्य 4 कार्षापण था। 12 धानक का एक सुवर्ण या दीनार होता था[76]। लेखों में

उल्लिखित 'मूलि' को संस्कृत 'मूल्य' के रूप में माना गया है, यद्यपि कुछ लेखों में इसके साथ में अंक भी जोड़े गए हैं। एक लेख (नं० 431) में एक कालीन जो 13 हाथ (क्यूविट) था का मूल्य 1 स्देर था। दूसरे लेख (नं० 579) में इतने ही लम्बाई के कालीन का मूल्य 12 मूलि था। इस आधार पर एक स्देर 12 मूलि के बराबर था। इस प्रकार धने और मूलि क्रमशः द्रख्य और स्तेतर से सम्बन्धित थे। एक अन्य मुद्रा से सम्बन्धित शब्द का उल्लेख चीनी तुर्किस्तान की एक भित्तचित्र के नीचे अंकित लेख में मिलता है जिसे तित–टाइटस नें बनाया था और उसके लिए उसे 300 ममक मिले। इस 'ममक' की समानता संस्कृत 'मर्मन' से की गई है जिसके अर्थ 'मुद्रा' तथा स्वर्ण है[77]।

तौल और माप के सम्बन्ध में कुछ अन्य शब्दों का भी उल्लेख मिलता है। अन्न, पेय पदार्थ, वस्त्र, तथा भूमि व कालीन इत्यादि के सन्दर्भ में इनका प्रयोग होता था। मुख्य रूप से तौल से सम्बन्धित 'खि' और 'मिलिम' का उल्लेख मिलता है। इनका प्रयोग मुख्यतया धान, मदिरा, घी, अनार इत्यादि की तौल के लिए होता था। 'खि' और 'मिलिम' के बीच 20:1 का अनुपात था। खोतान के निकट खदलिक से प्राप्त कुछ अप्रकाशित अभिलेखों में इसी प्रकार 'ख' और 'कूस' का तौल के सन्दर्भ में उल्लेख मिलता है। कूस का उल्लेख मजर-तथ से एक प्रकाशित अभिलेख में भी मिलता है (पंजस कूस त्छौ शंग—अथात् 5 कूस और 4 शंग। वेली के अनुसार इन दोनों का अनुपात 'खि' और 'मिलिम' की तरह था। तिब्बती अभिलेखों में 20 ब्रे–1 खल का विवरण है। उन्होंने ब्रे-वो की समानता संस्कृत 'द्रोण' से तथा 'खल' की 'खारी' से की है। यदि इस खि-मिलिम––'ख'–कूस––ब्रेको-खल––द्रोण-खारी की समानता को मान लिया जाये तो 'खि' और मिलिम वास्तव में भारतीय द्रोण और खरि के ही रूप हैं। भारतीय अनुपात के आधार पर 1 द्रोण–4 आढक–1।6 खारि अथवा 32 सेर के बराबर है। लेखों में जिस सन्दर्भ में खि-मिलिम का प्रयोग हुआ है वह सब धान तथा घृत (घी) के लिए हैं। एक लेख (नं० 25) में रक्षक के लिए वेतन के रूप में 3 मिलिम धान का, तथा 1 मिलिम और 10 खि देने का उल्लेख है। एक अन्य लेख (नं० 98) में तीन व्यक्तियों के धान की तौल 10 खि थी। एक लेख (नं० 162) में तीन खि घी भेजने का उल्लेख है तथा एक अन्य में 6 मिलिम धान को लेने के लिए दो व्यक्तियों—

कोलेत तथा तपि को भेजने का विवरण है। मदिरा के सन्दर्भ में भी 'मिलिम' तथा 'खि' मापदंडों का उल्लेख है (नं० 168, 175)। यह कर के रूप में निर्धारित मात्रा थी जिसको देना रह गया था। एक लेख (नं० 175) में लोगों द्वारा 3 खि मदिरा पीने का उल्लेख है। भूमि में बोये जाने वाले बीज के लिए भी इसका प्रयोग किया गया है। एक भूमि में 30 खि बीज बोया जाता था (नं० 186)। ऊँटों पर इसी माप से तौलकर सामान भी लादा जाता था। एक लेख में (नं० 200) 3 मिलिम धान प्रत्येक ऊंट पर लादन का उल्लेख है। एक अन्य लेख (नं० 210) में वेतन के रूप में 31 व्यक्तियों को इसी आधार पर निर्धारित मात्रा में धान दिया गया—तीन व्यक्तियों को 3 मुलि, 1 मुलि तथा 1 मुलि और बाकी और 28 व्यक्तियों को 5 खि प्रत्येक व्यक्ति के लिए धान दिया गया। कुल मिलाकर 12 मुलि धान बंटा।[78] इस प्रकार 'खि' और 'मिलिम' का प्रयोग धान, घी, मदिरा के अतिरिक्त भूमि के लिए बीज डालकर उसका मूल्य आंकने के लिए भी होता था। इन दोनों के अतिरिक्त कई और शब्दों का उल्लेख भी इसी सन्दर्भ में है। 'चषग' का उल्लेख 'खि' के साथ एक लेख (नं० 76) में मिलता है जो वास्तव में संस्कृत 'चषक' का रूप है। यह मदिरा पीने का प्याला होता था। इससे द्रव्य पदार्थ भी नापा जा सकता था। लेख में इसका प्रयोग घी नापने के लिए हुआ था। एक अन्य लेख (नं० 169) में 'स्पर्न' शब्द का उल्लेख है जिससे शुकि मदिरा नापी गई थी। यह 'खि' से छोटी मात्रा का था। 'वचरि' का प्रयोग 'द्रव्य' तथा 'स्थूल' पदार्थों के नापने तौलने के लिए कई लेखों में हुआ है जैसे घृत के लिए—बचरि 2 एक वयरि घ्रिद (नं० 159), आटे के लिए—सतु वयरि 10 (नं० 214), भोजन के लिए 'फलितग वयरि, 15 अन वयरि 15, अन वयरि 1, ताडिम (सं० द्राडिम–अनार) के लिए–तडिम वयरि खि 1 (नं० 295) घड़िम शेष वयरि 2 (नं० 617), तथा साधारण रूप से (नं० 460) वयरि खि 4 वयरि 3। वरो के मतानुसार यह एक प्रकार का पात्र था जिसमें घी, धान, भोजन, दाडिम इत्यादि रखा जाता था और कई तरह की मात्रा के होते थे। यह नहीं कहा जा सकता है कि यह किस पदार्थ के बनते थे। एक लेख में 1 खि का वयरि (नं० 295) तथा दूसरे लेख में 4 खि की वयरि का उल्लेख है। 'अरे'–अरे खि (नं० 2 तथा 176) को खिका अर्द्धभाग माना गया है[79] पर यह निश्चय नहीं है। एक लेख (नं०

721) में 'प्रस्त' का उल्लेख है (प्रहिद में योग प्रस्त 1) जिसकी समानता संस्कृत से 'प्रस्थ' से की जा सकती है जिनका उल्लेख भारतीय लेखों तथा साहित्य में भी मिलता है। वेली के मतानुसार 1 षंग–4 हस्त के बराबर था इस पर निम्न निर्धारित किया गया है :

(अ) 1 षंग=1 आढ़क=4 प्रस्थ=1/4 द्रोण

(ब) 1 प्रस्थ=1/4 आढ़क=1/16 द्रोण=1/4 षंग

इनके अतिरिक्त लेखों में कर लेने के लिए पार्सलों तथा पैकटों या बंडलों का भी प्रयोग किया गया है जिनके लिए नघ–संस्कृत नद्ध, पके और 'वेन' शब्दों का प्रयोग किया गया है। एक लेख (नं० 59) में विभिन्न बंडलों में वसूले हुए कर को लाने का आदेश दिया गया है और कदाचित् यह बंडल 3 मिलिम के होते थे (त्रे त्रे मिलिम नद्य कर्तवो (नं० 291)। निया से प्राप्त अभिलेखों (नं० 66) में उल्लिखित 'वन' की खादलिक से प्राप्त अभिलेख के 'वन' से समानता की है। उन्होंने इस 'वन' (नं० 66) को 'मन' (नं० 194) से भिन्न माना है तथा 'वन' को ईरानी 'वन', उत्तरी फारसी 'वन्द', आवेस्तन निबन्द––जिसके माने बन्डल या पैकेट होता है, का रूप दिया है। इनकी भी अंकों से गिनती होती है थी। 'पके' शब्द का अर्थ पार्सल माना गया है तथा इसकी समानता तिब्बती 'फे–स' से की गई है। एक अन्य शब्द 'गोनि' भी कई लेखों (नं० 154, 207, 414) में मिलता है और इसके अर्थ 'वोरा' है जिसमें घोड़े के लिये दाना रखा जाता था। खादलिक के अप्रकाशित लेख में 'गूँज' शब्द भी मिलता है जिससे इसकी समानता की जा सकती है। अग्रवाल ने इस वोरे का माप द्रोण माना है और इसकी तुलना संस्कृत 'गोण' से की है। कपड़ों की नाप के लिए 'पट' का प्रयोग होता था पर इसकी नाप नहीं दी गई है। इनके अतिरिक्त कोजव, लस्तुग, रजि, नमत, कवजि इत्यादि का उल्लेख लेखों में हुआ है और कुछ के साथ 'हस्त' का प्रयोग हुआ है जो 18 इंच का होता था। दो हस्त से 12 हस्त तक के कालीनों का उल्लेख मिलता है जैसे काजहव नग हस्त 2 (नं० 583), तवस्तग हस्त 4 (नं० 581), तवस्तग हस्त 8 (नं० 578), अर्नवजि हस्त 8 (नं० 83), तवस्तग त्रोदस हस्त (431, 32), तवस्तग हस्त 12, मित्ति तवस्तग हस्त 11 (590)। एक अन्य शब्द 'गिष्टि' का भी उल्लेख मिलता है।[80] दो लेखों में लड़कियों की ऊंचाई का भी उल्लेख है (कुड़ि दिठि 4) तथा एक लेख (नं० 187)

में पुरुष की ऊंचाई का उल्लेख है (मंनुश पंच दिठि 187)। इस शब्द की समानता संस्कृत शब्द 'दिष्टि' से की गई।[81] भूमि की नाप के सम्बन्ध में 'खि' तथा 'मिलिम' का प्रयोग होता था जैसा कि लेखों से प्रतीत होता है। भूमि का मूल्य नाप कर बीज डालने के आधार पर था। एक अन्य शब्द 'कुथल' का भी प्रयोग किया गया है (मिलियम कुथल 13 विक्रिद-(नं0 327); अर्थात् मिषि भूमि से 13 कुथल निकाल कर बेची गई भूमि)। दो अन्य लेखों (नं0 419, 582) में भी 'कुथलयुम' का उल्लेख है जिससे भूमि के एक निश्चित टुकड़े का संकेत मिलता है। इनके अतिरिक्त इस सन्दर्भ में कोई अन्य शब्द नहीं मिलता है।

यातायात :

लेखों तथा चीनी वृतान्तों के आधार पर मध्य एशिया में यातायात सम्बन्धी विवरण प्राप्त होता है। चीन और पश्चिमी जगत के बीच रेशम का व्यापार होता था। उत्तरी और दक्षिणी रेशम मार्ग से चीन और पाश्चात्य जगत तथा भारत के साथ व्यापार होता था। इन्हीं मार्गों से चीनी यात्री भारत आये और यहां से बहुत से विद्वान मध्य एशिया होकर चीन गए। विशाल तकला-मकान मरुभूमि के उत्तर का मार्ग था जो काशगर, तुमुष्क, कूचा, कारशार होता हुआ तुन-हुआंग जाता था और दक्षिणी मार्ग काशगर से खोतान, नीया, इन्देरे, मीरान तथा लू-लान होता हुआ तुन-हुआंग पहुंचता था। इस प्रकार काशगर पश्छिम में और तुंग-हुआंग पूर्व में इन विशाल यातायात मार्गों के बिन्दु स्थान थे जहां पर दोनों ही मार्ग मिलते थे। इन यातायात मार्गों से धार्मिक, सांस्कृतिक तथा कला के विचारों में आदान-प्रदान की भी सुविधा थी। तालमी की 'भूगोल' तथा चीनी यात्रियों के वृतान्तों में भी इन मार्गों का विवरण है। कुछ लेखों में चीनी व्यापारियों तथा खोतान की ओर भेजे गए शिष्ट मंडलों का उल्लेख है। एक लेख (नं0 14) में षमेक खोतान तक जाने के लिए कल्मदन, साच, निना होकर प्रवेश का उल्लेख है तथा प्रत्येक मध्य स्थान से दूसरे तक उसके साथ रक्षक गया। एक अन्य लेख (नं0 35) में इस बात पर खेद प्रगट किया गया है कि वहां उस समय चीन के कोई व्यापारी नहीं आये थे इसलिए रेशम के ऋण की जांच नहीं हो सकी और यह तभी हो सकेगा जब व्यापारी चीन से आये। एक लेख (नं0 223) में खोतान जाने के लिए घोड़े के प्रबन्ध का उल्लेख है। शासन की ओर से घोड़ा न मिलने पर भाड़े का घोड़ा लिया गया

जिसको देने का भार चोझवो षमसेन ने लिया था। इस दूसरे लेख (नं० 248) में खोतान जाने के लिए शासन के ऊंटों का उल्लेख है। 'अम्वुकय' अपझीय द्वारा खोतान जाने का भी उल्लेख मिलता है (नं० 251) पर इस लेख में साधन का कहीं विवरण नहीं है। मार्ग की असुविधाओं तथा सुरक्षा के अभाव के कारण राजदूत अपने साथ अपने कुटुम्ब को नहीं ले जा सकता था (नं० 362)। इसीलिए जब सुवेथ खोस को दूत के रूप में खोतान भेजा गया तो उसे अपने परिवार को चड़ोत में राजाधिराज (स्थानीय राज्यपाल) के यहां छोड़ना पड़ा और यह आदेश दिया गया कि जब तक वह खोतान से वापस न आए खोस का कुटुम्ब वहीं चड़ोत में रहे। चीनी यात्रियों को भी मार्ग की असुविधाओं का अनुभव करना पड़ा, पर इनके होते हुए भी व्यापारी तथा शिष्टमंडल और सांस्कृतिक प्रसारणकर्ता इस क्षेत्र से विमुख नहीं हुए।

श्रम और श्रमिक वर्ग

आर्थिक जीवन में श्रम का अनुदान विशेष रूप से महत्व रखता है। उत्पादन में श्रम का बड़ा हाथ है। केवल पूंजी अथवा संचालन से काम नहीं चल सकता है। इसीलिए श्रम के लिये या तो वेतन के रूप में अथवा उत्पादन में हिस्सेदार बनकर काम करने के उदाहरण मिलते हैं। पारिश्रमिक देकर काम लेना भी अस्वाभाविक न था। खरोष्ठी लेखों में इस सम्बन्ध में भी कुछ वृतान्त मिलता है। वेतन के रूप में धन देने की प्रथा थी (नं० 25)। इसके अतिरिक्त कपड़ा और भोजन पर काम कराने का भी उल्लेख है। एक लेख में अग्नि नामक व्यक्ति को वेतन अथवा मजदूरी देने का उल्लेख है (नं० 50)। एक अन्य लेख में एक स्त्री की मजदूरी के झगड़े का उल्लेख है (नं० 54) काम करने के लिए प्रायः दास दासी होते थे। एक लेख (नं० 591) में एक मनुष्य की खरीद का विवरण है जिसका मूल्य एक पांच वर्षीय ऊंट, एक पांच वर्षीय घोड़ा तथा 25 'अत्ग' था। इस 'अत्ग' की जानकारी नहीं है। दासों द्वारा अर्जित धन तथा भूमि का भी उल्लेख है। स्त्रियों की भी भूमि होती थी। यह कदाचित् अर्जित धन से खरीदी गई होगी (नं० 677)। उनके प्रति दुर्व्यवहार के भी उदाहरण मिलते हैं। थोल्यिस ने चमोए का सिर फोड़ दिया तथा उसके भाई औगल ने याचक लियपेय की स्त्री पलुविसए को घायल कर दिया। दास के उधार का मालिक जिम्मेदार नहीं था। इस प्रकार स्त्री तथा दास दासियों के प्रति शोषण की भावना के उदाहरण मिलते हैं। (नं० 20, 29, 52, 54)।

मध्य एशिया के सांस्कृतिक जीवन की एक झलक वहां से प्राप्त खरोष्ठी लेखों के अध्ययन से मिलती है। यह सम्पूर्ण सामाजिक-आर्थिक जीवन केवल उन भारतीयों से ही सम्बन्धित नहीं है जो वहां पर जाकर बस गए और वहीं घुल-मिल गए। बहुत से भारतीय नामों का उल्लेख मिलता है जैसे सुगीत, अर्जुन, भीमसेन, उपसेन, सुमित, कुणाल, सूर्यमित्र इत्यादि जिनमें से बहुत से उच्च प्रशासनिक पदों पर भी आसीन थे। बहुत से बौद्ध भिक्षुओं के भारतीय नाम मिलते हैं। इनके अतिरिक्त बहुत से ऐसे नाम भी हैं जो ईरानी शक प्रतीत होते हैं। सामाजिक व्यवस्था भारत की भांति चार प्रमुख वर्गों में नहीं बंटी थी, वरन् यह विभाजन कर्म के आधार पर था। लेख में भिक्षु, गृहस्थ, राजकर्मचारी तथा 'बुरचुगस' का उल्लेख है। श्रमणों के साथ ब्रमन (ब्राह्मणों) का भी उल्लेख है। व्यवसाय की दृष्टि से चीनी तुर्किस्तान के समाज में राज-कर्मचारी, कृषक, शिल्पकार, व्यापारी तथा दास सम्मिलित थे। राजकर्मचारियों में चोझवो का पद सबसे ऊंचा था। इस सन्दर्भ में सोजक अथवा संजक या संजय का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। राजकीय वर्गों में 'कलेमेत्रि' तथा 'अखिग' पृथक थे तथा इनको अपने वंश की प्रतिष्ठा पर गर्व था। शिल्पकारों में सुवर्णकार का उल्लेख तो मिलता ही है। इसके अतिरिक्त अन्य कलाकार भी रहे होंगे जिनमें तन्तुवाय या कपड़ा बुनने वाले भी होंगे। कृषक वर्ग के व्यक्तियों में बहुत से अपने कार्य में निपुण थे और जन्मजात व्यवसाय होने के कारण उन्हें जोतने बोने का अच्छा ज्ञान था। व्यापारी वर्ग मदिरा, कौशेय (रेशम), ऊनी वस्त्रों तथा अन्य वस्तुओं का क्रय-विक्रय करते थे और चीन से भी वहां रेशम के व्यापारी आते थे। अन्तिम श्रेणी में भृत्य, अनुचर और दास थे जो भोजन तथा पारिश्रमिक लेकर घर का तथा खेत का काम करते थे। दासों के साथ दुर्व्यवहार के उदाहरणों का भी उल्लेख मिलता है पर उनके द्वारा अर्जित धन का भी विवरण है। लेखों में दास द्वारा सम्पत्ति के क्रय-विक्रय का भी उल्लेख मिलता है। यह दास अपने स्वामी की सभी प्रकार से सेवा करते थे तथा उनकी सम्पत्ति के क्रय-विक्रय में भी इनका बड़ा हाथ रहता था। कई भिक्षुओं के पास दास रखने का भी उल्लेख मिलता है। संयुक्त परिवार यहां की सामाजिक व्यवस्था का मुख्य अंग था। माता, पत्नी, पुत्र और पुत्री गृह स्वामी की संरक्षता में रहते थे। गोद लिए गये शिशु अथवा कन्या भी उसी प्रकार कुटुम्ब का अंग बन जाते थे। पौत्र का परिवार के अन्त-

गत समावेश था। पुत्र की कर्तव्यपरायणता का भी आभास मिलता है। विवाह संस्कार का भी लेखों में उल्लेख मिलता है तथा 'लोते' और 'मुकेषि' नामक वधू-शुल्क देने की प्रथा थी। बहु-पत्नी का केवल एक ही उदाहरण मिलता है। अपनी पत्नी बच्चों और दास के रहते हुए एक कुलाल पुत्र (कुम्हार) ने भिक्षु की कन्या का अपहरण कर कूची प्रदेश में शरण ली। परिवार में पुत्र जन्म उत्सव सूचक था। खरोष्ठी लेखों में पिता, माता, भाई और बहन को प्रिय कहकर सम्बोधित किया जाता था तथा यह निकट सम्बन्ध और स्नेह का सूचक था। आर्थिक दृष्टिकोण से यहां के निवासी सरल, सन्तुष्ट और सम्पन्न होने के कारण अपने सामाजिक जीवन का स्तर ऊंचा रखे हुए थे। स्त्रियों का स्थान भारतीय नारियों की भांति कौटुम्बिक परम्परा के अन्तर्गत सीमित था। कई प्रकार की स्त्रियों का उल्लेख मिलता है जिनमें वेशि स्त्री से वेश्या का संकेत है। पत्नी के लिए भर्य या भार्या शब्द का प्रयोग हुआ है तथा कुड़ि या कुडी का कन्या के अर्थ में प्रयोग किया गया है जो अब भी पंजाबी में अविवाहित कन्या को कहते हैं। चीनी तुर्किस्तान में कन्या के क्रय-विक्रय का भी उल्लेख मिलता है पर पिता की सम्पत्ति में कन्या भी पैतृक सम्पत्ति की अधिकारिणी थी। कन्या के विवाह का उत्तरदायित्व पिता पर था और एक लेख (नं० 474) में उल्लिखित 'जात्रियेन' शब्द का अर्थ पिता द्वारा कन्यादान माना गया है। पिता द्वारा कन्या देने की प्रथा समाज में सर्व प्रचलित तथा सर्वमान्य थी।[84] वयस्क कन्या स्वेच्छा से भी विवाह कर लेती थी। ऐसी परिस्थिति में पिता को वर से 'लोते' लेने का अधिकार नहीं था। विवाह सम्बन्ध निकट सम्बन्धियों के साथ भी हो सकता था तथा अन्तर-मंडल विवाहों में एक मंडल की कन्या के विवाह के प्रतिदान में दूसरे मंडल से कन्या दी जाती थी। इस अदल-बदल या विनिमय का प्रचलन लेखों से प्रतीत होता है। एक लेख में विवाह-विच्छेद का भी उल्लेख है। सामाजिक जीवन से सम्बन्धित अन्य विषय जैसे भोजन तथा भोजन सामग्री व पेय, वेशभूषा, आभूषण, आमोद-प्रमोद के साधन इत्यादि पर भी लेख तथा मध्य एशिया के भित्तचित्र प्रकाश डालते हैं। भोजन सामग्री में सत्तु (संस्कृत शक्तु) तथा अटा (आटा) का विशेष रूप से उल्लेख है। भोजन को स्वादिष्ट बनाने के लिए मसालों का प्रयोग किया जाता था जिनमें सुषमेल या छोटी इलायची और पीपल उल्लेखनीय है। घी, दूध और शक्कर (शर्कर) के लिए भारतीय शब्दों

का ही प्रयोग हुआ है। वेशभूषा, जलवायु के अनुकूल थी और चोटग–चाटग (लबादा कोट) पहना जाता था। पाजामा तथा मेखला (घांघरा) नीचे अंग का वस्त्र था। कवशी (कवची), कंचुलि (संस्कृति–केचुलिका)––जो रेशमी तथा सूती और ऊनी भी होती थी, तथा 'कतबन्ध' (कमरबन्द) भी प्रयोग किए जाते थे। चीन वेड़ से चीनी पगड़ी का संकेत मिलता है। चीनी चिमट (चीवार) या चीनी लबादे का भी उल्लेख है। लस्तुग या दुशाला ओढ़ने का काम देता था। पट से रेशमी वस्त्र का संकेत है जिसका प्रयोग भी पूर्ण रूप से होता था। वस्त्र कई रंग के होते थे। जूते, शीशे और कंधे का भी विवरण मिलता है तथा उत्खनन में भी यह पाए गए हैं। आमोद-प्रमोद के लिए आखेट या शिकार प्रमुख था पर अन्य साधन भी रहे होंगे।

आर्थिक क्षेत्र में कृषि प्रधान थी और कुशल कृषकों का कई लेखों में उल्लेख है। कृषि के लिए जल व्यवस्था का भी विवरण मिलता हैं। भूमि का क्रय-विक्रय उसके बीज बोने की शक्ति के आधार पर होता था। गेहूं के अतिरिक्त कपास और जौ की भी खेती होती थी तथा अंगूर और दाड़िम या अनार का भी उल्लेख मिलता है। पशुपालन के सन्दर्भ में घोड़े तथा ऊंट यातायात में भी काम आते थे। भेड़ों के ऊन से ऊनी वस्त्र बनते थे। इनके अतिरिक्त स्वर्णकार तथा अन्य व्यवसायी व्यक्तियों और व्यापारियों का भी उल्लेख है। व्यापारी चीन से खोतान तक जाते थे और मध्य एशिया तो उस समय प्रसिद्ध रेशम मार्ग का केन्द्र था। विनिमय के अतिरिक्त मुद्राएं तथा माप दंड सुव्यवस्थिति अर्थव्यवस्था का सूचक है। श्रम तथा श्रमिक वर्ग उत्पादन का प्रमुख अंग थे। इनके द्वारा खेती तथा व्यवसाय और व्यापार में अनुदान मिलता था। उस क्षेत्र की अर्थ व्यवस्था स्वपूर्ति स्थिति में थी पर बाहरी देशों के साथ व्यापार उनकी आर्थिक परिस्थिति तथा देश की आर्थिक व्यवस्था में दृढ़ता लाने में सहायक होता था। इसी के फलस्वरूप कला क्षेत्र तथा धार्मिक संगठन में भी बहुत प्रोत्साहन मिला। बौद्ध भिक्षु भी गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए अपने धार्मिक कार्य से विमुख न थे। उनके पास यथेष्ट धन था तथा वे भी दास रखते थे और अपनी खेती या व्यवसाय से लाभ उठाते थे। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण धर्म के प्रचलन का भी संकेत मिलता है जिसका पूर्ण रूप से विवरण आगे किया जायेगा।

―――――

१—मध्य एशिया में नीया, इन्देरे तथा लाउलान से ७८२ खरोष्ठी अभिलेख आरल स्टाइन को प्राप्त हुए जिनके आधार पर वहाँ का सांस्कृतिक जीवन चित्रित किया जा सकता है। इन लेखों में ७६४ का सम्पादन एवं प्रकाशन ए० एम० बोयर, ई० जे० रैप्सन तथा ई० सेनार्ट ने 'खरोष्ठी इन्सक्रिप्शन्स' नाम से तीन भागों में क्रमशः १९२०, १९२७ और १९२९ में किया और इन (लेखों) का अनुवाद टी० बरो ने अपनी पुस्तक 'ए ट्रान्सलेशन आफ दी खरोष्ठी डाकूमेन्टस फ्राम चाइनीज तुर्किस्तान' में किया (लन्दन १९४०)। इसके अतिरिक्त बरो ने १८ अन्य लेखों का भी अनुवाद अपने एक लेख में किया जो,बुलिटन आफ स्कूल आफ ओरियन्टियल एन्ड अफरीकन स्टडीज़' (भाग १, पृ० १११ से) में प्रकाशित है। इनके अतिरिक्त एफ० डब्लू० टामस ने भी लेखों में बहुत से प्रशासनिक एवं अन्य शब्दों पर अपनी टिप्पणियाँ 'एक्टा ओरिएतटालियाँ' में प्रकाशित दो लेखों में किया है (भाग १२, पृ० ३७ से); एच० डब्लू० बेली ने भी इस सन्दर्भ में कई लेख लिखे जिनका उल्लेख आगे उपयुक्त सन्दर्भ में किया जायेगा। भारतीय लेखकों में रतनचन्द्र अग्रवाल ने इन्हीं लेखों के आधार पर सांस्कृतिक विषयों एवं कुछ प्रशासनिक तथ्यों को लेकर कई लेख लिखे। ऊषा वर्मा ने जीवन समाज और धर्म के सन्दर्भ में इन लेखों को आधार बना कर एक छोटी सी पुस्तक हिन्दी में लिखी है (वाराणसी १९५९)।

२—रैप्सन ने सबसे पहले विद्वानों का ध्यान नीया से प्राप्त खरोष्ठी लेखों में भारतीय नामों के प्रति दिलाया था। यह लेख उन्होंने १४वीं अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य सम्मेलन के सम्मुख प्रस्तुत किया था। उनके खरोष्ठी लेखों के संकलन में भी बहुत से भारतीय नामों का उल्लेख है। स्टाइन ने भी इसका उल्लेख किया है ('सेरिन्डिया', १, पृ० ४१३)।

३—रतनचन्द्र अग्रवाल ने इन खरोष्ठी लेखों से प्राप्त सामग्री के आधार पर कई लेख लिखे हैं। इस सम्बन्ध में 'पीजीशन आफ वी मैन' (आई० एच० क्यू० १९५२), 'ए स्टडी आफ टेक्सटाइल एण्ड गारमेंटस' (आई० एच० क्यू० १९५३) तथा 'लाइफ आफ मोन्क्स एण्ड सर्फस' (वी० रि० इस्टीट्यूट १९५४) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पाश्चात्य विद्वानों, मुख्यतया टामस, स्टेन कोनो, बेली तथा बरो ने भी अपने लेखों में विभिन्न

सामाजिक आर्थिक समस्याओं एवं परिस्थितियों पर प्रकाश डाला है। पुष्टि, समानता अथवा विभिन्नता के लिए तत्कालीन एवं अन्य भारतीय श्रोतों के आधार पर प्रकाश डाला जाएगा।

४--'एशियंट खोतान' में इस विषय पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। रतनचन्द्र अग्रवाल ने भी एक लेख में पत्रों से सम्बोधित शब्दों पर व्याख्या की है। (आई० एच० क्यू० १९५४ पृ० ५० से)।

५--जाति की उत्पत्ति एवं विकास का विवरण भारतीय विद्याभवन द्वारा प्रकाशित 'हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दी इंडियन पीपुल्स' के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ भागों में मिलेगा जिनमें प्रत्येक युग की सामाजिक व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। धर्मशास्त्रों के आधार पर जातियों के विस्तृत रूप धारण के साथ साथ उनके व्यवसायों को भी निर्धारित कर दिया गया था। ऋग्वैदिक काल में जातियों की उत्पत्ति व्यवसाय एवं कर्त्तव्यों के आधार पर हुई पर बाद में समाज में इनका पृथक् स्थान बन गया और यह संकीर्ण होने लगी। मध्य एशिया में विभिन्न जातियों का उल्लेख व्यवसायों के सन्दर्भ में ही है और यह संकीर्ण नहीं प्रतीत होती है।

६--चंकुर, चोझवो तथा अन्य प्रशासनाधिकारियों पर विस्तृत रूप से टामस ने अपने लेख में विचार किया है। (ए० ओ० १३ पृ० ७२ से)।

७--देखिए : ए० ओ० १८ पृ० ३९।

८--वर्ग और व्यवसाय का सम्बन्ध एतिहासिक है। मेगास्थनीज ने समाज को व्यवसाय के आधार पर ही सात भागों में बाँटा है और कोई १३०० वर्ष बाद एक अरबी इतिहासकार इबन खुरदादन ने भारतीय समाज को सात वर्गों में बाँटा है जो व्यवसाय के आधार पर था। हाँ, उनके नाम विभिन्न हैं (देखिए : इलियट एण्ड डाऊसन--'हिस्ट्री आफ इन्डिया' भाग १, पृ० १६-१७; इस सम्बन्ध में मेरी पुस्तक 'हिस्ट्री आफ दी गुर्जर प्रतिहारास्' में भी इसका विवरण है। (पृ० ११८)।

९--इसका उल्लेख बी० एस० धुरिए ने अपनी पुस्तक 'कास्ट एण्ड रेस इन इन्डिया' में किया है (पृ० १२८)। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण इन लेखों में भी मिलते हैं जिनका उल्लेख 'प्रशासन' के सन्दर्भ में किया जाएगा।

१०--कौटुम्बिक जीवन एवं स्त्रियों की दशा पर प्रायः सभी विद्वानों ने भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित पुस्तकों में विवरण दिया है। स्मृतियों के आधार पर स्त्रियों की दशा में भी यथोचित परिवर्तन हुआ। जहाँ एक ओर नारियों को उच्च स्थान प्रदान करने का उल्लेख है वहाँ दूसरी ओर उन्हें निम्न श्रेणी में भी रक्खा गया है। कुटुम्ब और समाज के प्रमुख अंग के रूप में उनका अपना महत्व रहा है। इस सम्बन्ध में अल्टेकर की पुस्तक 'दी पोजीशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलीज़ेशन' (बनारस १९३८) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उपरोक्त दोनों विषयों पर मेरी 'पतन्जलि' एवं 'कुषाण कालीन भारत' में भी विचार किया गया है।

११--'खर्खौनि' शब्द पर कई विद्वानों ने व्याख्या की है। देखिए: बरो-बी० एस० ओ० एस० ७ पृ० ७८०। इन्हीं की पुस्तक 'लैंग्वेज' पृ० ८६; टामस-जे० आर० ए० एस० १९२१, पृ० २२०; तथा बी० एस० ओ० एस० ६, ५२१।

१२--'पेतवत्थु' १.७; 'सुत्तनिपात' ११०, बरो 'लैंग्वेज' पृ० २७।

१३--प्राचीन चीन में भी लड़की का पैदा होना एक दुखद घटना थी (लांग: चाइनीज फेमिली एण्ड सोसायटी (१९४७; पृ० ४६)। भारत में कभी कभी उसका जन्म शुभ माना जाता था। अल्टेकर: 'भारत में स्त्रियों का स्थान' (१९३८) पृ० २१। 'विष्णु स्मृति', ९९.७४।

१४--इस प्रथा के विरुद्ध तांग सम्राट काओ-शुंग ने आज्ञा निकाली थी कि कोई भी व्यक्ति अपनी पुत्री के विवाह के समय अपने जामातृ से धन नहीं ले सकता था और यदि लिया भी जाये तो वह सब लड़की के ऊपर ही व्यय किया जाये। देखिए: लांग: पूर्व उल्लिखित--पृ० ३३। अल्टेकर के अनुसार वैदिक काल में भारत में भी इसका संकेत मिलता है (वही--पृ० ४७)। धर्मशास्त्रों में इसका विरोध किया था (अल्टेकर पृ० ४८)। यूनान में भी पिता को अपनी पुत्री को बेचने का अधिकार था तथा भाइयों को संरक्षक के रूप में अपनी बहिनों के विक्रय पर सोलोन ने प्रतिबंध लगा दिया था।

१५--भारत में लड़कियों को गोद लेने के केवल दो उदाहरण मिलते हैं--एक में दशरथ की पुत्री शान्ता का लोमपाद द्वारा, तथा दूसरे में शूर पुत्री पृथा का कुन्तिभोज द्वारा गोद लेने का उल्लेख है। काणे--'हिन्दू धर्म-

शास्त्र' ३ पृ० ६७५। 'मयूख' के अनुसार केवल पुत्र ही गोद लिया जा सकता है (दत्तकश्च पुकानेव भवति न कन्या:—वही. पृ० ६७४)। 'स्कन्द पुराण', 'लिंग पुराण', 'हरिवंश' तथा 'आदिपर्व' (महाभारत) एवं 'रामायण' में कन्या के गोद लेने का प्राविधान है (काणे—वही ६७४ से ६९९)।

१६—टामस : बी० एस० ओ० एस० ५.५२२।

१७—लैंग्वेज. पृ० ११६। मोनियर विलियमस : संस्कृत-इंगिलस डिक्शनेरी, पृ० ९५१।

१८—इस विषय पर रतनचन्द्र अग्रवाल ने एक लेख 'इंडियन हिस्टारिकल क्वाटर्ली' में लिखा और उसमें पाश्चात्य देश में दास्य प्रथा का भी उल्लेख कर तुलनात्मक अध्ययन किया है (देखिए : वाल्यूम २९ जून १९५३ पृ० ९० से)। रामशरण शर्मा ने भारतीय दृष्टिकोण से 'स्लेव्स इन एंशियेन्ट इंडिया' नामक पुस्तक लिखी है (नई दिल्ली)। दास प्रथा पर विस्तृत रूप से विवरण विश्व के सन्दर्भ में 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स' वाल्यूम पृ० ११ में मिलेगा।

१९—देखिए : बरो 'लैंग्वेज' पृ० ११८; वेली : बी० एस० ओ० एस० ११.७९१ तथा ९.५४२–३।

२०—काणे : 'हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ० १८६।

२१—इस सम्बन्ध में ओम प्रकाश की 'फूड एण्ड ड्रिंक्स इन एंडियेन्ट इंडिया' में खाद्य एवं पेय पदार्थों का उल्लेख है। विभिन्न कालीन भारतीय समाज के अध्ययन में भी इसका उल्लेख मिलेगा। देखिए—मेरी 'इन्डिया इन दी टाइम्स आफ पतंजलि' (१९५७, १९६८) एवं 'इंडिया अन्डर दी कुषाणास' (बम्बई १९६५)।

२२—एक लेख में शक सेनानियों द्वारा दो गायों के अपहरण का उल्लेख है। उसमें से एक को लौटा दिया गया तथा दूसरी को वे खा गए थे। एक अन्य लेख (नं० ६७६) में चोरों द्वारा एक ६ वर्षीय गाय को चुरा ले जाने तथा मार कर खाने का उल्लेख है।

२३—यद्यपि लेखों में चावल का उल्लेख नहीं मिलता है, पर चीनी वृतान्तों के अनुसार कूचा, खोतान तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में इसका प्रयोग होता था (लाउफर—'साइनो ईरानिका'—पृ० ३७२ से; वेली—'गांधारी'

--बी० ओ० ए० एस०-११-पृ० ७९५ । चीनी सैनिक छाऊनियों के लिए गेहूं, बाजरा तथा चावल का प्रयोग होता था (श्वान--ले डाकूमेन्ट्स छिन्वा डेकूने पार--आरेल स्टाइन--१९१३, चौदह)--वेली, पृ० ७९५ ।

२४--इस सन्दर्भ में मोतीचन्द्र की 'इन्डियन कास्ट्यूम्स' में भारतीय दृष्टिकोण से पूर्ण रूप से प्रकाश डाला गया है । विभिन्न कालीन वेशभूषा का चित्रण भी बहुत सी पुस्तकों में मिलता है जैसे मेरी उपरोक्त पतंजलिकालीन तथा कुषाण कालीन भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित पुस्तकें, एवं भगवतशरण उपाध्याय का 'इन्डिया इन कालिदास', एवं सैलाटोर--'लाइफ इन दी गुप्त एज' । स्टाइन ने अपने 'सेरेन्डिया' में भी मध्य एशिया से प्राप्त कलाकृतियों में चित्रित वेशभूषा इत्यादि का उल्लेख किया है (पृ० १५२७ में संकलित) । ल्यूडर्स ने भी अपनी पुस्तक 'टेकस्टाइलिएन इन आर्ल्टन तुर्किस्तान' में प्राचीन वेशभूषा का विवरण किया है ।

२५--स्टाइन : 'ऐन्शिएंट खोतान' पृ० १३९ ।

२६--वरो : 'ट्रांसलेशन' पृ० ५८ ।

२७--'ऐन्शिएंट खोतान', पृ० १७० ।

२८--स्टाइन : 'सेरेन्डिया' पृ० ५३६-३७ ।

२९--देखिए : वरो : 'ट्रांस्लेशन' पृ० १४३; वेली : बी० एस० ओ० एस० ११, पृ० ७९३ ।

३०--बी० एस० ओ० एस० ७ पृ० ४२९ ।

३१--आर्ल्टन : 'टेक्सटाइलिएन' पृ० २४ ।

३२--ए० ओ०--१२--पृ० ७८-७९ ।

३३--'भारतीय विद्या' १४, पृ० ८८ ।

३४--बी० एस० ओ० एस० ८, ७७७ नोट ।

३५--वही : पृ० ७७८ ।

३६--वरो : 'ट्रांस्लेशन' पृ० ८८ तथा वेली : बी० एस० ओ० एस० १३ पृ० ३८-९ ।

३७--बी० एस० ओ० एस० ७, पृ० ७८६ ।

३८--'सिलेक्ट इंसक्रिपशंस' पृ० २४३, नोट २ ।

३९—ए० ओ० १२, पृ० ६६ नोट।
४०—अग्रवाल : 'भारतीय विद्या' १४, पृ० ८३।
४१—ए० ओ० १२, पृ० ५४।
४२—बी० एस० ओ० एस० ८, पृ० ७७८ नोट।
४३—वही ९, पृ० ७९३।
४४—बरो : 'ट्रांस्लेशन' पृ० २८।
४५—डेविडस : 'पालि डिक्सनेरी' पृ० ५५।
४६—बरो : 'ट्रांस्लेशन' पृ० ८८।
४७—बी० एस० ओ० एस० ७, पृ० ५१२।
४८—टामस : ए० ओ० १२, पृ० ५४ एवं बी० एस० ओ० एस० ११ पृ० ५४६। बरो : ट्रांस्लेशन, पृ० १०२।
४९—स्टाइन : 'एंशिएंट खोतान' पृ० ३८१।
५०—वही।
५१—वही, पृ० ५०६।
५२—वही, पृ० ४१५
५३—देखिए—'सेरेन्डिया' पृ० ७०४, ७७९, ८३९ से तथा 'एंशिएंट खोतान' पृ० ८९४, ९४१।
५४—मेक्गोवर्न : 'अर्ली' एम्पायर्स पृ० २६२।
५५—स्टाइन : 'एंशिएंट खोतान' पृ० २९७।
५६—स्टाइन : 'सेरिन्डिया' ९४३, ९६७, ९८०।
५७—वही, पृ० ७२१, ११९, २२२, ४६६, १३३, १९५।
५८—ए० ओ० ११ पृ० ३८; बरो : 'ट्रांस्लेशन' पृ० १२१।
५९—'एंशिएंट खोतान' पृ० १३०।
६०—बरो : 'लैंग्वेज' पृ० ८५।
६१—बरो : 'ट्रांस्लेशन' पृ० १३१।
६२—बी० एस० ओ० एस० ९. पृ० ११२।
६३—ए० ओ० १३ पृ० ६९ ; तथा जे० आर० ए० एस० १९२८, पृ० ५७२।
६४—बी० एस० ओ० एस० ७, पृ० ५१३।
६५—स्टाइन : 'एंशियन्ट खोतान' पृ० १७४।
६६—पृ० २३९, २७६।

६७—स्टाइन : 'सेरेन्डिया' पृ० १५१० में विभिन्न स्थानों से प्राप्त वीड्स-गुटिकों का विवरण है।

६८—बी० एस० ओ० एस० ११, पृ० ७९३।

६९—मेकगोवर्न : 'अर्ली एम्पायर्स' पृ० ५३।

७०—स्टाइन : 'सेरेन्डिया' पृ० १५३२।

७१—इस सम्बन्ध में रतनचन्द्र अग्रवाल ने दो लेखों—'यूमिसमेटिक डेटा इन द नियां खरोष्ठी डाक्यूमेन्ट्स फ्राम सेन्ट्रल एशिया' (जे० एन० एस० आई० १९५४ पृ० २१९–३०), तथा न्यूमिसमेटिक डेटा इन द खरोष्ठी डाक्यूमेन्ट्स फ्राम चाइनीज़ तुर्किस्तान (जे० एन० एस० आई० १९५३ पृ० १०३–६) में मध्य एशिया से प्राप्त मुद्राओं का विवेचन किया है। उन्होंने अपने लेख 'ए स्टडी आफ वेस्टस एन्ड मेजरस इन द खरोष्टी डाकू मेन्टस फ्राम चाइनीज़ तुर्किस्तान' में मापदंडों का उल्लेख किया है। (जे० बी० रि० सो० ३८ पृ० ३६५)। कुछ पाश्चात्य विद्वानों में टामस, स्टेन कोनो तथा वेली ने भी इस विषय पर लेख लिखे हैं (देखिए : जे० आर० ए० एस० १९२६ पृ० ५०७; १९२४ पृ० ६७१–२; ए० ओ० ६, पृ० २५५–६, बी० एस० ओ० एस० (१९४८) पृ० १२८–९।

७२—देखिए—टामस—जे० आर० ए० एस० १९२६ पृ० ३३७; १९२४ पृ० ६७२–८।

७३—अग्रवाल : जे० एन० एस० आई० १९५३ पृ० १०४।

७४—'लैंग्वेज' पृ० ८१।

७५—जे० एन० एस० आई० १९५३ पृ० १०३।

७६—भंडारकर : लेकचर्स आन ऐंशिएंट इंडियन न्यूमिस्मैटिक्स, पृ० १०४।

७७—सेरेन्डिया, पृ० ५३०; मोनियर विलियम्स—संस्कृत डिक्सनेरी पृ० ७४८।

७८—वरो : ट्रांस्लेशन, पृ० ३९।

७९—वरो : ट्रांस्लेशन, पृ० ७७।

८०—स्टाइन : 'सेरेन्डिया' पृ० ७०१।

८१—मोनियर विलियम्स : "संस्कृत डिक्समेरी" पृ० ४८०।

८२—टामस : बी० एस० ओ० एस० ६.५२१।

———

अध्याय 5

शासक तथा शासन व्यवस्था

चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त खरोष्ठी लेखों से इस क्षेत्र की सुव्यवस्थित शासन व्यवस्था का भी पता चलता है। भारत से सहस्त्रों मील की दूरी पर होते हुए भी प्राचीन शानशान राज्य में भारतीय शासन परम्परा के अंश दिखाई पड़ते हैं। यह व्यवस्था पूर्णतया भारतीय नहीं थी क्योंकि चीन के निकट होने के कारण इस पर कुछ चीनी प्रभाव होना भी अनिवार्य था। लेखों में बहुत से भारतीय नाम मिलते हैं जिनका शासन से सम्बन्ध था तथा वे उच्च पदों पर आसीन थे। जिन शासकों के नाम मिलते हैं उनकी उपाधियां भी भारतीय हैं और कुषाण राजाओं की उपाधियों से पूर्णतया मिलती हैं जैसे 'महाराज राजाधिराज तथा देवपुत्र'। अन्तिम उपाधि के विषय में कहा जाता है कि चीनी सम्राटों ने भी अपने को 'देवपुत्र' माना है। जिन शासकों के लेख मिले हैं उनमें वशमन, मयिरि अथवा महिरियि, अंगोक तथा पेपीय के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखों में कोई संवत नहीं है पर शासकों के अपने राज्यकाल के वर्ष का ही उल्लेख किया गया है। लेखों में जिन 6 राजाओं के नाम हैं उनमें खोतान के राजा अविजित सिंह हिनझस् का विशेष रूप से महत्व है। (खोतान महरय रयतिरस हिनझस्स अविजिदसिंहस्य) (नं० 661)। 'अविजित सिंहस्य' गुप्त राजाओं की मुद्राओं की याद दिलाता है। इन राजाओं के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में जानकारी प्राप्त नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि कौन किसका उत्तराधिकारी था अथवा राजा का पद आनुवंशिक था या प्रजा द्वारा निर्वाचन होता था। इनका नाम केवल राज्यकाल के सन्दर्भ में ही मिलता है जैसे संवत्सरे 6 महरयतिरयस महतंक जयंतस धमियस् सचधमस्तिदसनअव महरय अंकुवग देवपुत्रस' (नं० 581)। एक अन्य लेख में संवत्सरे 20 मासे 4 दिवसे 22 महनुअव महरय जिटुघ अंगोक लिखा है। (नं० 582)। 'सचधमस्तिनुअव' की कुजुलकथफिसके 'सचधमथितस' अर्थात् सत्यधर्मस्थितस्य' से समानता की जा सकती है।[1] लेखों में शासक के नाम, राज्यकाल,

मास तथा दिवस भारतीय कुषाण कालीन अभिलेखों की भांति है। इस सन्दर्भ में इन लेखों का काल तथा राजाओं के समय निर्धारण के विषय में रैप्सन का कथन है[2] कि यह लेख 86 या 96 वर्ष के अन्तर्गत है जो इस प्रकार से है : पेपिय 8 वर्ष, तजक 3 वर्ष, अंगोक 36 अथवा 46 वर्ष, मेरिय-मयिरि 28 वर्ष और वशमन 11 वर्ष। लगभग 1 शताब्दी का यह युग चीन के खान वंश की समाप्ति और 445 ई0 में तु-युक-हुन द्वारा शान-शान विजय के अन्तर्गत रखना चाहिए। इसमें भी यह प्रारम्भिक काल से सम्बन्धित नहीं है क्योंकि पहले हान वंश के शान-शान सम्बन्धी वृतान्त में किसी प्रकार के भारतीय प्रभाव का विवरण नहीं मिलता है। उधर पेपिय तथा तजक के समय के लेखों में भारतीय भाषा, प्रशासनिक शब्दावली तथा बौद्ध धर्म के ग्रहण का पूर्ण स्वरूप मिलता है। यह प्रभाव खोतान से आये हुए बौद्ध प्रचारकों द्वारा ही हुआ होगा और उस समय शान शान में उससे पश्चिम में स्थित राज्य भी सम्मिलित हो गए होंगे। इसीलिए टामस महोदय[3] के मतानुसार इन खरोष्ठी अभिलेखों का काल ईसवी की तीसरी शताब्दी के पहले नहीं रख सकते हैं। इनमें से कुछ लेख एक चीनी अभिलेख के साथ मिले जिसकी तिथि ईसवी की 269 थी। इस प्रकार हम लेखों की तिथि को ईसवी की तृतीय शताब्दी से पांचवीं शताब्दी के बीच में रख सकते हैं। लेखों में प्रशासन सम्बन्धी बहुत सी सामग्री मिलती है जिसके आधार पर शासक, प्रान्तीय तथा स्थानीय प्रशासन, कर व्यवस्था, अधिकारी तथा उनकी नियुक्ति, न्याय तथा दंड, सैनिक व्यवस्था, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला जा सकता है।

शासक तथा उसके अधिकार

राज्य शासन नृपतंत्र था तथा सभी प्रशासनिक अधिकारी उसकी आज्ञा का पालन करते थे। उनकी नियुक्ति भी उसी के द्वारा होती थी। एक लेख (नं0 292) में इस सन्दर्भ में चोझवो सोजक को आदेश दिया गया है कि वह रात-दिन लगन और निष्ठा से राज्य कार्य करे तथा उसकी रक्षा का हर तरह का प्रयास करे चाहे इसमें उसको जीवन का बलिदान ही क्यों न देना पड़े। खेम अथवा खोतान से प्राप्त किसी प्रकार के समाचार को तुरन्त शासक के चरणों में प्रस्तुत किया जाए। सूपियों (कदाचित् ह्यूंग-नू) के वापस जाने से प्रशासन कार्य में सहायता मिली है पर नगर की हर प्रकार से रक्षा होनी चाहिए तथा अन्य स्थानों के लोगों को वहीं रहना चाहिए पर उनके नगर

आने पर उनके साथ दुर्व्यवहार न हो। कर के रूप में मदिरा, जो गत वर्ष नहीं भेजी जा सकी तथा नए वर्ष का कर भी तुरन्त भेजे जाएं। चोझवो सोचक को सम्पूर्ण अधिकार सौंपते हुए प्रत्येक व्यक्ति को राज्य कार्यों में बाधा न डालने का आदेश दिया है (न सर्व जनस्य रजकार्यति कर्तवो)। इस प्रकार चोझवो सोचक शासक द्वारा प्रदेश का एकमात्र अधिकारी नियुक्त हुआ और केवल उसी शासक के प्रति वह उत्तरदायी था। सोचक का उल्लेख कई लेखों में हुआ है। सम्भवतः चोझवो सोजक इस प्रदेश का एक मात्र अधिकारी था जिसकी राजधानी चडोट नीया थी।[4] लेख नं० 272 से यह प्रतीत होता है कि शासक निरंकुश था और उस पर किसी प्रकार की वैधानिक रोक नहीं थी तथा छोटे से छोटे आवेदन उसके सामने आते थे। लेख में यह भी आदेश दिया गया है कि ऋणी व्यक्तियों को महाजनों के दबाव से रोका जाये तथा किसी प्रकार से धनी व्यक्ति उन ऋणियों का शोषण न कर सकें। शासकों की वंशावली कहीं नहीं मिलती है और जिनका नाम लेखों में मिलता है उनके बीच पारस्परिक सम्बन्धों का विवरण नहीं मिलता है। लेखों में शासकों के नाम, उनकी उपाधियां तथा राजकाल का उल्लेख है। अधिकतर लेख वशमन के समय के हैं। तजक के लेख में शासक ने 'राजाधिराज' की उपाधि भी ग्रहण की है। इस शासक का कोई अन्य लेख नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता है कि इसके अधीन कोई और शासक थे और न इसके अन्त के विषय में लेख से कोई जानकारी प्राप्त है। एक लेख (नं० 362) में प्रान्तीय शासक 'रजधरग' का उल्लेख है। उसे आदेश दिया गया है कि सुवेढ खोस के परिवार को अपने संरक्षण में रखे क्योंकि खोस को खोतान भेजा जा रहा है और परिवार के अन्य सदस्यों को चड़ोट में ही रहने का आदेश दिया गया है। प्रान्त की सीमा के विषय में कहीं भी उल्लेख नहीं है और न प्रान्तों की संख्या का कहीं उल्लेख है।

मंडल शासन

प्रान्त-मण्डल सम्बन्ध का कहीं भी विवरण नहीं मिलता है, पर यह निश्चित है कि मंडल प्रान्त से नीची इकाई थी। मण्डल प्रशासन के लिए 'किल्मे' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस लेख में इस 'किल्मे' के अध्यक्ष शासक चोझवो नस्तित अपने भाई 'सोढंग' ल्यिपेय को लिखता है कि वह अपने अधीन प्रजा की रक्षा करे। पत्र उस समय लिखा गया जब वह किसी यात्रा

पर जा रहा था। इस लेख से यह प्रतीत होता है कि मण्डल प्रशासक अपनी अनुपस्थिति में अपने क्षेत्र का भार अपने भाई पर डाल सकता था। इस मण्डल क्षेत्र का नाम लेख में नहीं दिया गया है पर दो अन्य मण्डल-लुस्तु और वुरु का उल्लेख एक अन्य लेख (नं0 179) में मिलता है। लेख (नं0 271) में ल्यिपेय अपने भाई, जिनका नाम लेख में नहीं है, को लिखता है कि वह चडोत मण्डल में उसके अधीन प्रजा को अपनी संरक्षता में रखे। यदि दोनों लेखों का ल्यिपेय एक ही व्यक्ति है तो दूसरा लेख बाद के समय का है और ल्यिपेय जो पहले 'षोसंघ' था अपने भाई के बाद चोझवों पद पर आसीन हो गया। इस प्रकार पैतृक नियुक्तियों का चलन प्रतीत होता है जो प्राचीन काल में साधारण बात थी तथा मध्य एशिया के खरोष्ठी लेखों में इस सन्दर्भ में बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

चड़ोट तथा कलदमन के प्रान्त जहां शान-शान प्रशासनाधिकारी नियुक्त थे, राज्य कहलाते थे। कदाचित् पहले यह छोटे छोटे सामूहिक जातीय राज्य थे और उनका अस्तित्व बना रहा। एक खरोष्ठी लेख (नं0 714) में दूर के प्रान्त तथा केन्द्रीय प्रशासन केन्द्र से वर्षा काल में 'वसु', अजेत तथा यतमत अधिकारियों को अपने अपने प्रान्त से कर निर्धारण सम्बन्धी समस्याओं के सम्बन्ध में आने का आदेश है। उस समय शान-शान राज्य की राजधानी क्रोरयिन थी जो लू-लान में स्थित थी। यहां पर स्टाइन ने उत्खनन कार्य किया था। क्रोरयिन का उल्लेख एक लेख (नं0 696) में मिलता है। इसमें वासुदेव नामक व्यक्ति अपने पिता युशु भतिग को लिखता है कि वह क्रोरयिन से वापस आया है तथा वहीं वापस जाना चाहता है। इस गुशुर को शासक से हर्ग या राजकीय कर वसूली दान में मिली थी। इस लेख में एक अन्य गुशुर पुंस तथा उसके बड़े भाई मतिराम का भी उल्लेख है। उपरोक्त दो लेखों से प्रतीत होता है कि विभिन्न प्रान्तों क शासक और प्रमुख व्यक्ति कर निर्धारण तथा उसकी वसूली के सम्बन्ध में राजधानी में बुलाए जाते थे तथा प्रशासकों को वेतन के रूप में 'हर्ग' या किसी क्षेत्र पर लगाया गया कर दे दिया जाता था। यह ढीली व्यवस्था थी और सामन्तशाही थी।

मंडल शासन

प्रान्त मंडल सम्बन्ध का कहीं भी विवरण नहीं मिलता है पर यह निश्चित है कि मंडल प्रान्त से नीची इकाई थी। मंडल प्रशासन के लिए 'किल्मे' शब्द

का प्रयोग किया गया है। इस लेख में इस 'फिल्मे' के अध्यक्ष शासक चोझवो नस्तित अपने भाई 'सांढंग' ल्यिपेय को लिखता है कि वह अपने अधीन प्रजा की रक्षा करे। पत्र उस समय लिखा गया जब वह किसी यात्रा पर जा रहा था। इस लेख से यह प्रतीत होता है कि मंडल प्रशासक अपनी अनुपस्थिति में अपने क्षेत्र का भार अपने भाई पर डाल सकता था। इस मंडल क्षेत्र का नाम लेख में नहीं दिया गया है पर दो अन्य मंडल—लुस्तु और वुरु का उल्लेख एक अन्य लेख (नं० 179) में मिलता है। लेख (नं० 271) में ल्यिपेय अपने भाई, जिनका नाम लेख में नहीं है, को लिखता है कि वह चड़ोत मंडल में उसके अधीन प्रजा को अपनी संरक्षता में रखे। यदि दोनों लेखों के ल्यिपेय एक ही व्यक्ति है तो दूसरा लेख बाद के समय का है और ल्यिपेय जो पहले 'षोसंव' था अपने भाई के बाद चोझवो पद पर आसीन हो गया। इस प्रकार पैतृक नियुक्तियों का चलन प्रतीत होता है जो प्राचीन काल में साधारण बात थी तथा मध्य एशिया के खरोष्ठी लेखों में इस सन्दर्भ में बहुत से उदाहरण मिलते हैं।

स्थानीय प्रशासन से सम्बन्धित 'अवन' शब्द का उल्लेख बहुत से लेखों में मिलता है। लेखों से प्रतीत होता है कि शान-शान प्रान्त में बहुत से 'अवन' थे जिनके नाम क्रमशः पेत-अवन (नं० 15, 16, 32), चव-अवन (नं० 254, 275), अजिगन अवन (नं० 229), वंतु-अवन (नं० 296), यिरंढ़िन-अवन (नं० 297), चतिस देवियए अवन (नं० 46, 334) तथा नवग-अवन विभिन्न लेखों में मिलते हैं। इस शब्द को 'मण्डल' माना गया है। इसके अतिरिक्त 'किल्मे' शब्द का भी प्रयोग किया गया है (नं० 254, 46, 714) जिसका अनुवाद भी मण्डल के अर्थ है।[5] स्थानीय प्रशासन से सम्बन्धित इन दोनों शब्दों का किसी लेख में एक साथ उल्लेख नहीं है इसलिए इनकी विभिन्नता का पता नहीं चलता है और न अवनों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों का भी कहीं विशेष रूप से विवरण मिलता है। एक लेख (नं० 46) में एक स्त्री कोनुम के सम्बन्ध में शासक के न्यायाधीशों ने जांच की तथा निर्णय दिया कि वह पेत-अवन की थी। बाद में उसे चतिस-देवियए-अवन का माना गया। इसलिए आदेश दिया गया कि पूर्व निर्णय के अनुसार उसे पेत-अवन का निवासी मानकर ल्यिपेय की संरक्षता में सौंप दिया जाये। यह भी आदेश दिया गया है कि पेत-अवन के व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर रहे हैं। पहले

प्रथा थी कि मनुष्य शतको की टोली में सार्वजनिक कार्य करते थे और स्त्रियां क्लिम के किसी सार्वजनिक कार्य में भाग नहीं लेती थीं इस सन्दर्भ में यह प्रतीत होता है कि 'अवन' और 'क्लिम' में कोई अन्तर न था और दोनों ही मण्डल के सूचक हैं । 'अवनों' के बीच प्रशासनिक अथवा सामाजिक क्षेत्रीय वादविवादों का शासक के न्यायाधीशों द्वारा ही निर्णय होता था । सामाजिक विषयों के अन्तर्गत स्त्रियों से सम्बन्धित 'लोते' और 'मुकेषि' को लकर अन्तर्अवनीय समस्याएं उत्पन्न हो जाती थीं एक लेख (नं0 279) में यवे-अवन के काल अयुज्ञि की वहन चकुवए का विवाह अजियम-अवन के पगने के साथ हुआ था किन्तु उस स्त्री का 'लोते' और 'मुकेषि' यव-अवन नहीं गया था । पगन की पुत्री सर्पिना का यव अवन के चमया के साथ विवाह होन के कारण लोते और मुकेषि को लेकर दोनों अवनों के बीच लेन-देन चुकता हो गया था । इस प्रकार से अवन का प्रशासन अपने क्षेत्र के निवासी के आर्थिक अधिकारों की रक्षा करता था । इस वैवाहिक आदान-प्रदान (तय-लोते) का उल्लेख एक अन्य लेख (नं0 32) में भी है । पेत-अवन के सगपेय की पुत्री चिग का विवाह ओपवे के साथ हुआ था और उसके बदले में उसकी अपनी बहिन चिग का विवाह सगपेय के साथ होने का निश्चय हुआ था पर सगपेय ने उसे किसी दूसरे व्यक्ति को दे दिया । इस प्रकार इस प्रश्न को लेकर विवाद उत्पन्न हो गया और लियपेय ने शासक के सम्मुख इस पर निर्णय देने की याचना की । सीमा समस्या को लेकर भी विवाद उत्पन्न हो जाते थे । एक लेख (नं0 37) में लियपेय की भूमि तथा यवे-अवन के निवासियों के बीच सीमा विवाद का उल्लेख है । उस समय इस अवन के निवासी प्रदेश की सीमा नाप रहे थे और पुगो तथा लियपे ने एक खाई बना ली थी । यहां पर मण्डल के लिए 'प्रदेश' का उल्लेख हुआ है । एक अन्य लेख (नं0 86) में भी सीमा विवाद का उल्लेख है पर इसमें अवनों का नाम नहीं दिया गया है । मण्डल प्रशासन का मुख्यतया उद्देश्य क्षेत्रीय न्याय दंड व्यवस्था को स्थापित रखना तथा कर वसूली था । इसके लिए निर्धारित अधिकारी था जिनका उल्लेख लेखों में मिलता है । इनमें बहुतों के नाम पूर्णतया भारतीय हैं, कुछ भारतीय प्रतीत होते हैं तथा कुछ स्थानीय भी थे । अधिकारियों की नियुक्ति के विषय में तो अलग से विचार किया जायेगा । यहां पर कर व्यवस्था तथा उसकी प्रणाली से सम्बन्धित अधिकारियों का ही उल्लेख किया जायेगा ।

11

लेखों से प्रतीत होता है कि यह सुचारु रूप से कार्य कर रही थी।

कराधिकारी तथा कर व्यवस्था

कर से सम्बन्धित बहुत से शब्दों अथवा पदों का उल्लेख है। पलिप अथवा पल्यि या पल्पिय शब्द का प्रयोग साधारण रूप से कर के लिए किया गया है।[6] इसकी समानता ल्यूडर्स ने मथुरा सिंह लेख के 'पलि' से की है।[7] कदाचित् यह संस्कृत 'वलि' से उद्धृत है और साधारण रूप से कर के लिए इसका प्रयोग हुआ है। अभिलेख (नं0 713) में 'मक' और 'ओगन' शब्दों का उल्लेख भूमि लगान के सन्दर्भ में किया है। एक अन्य लेख (नं0 16) में समरेन, त्सधिन तथा क्वेमंढ़िन करों का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त पेत-अवन जिससे यह लेख सम्बन्धित है, में 'पके' तथा 'किल्यिगंचिस' करों का भी उल्लेख है जिनको भेजना अनिवार्य था। 'त्संघित' तथा 'कोयिमंढ़िन' का एक अन्य लेख (नं0 272) में भी उल्लेख है और प्रथम का कदाचित् कर में देने वाला धान माना है तथा दूसरे शब्द से उसको वसूल करने वाले अधिकारी का संकेत माना है।[8] एक दूसरे लेख (नं0 315) में त्संघिन नामक करदाताओं को शपथ दिलाकर पूछने का आदेश दिया गया है। कोयिम नामक अधिकारी का एक लेख (नं0 775) में उल्लेख है जिसका काम इस प्रकार के घास कर को वसूल करना था। दो लेखों (नं0 211, 714) में 'वेग-किल्में पल्पि' का उल्लेख है और दोनों ही में इसका स्त्रियों से सम्बन्ध है। टामस के मतानुसार[9] यह कर स्त्रियों द्वारा वसूला जाता था और यह सीमा हुई भूमि पर लगाया जाता था। पर इस सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। एक लेख (नं0 48) में यवे-अवन से सम्बन्धित इस कर के बारे में जांच करने का आदेश दिया गया है। 'वक अन्न' का भी उल्लेख बहुत से लेखों (नं0 496, 559, 574) में मिलता है। वरों के अनुसार यह उस भूमि के कर का सूचक है जो दूसरों के द्वारा जोती बोयी जाती थी। सरकार ने[10] 'भूम न वक अंन' को 'भूमि नवजात शस्य' मानकर उस नए धान की ओर संकेत किया है जो कर के रूप में दिया जाता था। लेख (नं0 165) में 'नवक' और 'पल्पि' का एक साथ उल्लेख है जिससे यह प्रतीत होता है कि यह नये धान का कर था। इनके अतिरिक्त 'पके' का भी उल्लेख (नं0 164) मिलता है जिसके अर्थ 'पार्सल' या 'बण्डल' माने गए

हैं। वरों ने इसे एक प्रकार का कर माना है।[11] 'शुक' (नं० 59, 309) वास्तव में संस्कृत 'शुल्क'[12] है। 'हर्ग' की समानता टामस ने संस्कृत 'अर्घ' से की है जिसके अर्थ शासक को भेंट देना है, पर इसका संकेत किसी भी लेख में नहीं मिलता है। वेली तथा वरो से इसे ईरानी शब्द 'खर्ग' का रूप माना है।[13] लेखों में इसका कई सन्दर्भों में प्रयोग हुआ है जैसे पल्पि के साथ (पल्पि हर्ग–नं0 141), रयक हर्ग (नं0 696), सेनि हर्ग (नं0 677) तथा निचरि हर्ग तथा स्वतंत्र रूप में (नं0 206)। वरो के अनुसार[14] पल्पि तथा हर्ग दो अलग कर थे रयकहर्ग वास्तव में शासकीय (राजकीय) कर का संकेत करता है जिसको राजा ने किसी व्यक्ति को दान के रूप में दिया हो। सेनिहर्ग की समानता कौटिल्य के 'सेनाभक्त' से की जाती है। यह सेना के प्रसरण के समय अथवा उस क्षेत्र से निकलने के समय तेल, चावल इत्यादि के रूप में दिया जाता था। 'निचिरिहर्ग' (नं0 677) से आखेट कर का संकेत माना गया है।[15] एक और शब्द 'अयद्वर' है जिसका उल्लेख दो लेखों में हुआ है (नं0 317, 387)। 'अयद्वर' की समानता टामस ने कौटिल्य के 'आयमुख' से की है जो एक कर विभाग का अध्यक्ष था। इस सम्बन्ध में कई विद्वानों के विचार भिन्न हैं।[16]

भूमि व्यवस्था

भूमि कर निर्धारण के सम्बन्ध में किसी प्रकार के क्षेत्र की नाप का उल्लेख नहीं मिलता है। हां, एक लेख (नं0 37) में वसुओं के सामने सीमा निर्धारण का उल्लेख है। भूमि पर कर निर्धारण के लिए उसमें बोने वाले बीज की मात्रा ही मापदंड थी। राजकीय तथा स्वतः भूमि के लिए 'पल्पि' नामक भूमि कर प्रत्येक वर्ष निर्धारित होता था (संवत्सरि पल्पि) (नं0 42, 57, 266, 275)। इसमें कोई वृद्धि नहीं होती थी। पुरानी प्रथा के आधार पर ही कर निर्धारित किया जाता था (नं0 42, 57, 275, 291)। एक लेख के अनुसार तो एक क्षेत्र में बीस वर्ष के उपरान्त भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। एक लेख में तुगुज तथा यत्म द्वारा कर निर्धारण का उल्लेख है। राजकीय कर विभाग के अधिकारी गणना एवं अन्य प्रशासनिक कार्यों में भी भाग लेते थे। एक लेख (नं0 317) में राज्य कर निर्धारण तथा गणना विभागों का उल्लेख है। पेत-अवन में वर्षीय कर निर्धारण होता था। य.:

कर 'सुगनोतो' के पास था पर राजकीय कोष में नहीं जमा किया गया इसलिये उसकी जांच कार्य का आदेश दिया गया है। कर की माप एक ऊंट से होती थी जो कि न तो बूढ़ा और न दुर्बल होना चाहिए था और यह कर के साथ भेजा जाता था। पिछले बकाया कर भेजने के साथ साथ घी के रूप में कर को पहले ही भेजने को कहा गया है (नं० 42)। एक अन्य लेख (नं० 59) में अन्न धान का कर रूप में देने की व्यवस्था है तथा जिन लोगों को यह देना था उनके नाम सूची में लिखे गए थे। प्रत्येक करदाता को प्रथक् रूप से अन्न कर देना होता था। दो अन्य स्थानों से क्रमशः मदिरा तथा दाड़िम (अनार) का कर रूप में देने का उल्लेख है। अयमतुवस (कदाचित् कोई स्थान) से एक लेख (नं० 206) में षांढंग धमपाल (धर्मपाल) अपने पिता षोढंघ ओप्गेय को इस कर को भेजने के लिए लिखता है। दूसरे लेख (नं० 207) में अजियम-अवन में बाकी कर में दाडिम का उल्लेख है। प्रत्येक वर्षीय कर निर्धारण कार्य के सम्बन्ध में मसीना में 'तुगुज' सुदर्शन तथा 'यत्म' अयो का उल्लेख है (नं० 374) जिन्होंने यह कार्य निजी भूमि (किलमेचियन) तथा राजकीय भूमि (रजदे) में किया था। कर के सम्बन्ध में जिन वस्तुओं अथवा पशुओं का उल्लेख होता था उनके नाम एक लेख (नं० 714) में दिए हुए हैं। यह क्रमशः घी, भेड़, कोजव, अर्नवजी, थवस्ते (कालीन), रजी, नमते (नमदा), चांद्री, कमंत, मक, ओगन तथा क्रोम था। इनके अतिरिक्त वेग किल्मे तथा ऊंट का उल्लेख पहले ही हो चुका है। अन्य लेखों में भी इनका उल्लेख मिलता है। कर छिपाने के भी उदाहरण हैं। एक लेख (नं० 211) में किसी व्यक्ति द्वारा कर न देने का उल्लेख है। यह अधिकारी था और स्वयं कर न देने के अपराध के अतिरिक्त इसने अन्य व्यक्तियों द्वारा दिए कर का भी व्योरा नहीं दिया था। यह व्यक्ति कर सम्बन्धी तीसरा अधिकारी था जिसको इस विषय में पत्र लिखा गया था तथा उसे यह भी आदेश दिया गया कि यदि वह शीघ्र ही कर नहीं भेजेगा तो वर्षा काल में उसे स्वयं ही आना पड़ेगा। लेख में स्त्रियों के 'वेगकिल्मे' कर का भी उल्लेख है। वार्षिक कर निर्धारण तथा उसे इकट्ठा कर जमा करने का आदेश दिया जाता था (नं० 57)। यदि कुछ बाकी रह जाय ता उसे बाद में जमा करना होता था। अतिरिक्त कर निर्धारण का भी उल्लेख मिलता है। एक लेख (नं० 164) में पेत-अवन के निवासियों द्वारा कर न देने की सोचनीय अवस्था का

उल्लेख है। यह लोग 'पके', 'किल्यिगार्थस', 'समरेन', र्त्सघिन' तथा 'क्वेमंढिन' कर नहीं दे रहे थे जिनको वसूल कर शीघ्र भेजने का उल्लेख है। अतिरिक्त कर का उल्लेख एक अन्य लेख (नं० 595) में भी है तथा कर मुक्ति अथवा कर वसूली के दान का भी उल्लेख है (नं० 696)। शासक द्वारा 'हर्ग' के दिए जाने का विवरण है। दो अन्य लेखों (नं० 295, 236) में 'रोटेन' तथा धान की छूट का उल्लेख है। जमा कर का हिसाब ब्योरावार शासक के पास भेजा जाता था। एक लेख (नं० 275) में 20 वर्ष पहले निर्धारित कर का उल्लेख है जो उस समय तक राजकीय कोश में नहीं भेजा जा सका। अतः उसको सम्पूर्ण रूप से भेजने का आदेश है। धान कर के विषय में एक लेख (नं० 291) में आदेश दिया गया है कि उसके 1/3 भाग को चालीस ऊंटों पर—3 मिलिम बोझ के रूप में भेजा जाए। बाकी 2/3 को पिसाली (कदाचित् कोई स्थान अथवा भण्डागार) में जमा कर देने का आदेश है। धान तथा अन्य पदार्थ करों के जमा करने की पूर्ण व्यवस्था थी। व्यक्तिगत करदाता का नाम तथा निर्धारित कर एक 'प्रमेनग' (सूची) में लिख लिया जाता था तथा यह अलग अलग 'नध'—पैकेट के रूप में लाया जाता था। नथ में घी इत्यादि भी कर में सम्मिलित थे। संचित धान कर नगर 'द्रंग' में इकट्ठा किया जाता था। कदाचित् यह कर एकत्रित करने का केन्द्र था जहां पर धान की नाप होती थी (नं० 92)। एक अन्य लेख (नं० 357) में भी इसका अर्थ गोदाम लिया गया है (कज्ञि द्रंग)। कर के रूप में प्रत्येक संचित पदार्थ का अलग गोदाम था जैसे 'मसुवि द्रंगेमि' से मदिरा के संचित स्थान का संकेत है। इस प्रकार विभिन्न पदार्थों के रूप में एकत्रित करों के लिए अलग अलग व्यवस्थित स्थान थे।[17] टामस ने 'द्रंग' की समानता तिब्बती 'र्त्सून-गम' से की है जो स्थान स्थान पर कर के रूप में प्राप्त धान संचय केन्द्र थे जहां से यह फिर राजधानी पहुंचाया जाता था।

कराधिकारी वर्ग

लेखों से प्रतीत होता है कि कर व्यवस्था सम्बन्धी अधिकारियों में सबसे ऊपर चोझवो था जो कभी प्रान्त के अध्यक्ष भी होते थे। उनका कार्य शासक के लिए कर के रूप में धान इत्यादि को एकत्रित करवाने का प्रयास करना था। कई लेखों के अनुसार यह स्वयं इस कार्य को देखता था। लेख (नं०

272) में शासक ने चोझवो सोजक को वहुत से आदेश लिखे हैं जिसमें कर वसूली का भी विस्तृत रूप से उल्लेख है। दूसरे लेख (नं0 292) में भी चोझवो सोजक को धान के संचय के बारे में शासक को जानकारी देनी है। लेख (नं0 477) में चोझवो ल्यिपे को आदेश दिया गया है कि धान बड़े येप्गु द्वारा एकत्रित किया जाये और भिक्षु मोचसेन को दिया जाये। यह शासकीय आदेश उस चोझवो ने यप्गु के पास भेज दिया। इसी लेख में कई 'दशवितों' का नाम लिखा है जिनके आगे धान की संख्या भी लिखी है। कदाचित् दशवित् धान पशु इत्यादि को एकत्रित कर उनकी गिनती करते थे।[18] एक अन्य लेख (नं0 105) में चोझवो क्रन्य को षोढंग ल्यिपेय के कार्य को वढ़ाने अथवा सुचारु रूप से करवाने को कहा गया है।[19] इसमें ल्यिपेय के कार्य में ढिलाई का उल्लेख है और चोझव क्रन्य जो उच्च अधिकारी था को स्वयं इस कार्य में प्रगति देने को कहा गया है। इन दोनों के नीचे का अधिकारी 'टोंग' था जो कर सम्बन्धी यातायात का प्रवन्ध तथा देखरेख करता था। कभी कभी कर अधिकारियों द्वारा संचित धान, मदिरा, अथवा अन्य पदार्थों का अनाधिकृत रूप से उपचार होता था। राजकीय हानि की पूर्ति इन्हीं अधिकारियों द्वारा ही की जाती थी तथा वे पदच्युत भी हो सकते थे। एक लेख (नं0 567) में षोढंग सुगीय तथा प्गिस द्वारा नष्ट की गई राजकीय मदिरा के वदले अपनी ओर से उस हानि की पूर्ति करने को कहा गया है। सुगीय को पदच्युत भी कर दिया गया क्योंकि नए कर के रूप में संचित मदिरा का भार दूसरे को सौंपा गया। इसी प्रकार एक अन्य लेख (नं0 714) में भी कर को न जमा करने पर पद से हटाने का आदेश है।

कर एकत्रित एवं गोदाम में संचित करने के बाद उसे शासकीय कोष में भेजना अनिवार्य था। इस सम्बन्ध में शासक की ओर से पत्र भेजे जाते थे और शीघ्र ही कर जमा करने को कहा गया है। यह साफ लिखा है कि किसी प्रकार का बकाया न रहे तथा जो बाकी है वह शीघ्र भेजा जाये (नं0 42, 57, 70 इत्यादि)। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की ढिलाई का कोई स्थान न था। इतने कठिन आदेशो के होने पर भी अधिकारियों द्वारा कर एकत्रित करने तथा भेजने में ढील हो जाती थी। जब शासकीय कर पूर्ण रूप से नहीं भेजा जाता था तो यह आदेश दिया जाता था कि उसमें से कुछ भाग स्थानीय कोष्ठागार में रख दिया जाये (नं0 291)। मदिरा को मोहरबंद कर भेजने

का आदेश था (नं० 247) । कदाचित् इसमें किसी प्रकार की मिलावट का भय था । प्रायः सभी प्रकार के कर शासक के पास संचित करके भेजे जाते थे और यह कोष में जमा होते थे । कर भेजते समय सभी प्रकार की सुरक्षा कर ली जाती थी जिससे मार्ग में यह लूटा न जा सके । (नं० 105) । पर यदि ऐसा हो जाये तो इसका उत्तरदायी भेजने वाला था और उसे अपनी भूमि से इसकी पूर्ति करनी पड़ती थी । एक लेख (नं० 351) में शासक ने प्रान्तीय शासक को अपने नियंत्रण में 'पल्पि' भेजने का आदेश दिया है । भेजने के लिए ऊंटों का प्रयोग होता था तथा उन पर लादने का बोझ नियमित मात्रा का होता था (नं० 329, 291, 413) ।

संचित कर की गणना तथा उसका व्योरा सुव्यवस्थित रूप से रखा जाता था (नं० 100, 211, 259) जिससे यह पता चल सके कि कितना कर बाकी रहा है । प्रत्येक कर दाता का नाम सूची में लिख दिया जाता था । यदि कभी इस बारे में भूल हो जाये तो इसके बारे में पुनः जांच की जाती थी (नं० 144) । शासक का पूर्णतया नियंत्रण था तथा वह स्वयं प्रान्तीय शासक 'चोझवो' को आदेश देता था । जो अधिकारी—चाहे यह किसी पद पर क्यों न हो—यदि कर चोरी करता था तो उसे अपना पद खोना पड़ता था । नियंत्रण के लिए वर्षाकाल में प्रान्तों से 'वसुओं', 'अगेतो' तथा 'यतमो' का सम्मेलन बुलाया जाता था जिससे पूर्ण जानकारी प्राप्त हो सके और प्रशासन पर नियंत्रण भी रह सके । कर अधिकारी का व्यवहार भी शिष्टपूर्वक होने का लेखों में आदेश है । केवल एक लेख (नं० 164) में दुर्व्यवहार का संकेत है । जिन प्रशासनाधिकारियों का कर गणना से सम्बन्ध प्रतीत होता है वे कदाचित् 'कंझवलियन', गंझवर तथा 'भरवर' प्रतीत होते हैं । कर संचय या एकत्रित करने के लिए जिन अधिकारियों का लेखों में उल्लेख है उनमें चोझवो का नाम प्रमुख है ।[20] यह कर के संचय तथा राजकीय कोष में भेजने का प्रबन्ध करता था । उसके अन्य कार्यों में पारस्परिक झगड़ों का न्याय, राजकीय ऊंटों की देखभाल तथा उनके भेजने, अधिकारियों की नियुक्ति तथा खोतान की ओर जाने वाले दूतों के लिये भोजन तथा यातायात की व्यवस्था भी करना था ।[21] उसके नीचे षोढंग था जिसका उल्लेख कई लेखों में हैं । (नं० 165, 477) । इसकी समानता 'षोष्टकाश' से की गई है[22] जिसके अर्थ 'कर वसूल करने वाले' हैं । इनके अतिरिक्त 'वसु' तथा 'अगेत' भी कर से सम्बन्धित थे ।

(नं0 496, 517)। वसु 'वक' नामक कर एकत्रित करते थे। 'अगेत' (अगित) और 'यत्म' का कर वसूली में बड़ा हाथ था (नं0 42, 57)। इनका उल्लेख कई संदर्भों में हुआ है जैसे कर भेजने, कर व्यवस्था की जाँच तथा कमी वसु और अगेत के साथ भूमि सम्बन्धी न्याय इत्यादि में। 'चत्म धानसपी' कर के बन्डल बना कर भेजते थे तथा एक लेख में तुगुज के साथ इन्होंने मसीना में कर निर्धारण कार्य भी किया था तथा ऊंटों को भी ले जाते थे। (नं0 23, 546)। इनके अतिरिक्त अन्य अधिकारियों में 'कोयिमंढ़िन' अथवा 'कोयिम त्संघितव' जिसके विषय में जानकारी नहीं है, शतवित् (159, 247), सुगनुत तथा तोमि उल्लेखनीय हैं। 'शतवित्' संचित कर को भेजते थे, 'सुग्नुत' कदाचित पिछले वर्ष की कर वसूली का काम करते थे तथा 'तोमि' भी कर भेजने का कार्य करते थे। अधिकारियों को राजकीय वस्तु के उपहार अथवा उपयोग का कोई अधिकार नहीं था। एक लेख (नं0 243) में शासक द्वारा इस बात की जांच का आदेश दिया गया है कि एक उच्च पदाधिकारी—चकवल ने अपने पिता चोझवो समसेन को एक राजकीय अश्व क्यों उपहार के रूप में दिया था। एक अन्य लेख (नं0 358) में विहरवल नामक व्यक्ति का उल्लेख है जो अपने कृषकों (किल्मेचियन) की मदिरा और मांस (कदाचित् कर के रूप में संचित) का उपयोग तथा नष्ट कर रहा है। दैनिक उपचार के लिए उसे आटा, सतु, चार वयरी की मात्रा में देने का आदेश है तथा उसे हाथ पांव से मुक्त न किया जाये। इससे यह प्रतीत होता है कि अधिकारी यदि राजकीय कर का दुरुपयोग करें तो वे दंड के भागी होंगे।

भूमिकर के अतिरिक्त वस्तुओं पर चुंगी भी कदाचित् लगाई जाती थी। आरल स्टाइन के मतानुसार इसका[23] संकेत 'द्रंग' शब्द से प्रतीत होता है जिसका प्रयोग दूसरे देश या प्रान्त से आई हुई वस्तुओं पर राज्य द्वार से प्रवेश करने पर किया जाता था। इस शब्द का अर्थ कर विभाग के कार्यालय से भी किया गया है। एक लेख (सं0 439) में एक व्यक्ति के पांच या छह द्रंगों से अधिक का अधिकारी होने पर रोक लगाने का उल्लेख है। एक अन्य लेख में प्गितस के द्रंग में अनाज नापने का उल्लेख है (प्गितस द्रंगमि अनमविद)। भिन्न-भिन्न वस्तुओं के अलग अलग द्रंग थे जैसे 'मसुवि द्रंगमि' से मदिरा विभाग या मदिरा कर का संकेत होता है।[24] हो सकता है कि इस शब्द 'द्रंग' का अर्थ दोनों ही संदर्भ-कर तथा कर लेने के स्थान में हो।

उस समय में मध्य एशिया व्यापारिक क्षेत्र था तथा यहीं से होकर प्रसिद्ध रेशम मार्ग था। इसके अतिरिक्त यहां से भी बहुत सा सामान आयात और निर्यात होता था। इसलिए प्रत्येक वस्तु पर कर लगाना अनिवार्य था। समय पर कर न देने के लेखों में बहुत से उदाहरण मिले हैं (42, 158, 165 इत्यादि)। प्राय: एक दो वर्ष के कर बाकी होने पर उसपर व्याज भी लगता था (नं० 211)। संभवत: कर कर्मचारी भी अपने कार्य में तटस्थ न थे। कर देने वालों की ओर से भी ढिलाई और आनाकानी होती थी। एक लेख (नं० 450) में एक ऐसे कृषक का उल्लेख है जो चार वर्ष तक अपनी भूमि का कर न दे सका और उसे भूमिधर ने उस भूमि को जोतने के लिए मना किया तथा उसका मकान और भूमि बिकवा देने की आज्ञा दी। उसे यह भी आदेश दिया गया कि वह अपनी मां, स्त्री, लड़कों तथा लड़कियों सहित वहां से ल्यिपन के यहां चला आवे तथा उसके यहां जाकर जोताई करे। उसके लिए 'रोटन' तथा 'चुरमा' नामक कर भी साथ में लावे, उसके ऊपर अन्य कोई कर बाकी नहीं है (नं० 450)। इस लेख से यह संकेत मिलता है कि ल्यिपन को शासक की ओर से भूमि मिली हुई थी जिसकी खेती का कार्य क्रोए तथा लुगए करते थे। वास्तव में इस प्रकार भूमि व्यवस्था से सम्बन्धित जमींदारी प्रथा थी और शासक वर्ग कृषक वर्ग को अपने आधीन रखता था।

दण्ड तथा न्याय

अपराध तथा न्याय और दण्ड प्रशासन से सम्बन्धित है। मध्य एशिया में भी अपराधों की कमी नहीं थी। एक तो लड़ाकू जाति के लोग कृषक वर्ग पर आघात करते थे, दूसरे आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग वालों को भी सदैव भय रहता था। शासन की ओर से न्याय संगत समाज व्यवस्था स्थापित रखने के लिए अपराधों को रोकना तथा अपराधियों को दण्ड देना अनिवार्य था। चोरी के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। एक लेख (नं० 345) में भिक्षु आनन्द सेन के दास बुद्धघोष द्वारा रेशम (पट) के थान, 3 ऊर्ण वरण्डे, 2 रस्सी (रसन), 3 नमदे के कपड़े (नमति), 4 भेड़े, 1 अरंस, जिन सबका मूल्य 100 मूलि था, की चोरी का विवरण था। आदेशानुसार इसका दायित्व भिक्षु आनन्द सेन पर पड़ा। पर यह राजकीय नियम था कि दास के ऋण

का उसके मालिक पर दायित्व नहीं था (नं0 24) पर पिता का ऋण पुत्र को चुकाना पड़ता था (नं0 62)। न्याय लोक धर्म के आधार पर होता था जैसा कि एक लेख (नं0 130) में इसका उल्लेख है। ऋण सम्बन्धी बहुत सी याचिकाओं का लेखों में उल्लेख है (नं0 6) तथा भूमि और उसके विभाजन से सम्बन्धित समस्याओं के सन्दर्भ में भी याचिकाएं प्रस्तुत की गई हैं (नं0 18)। ऊंटों पर लदे सामान की चोरी का भी उल्लेख है (नं0 52)। चोरी की गई वस्तुओं में अनाज, वस्त्रादि सभी प्रकार की सम्पत्ति थी। घी की चोरी का भी बहुधा लेखों में उल्लेख है। (नं0 15)। एक लेख (नं0 17) में चोरों के डर से क्रेय और पुल्यित ने अपनी सम्पत्ति भूमि के नीचे गाड़कर चमड़े की पोथी में रख दी पर कुत्ते और लोमड़ियों ने उसे ऊपर निकाल लिया था। बाद में मण्डिगे और रोच ने उसे थोड़ा थोड़ा करके निकाल लिया और कहने लगे कि वह खो गया है। इस सम्बन्ध में यह आदेश दिया गया कि उन दोनों व्यक्तियों को शपथ दिलाकर पूछा जाये और जो उन्होंने लिया है उसे लौटाया जाय। पर वह धन न लौटाया जाये जो अवैध है या बहुत अधिक है। यह भी नियम है कि युद्ध के समय लिए धन का भुगतान नहीं होता है। कई लेखों (नं0 20, 29, 52) में स्त्री‌थमोए का कोलियश द्वारा सिर फोड़ने तथा उसके भाई ओगल द्वारा दूसरी स्त्री लिपेय को घायल करने का उल्लेख है। साक्षी के अभाव में इस अपराध के लिए कोई दण्ड नहीं निर्धारित किया गया। न्यायालय में छोटी बड़ी सभी समस्याओं का निपटारा किया जाता था। व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा शासकीय तथ्यों को लेकर लोग न्याय के लिए याचिकाएं प्रस्तुत करते थे। बच्चों की गोद से सम्बन्धित कुठिछर या उसके दूध के मूल्य को लेकर मतभेद हो जाते थे। एक लेख (नं0 45) में दासी चिमिए की कन्या रुव्रय द्वारा गोद लेने के प्रश्न को लेकर दो तीन बार याचिकाएं भेजी गई थीं पर कोई निर्णय नहीं हुआ था। गोद के साथ 'कुठिछर' अथवा दूध का मूल्य माता पिता को दिया जाता था। एक लेख (नं0 45) में यह 'तिर्ष अश्व' या घोड़ा है। बच्चों की गोद और इससे सम्बन्धित लेनदेन का कार्य न्यायाधीश तथा साक्षियों के सम्मुख होता था (नं0 11, 45, 33, 415)। साथ ही सम्पत्ति सम्बन्धी मामलों का निपटारा भी यहीं होता था। 'सम्पत्ति का उत्तराधिकारी विवाह, दासों पर आधिपत्य, आपसी झगड़े तथा अन्य प्रश्नों को लेकर जो वाद-विवाद खड़े हो जाते थे उन सबका समाधान

किया जाता था। न्यायालय में प्राय: एक ही न्यायाधीश होता था यद्यपि लेख (नं० 46) में कई का संकेत है। इस लेख में वसु ल्यिपेय के अनुसार राजकीय न्यायालय के कई न्यायाधीशों ने कोनुम नामक स्त्री के सम्बन्ध में जांच की और कहा कि अब यह शासन के न्यायाधीश के सम्मुख जायेगा। इससे यह प्रतीत होता है कि कई श्रेणी के न्यायालय थे। अन्तिम या उच्च न्यायालय सम्राट् का था जो प्रधान न्यायाधीश था। उसके सामने किसी भी प्रश्न के सम्बन्ध में साक्षी अथवा साक्षियों को शपथ लेकर बयान देना होता था। दण्ड संहिता का कहीं विवरण नहीं मिलता है पर लेखों से प्रतीत होता है कि यह कोड़े लगाना तथा धन के रूप में प्रतिकार करने तक सीमित थी।[25] किसी लेख में कारागार का उल्लेख नहीं है, पर एक लेख में हाथ पैर बांधकर रखने का आदेश है। दास या दासी की मृत्यु के बदले दूसरा दास या दासी दिया जा सकता था तथा हत्या या भीषण चोट के लिए धन भी दिया जाता था (नं० 58, 63)। एक अन्य लेख में वन सम्पत्ति या पेड़ गिराने के आरोप में दण्ड का उल्लेख है जो जुर्माना के रूप में था। अपराध निरोध, दण्ड तथा न्याय के क्षेत्र एक दूसरे से अलग नहीं थे। न्याय के संदर्भ में 'गुशुर', 'यंकुर', 'चुवलचिन', 'चोझवो' पदों का भी उल्लेख मिलता है। एक लेख (नं० 216) से यह प्रतीत होता है कि अन्य पदाधिकारियों के साथ गुशुर का भी न्याय से सम्बन्ध रहा होगा। 'काल' और 'ओगु' की ही भांति 'गुशुर' भी उच्च पद पर था और इसे न्याय सम्बन्धी कार्य भी करना पड़ता था।[26] इसके अतिरिक्त चकुर का भी न्याय विभाग के साथ सम्बन्ध का उल्लेख मिलता है (नं० 506, 583, 618)। लेखों में लगभग 10 बार इस शब्द का नामों के उपसर्ग के रूप में प्रयोग हुआ है जैसे (नं० 318) में चोझवो के साथ, 506 में एक आगू, एक टुसुम तथा चोझवो के साथ, 582 में एक आगु, एक चौवलयिनः और चोझवो के साथ, 584 में एक चौवलचिन तथा एक चोझवो के साथ और 732 में एक ओगू, एक चौवलचिन तथा एक चोझवो के साथ। टामस के मतानुसार चंकुर कोई न्यायालय का सदस्य था। लेख (न० 437) में सुगीय और मष्टिगेय के विवाद की जांच में चंकुर कप्गेय और कित्सेत्स लुटु ने भाग लेकर निर्णय दिया था, तथा एक दास की बिक्री को रोकने का भी आदेश दिया था। टामस ने चंकुर की समानता—'चं-ख्युर' से की है जो तिब्बती समय में स्थानीय अधिकारी—एक सहस्त्र मंडलों

का अध्यक्ष —था ।[28] यदि वह नगर का अध्यक्ष था तो उसकी समानता भारतीय नागरक अथवा 'नगररक्ष' से की जा सकती है ।

वैदेशिक सम्बन्ध

लेखों में निकटवर्ती राज्यों के यहां दूत भेजने का उल्लेख मिलता है। शान-शान राज्य पश्छिम में चड़ोट अर्थात् नीया तक फैला था तथा खोतान के साथ उसका सम्बन्ध था जिसका पूर्वी सीमावर्ती नगर पये-म (Phye-ma) था जो केरिया और नीया के बीच में स्थित था । य्वांग-चांग के समय में खोतान का राज्य नीया तक फैल गया था ।[29] यह परिस्थिति दु-गु आक्रमण के कारण हो गई होगी ।[30] लेखों में खोतान के साथ संघर्ष का भी संकेत मिलता है तथा चड़ोट के निवासी अपने नगर में एकत्रित हो गए थे । इन लेखों से, जो संघर्ष के बाद के समय के हैं, पता चलता है कि चड़ोट से खोतान दूत भेजे जाते थे और उनके साथ भेंट में सामान भेजा जाता था । कभी कभी पुरुषों का अपहरण भी रास्ते में हो जाता था तथा खोतान से शान-शान राज्य में शरणार्थी भी आ जाते थे एवं वहां व्यापारिक माल भी जाता था । लेखों में इन सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है । लेख (नं० 272) में 'स्पस' शब्द का प्रयोग खोतान में भेजे गए दूत के लिए हुआ है । लेख (नं० 518) में 'स्पसवेन' से 'दूत के पद या रक्षक' का संकेत मिलता है । उस समय खोतान की ओर से शान्ति थी तथा सूपिया भी चले गए थे । लेख (नं० 376) में खोतानियों द्वारा रेमेन में एक 'अश्वदल' के तैयार करने का उल्लेख है तथा नमत के पुत्र नमरझम के अपहरण का उल्लेख है । खोतान की ओर से संघर्ष का उल्लेख एक अन्य लेख (नं० 516) में भी है । पश्चिमी सीमा से खोतानियों के प्रवेश तथा ल्यिपिन के दास के अपहरण का उल्लेख एक अन्य लेख (नं० 625) में मिलता है । खोतानियों द्वारा लूटने का उल्लेख भी एक लेख में है (नं० 494) तथा खोतानी अधिकृत काल में उनके न्यायाधीशों द्वारा तिसन तथा उसके पुत्र और पुत्रियों को कित्समित्स को देने का भी उल्लेख है (नं० 415) । दूत भेजे जाने का विवरण भी कई लेखों में है । लेख (नं० 14) में खोतान की ओर जाते हुए कल्पदन नामक दूत नीया पहुंचा था । रास्ते में रक्षा तथा यातायात के लिए घुड़सवार साथ कर दिए जाते थे जिसका उल्लेख एक अन्य लेख (नं० 367) में भी है । एक लेख में राज्ञी का खोतान जाने का उल्लेख है तथा काल कींसेय भी राजदूत के समय में

खोतान गया था (नं0 637)। खोतान का उल्लेख इस सन्दर्भ में अन्य लेखों में भी हुआ है। (नं0 22, 135, 214)। (नं0 686) लेख में खोतान से आये हुए दूत का उल्लेख है।

खोतान से आये हुए शरणार्थियों अथवा भागे हुए व्यक्तियों की चर्चा भी लेखों में की गई है। खोतानी शरणार्थियों की सम्पत्ति लौटाने का भी आदेश दिया गया है (नं0 471)। कई लेखों में इनका उल्लेख है। लेख (नं0 400 में चकसा द्वारा क्रमएन नामक व्यक्ति को हाथ पीछे बाँधकर खोतान ले जाने का उल्लेख है पर वह वापस नहीं हुआ था लेख (नं0 583, 593) में व्यापार के सन्दर्भ में खोतानी कोजव-संस्कृत कौशेय, अलेन कोजव (नं0 549), खोतानी ऊंट (नं0 180) तथा खोतानी व्यक्तियों के नाम भी मिलते हैं जैसे अप्गे (36), कनसग (30), मोषन (51), प्रेषाढ़ (216), शख (333), षन्गो (322) है।

इस सम्बन्ध में एक अन्य अधिकारी ओगु का भी उल्लेख है। लेख (नं0 214) के अनुसार ओगु अल्यय दूत के रूप में खोतान भेजा गया था। 715 में ओगु करंन्स को काल की उपाधि दी गई है जिसे महिरि शासक के पुत्र पुंझवल ने भी धारण की थी। कई ओगु को 'जुशुर' भी कहा गया है जैसे चकुरत और अशोग, चकरम और शमसेन तथा 'काल' कुनल। ओगु की समानता चवगु से की गई है और टामस के मतानुसार कुजुलकर वास्तव में गुशुर काल है।[31] 415 में खोतान के शासकों को भी गुशुर महत्व कहा गया है।

अन्य पदाधिकारी

कुछ पदों तथा पदाधिकारियों के नाम लेखों में मिलते हैं जिनका सम्बन्ध प्रशासन से था। इनमें 'शदविद' और 'करसेनव' का एक साथ उल्लेख है (नं0 86)। कदाचित यह सीमा निर्धारण के सम्बन्ध में रहा हो। लेखों में कोषाध्यक्ष का उल्लेख है (नं0 310)। राजकीय ऊंटों तथा घोड़ों के लिए भी रक्षक नियुक्त होते थे। इनके अतिरिक्त लेखक (दिविर) का बहुत से लेखों में उल्लेख है (नं0 385 इत्यादि)। पत्रवाहकों का विवरण भी बहुत स्थानों में मिलता है (नं0 109, 164)। इन पदाधिकारियों के नामों में उच्च पद 'चोझवो' से लेकर नीचे पत्रवाहक तथा दिविर या लेखक के पद तक बहुत से भारतीय नाम हैं जैसे चोझवो सोजक या संजक (नं0 212,

248) जिसका उल्लेख बहुत से लेखों में है, चोझवो समसेन (नं0 348), चोझवो सूर्यमित्र (नं0 293), चोझवो भीमसेन (नं0 317, 326), काल पूर्णवल (नं0 358), चक्रम अर्जुन (नं0 16), चक्रम वागीश (नं0 64), वसु सेवेट भीमसेन (नं0 254, 260), दिविर बुद्ध रक्षित इत्यादि (नं0 348)। प्राय: पदों पर नियुक्ति पैतृक रूप से होती थी और पिता के बाद पुत्र या भाई भी उसी पद पर नियुक्त होता था अथवा एक समय में भी दोनों एक साथ उसी पद पर रहते थे । लेखों में चोझवो संजक अपने भाई चोझवो ल्यिपेय को पत्र भेजता है (नं0 130) । एक अन्य लेख में चोझवो समसेन के विषय में लिखा है कि उसके घर वालों को वहां से न हटाया जाये (नं0 228) । एक अन्य लेख (नं0 28) में चोझवो सोजक के प्रति चोझवो मिली तथा नमिलगए अपना सम्मान प्रगट करते हैं । एक अन्य लेख (नं0 370) में चोझवो को उसका भाई ओगु अल्यय लिखता है । पर एक अन्य लेख (नं0 438) में भीमसेन कहता है कि उसने अपने पद 'अश्विग' को पैतृक रूप से नहीं पाया है । दिविर या लेखकों के पैतृक रूप से पद प्राप्त करने के बहुत से उदाहरण मिलते हैं (नं0 580, 591) । ओगु भीमसेन ने एक अन्य लेख (नं0 38) में लिखा है कि अपेन का पिता ओपगे 'कोयिम' पद पर आसीन था । इसके विषय में कोई जानकारी नहीं है । कभी कभी वार्षिक नियुक्तियाँ भी होती थीं । लेख नं 105 में 'परुर्वषि तोंगस' से तोंग की वार्षिक नियुक्ति का संकेत माना गया है । 'तोग' का उल्लेख कई लेखों में है (नं0 357, 367, 622) और टामस के मतानुसार३२इसका कार्य क्षेत्र पत्रों तथा माल के भेजने से सम्वन्धित था । एक लेख (नं0 107) में 'सुड़े' अधिकारियों का उल्लेख है पर इस शब्द का केवल इसी लेख में उल्लेख है और इसके विषय में कोई जानकारी नहीं है । कभी कभी एक प्रशासनाधिकारी एक से अधिक पद पर भी काम करता था । सुगीय ने इस विषय में लिखा था (नं0 520) कि वह षोढंग' तथा 'दिविर' दोनों ही का कार्य कर रहा है तथा उसे सल्वे के साथ सीमा रक्षक (स्पसवन) का काम भी करना पड़ रहा है । सल्वे किसी पद पर नहीं था । शासक ने इस सम्वन्ध में जांच का आदेश दिया है तथा शासनविधि के अनुसार इसपर निर्णय देने को कहा है । एक ही पद पर सुगीय ने चार वर्ष काम किया (नं0 567) । वह इतनी अवधि से 'षोढंग' या कर वसूली का कार्य करता था पर उसके विरुद्ध कर के रूप में वसूली शराब के

दुरुपयोग का आरोप लगा। अतः शासक की ओर से यह आदेश दिया गया कि जांच करने पर यदि यह बात सत्य निकले तो उसे अपने पद से हटाकर उसके स्थान पर दूसरे की नियुक्ति की जाय। एक अन्य लेख (नं० 506) में कई अधिकारियों द्वारा एक दास श्प्य के सम्बन्ध में जांच की गई। इनमें 'ओगु' वरुणाशम, 'सुवेढ स्पलयय', 'जेनदिद चंकुर' कुविज्ञेय, 'तसुय', पोनिगन तथा चोजवो जिवराम ने भाग लिया था। इन अधिकारियों को कार्य तथा पद के अनुसार अन्न मिलता था। एक अन्य लेख (नं० 422) में साक्षी के रूप में जिन पदाधिकारियों के पद सहित नाम मिलते हैं वे क्रमशः न्यायाधीश (महत्वन) 'जसुय', चवय, 'अप्सु', बुगिन, 'वसु', 'अर्चक', 'षोढग कुस्तंझग, लेखक–'दिविर', तमस्य और सिङ्नय। 'अगेत' तगु, सिर्जत तथा पयिन तथा 'उयोग' पिगित' थे। इस अभिलेख का लेखक षोढ़ग मोतेग का पुत्र दिविर मोगेय था। एक 'मिषिय-भूमि' के विक्रय के सम्बन्ध में साक्षी के रूप में बहुत से पदाधिकारियों का उल्लेख है (नं० 591)। जिनमें क्रमशः 'कित्सेत्स' वर्ष, 'काल' करंत्स, 'कुहनेचि', 'चोझवो', 'कुविज्ञेय', वसु अयुर्झीय यढ़ीय, वपिक, 'अप्सु', शांया और पित्ग, तोंग करंत्स, तेच्गो, अगेत, ल्यिपत्ग, कुन और क्रविज्ञेय तथा यत्म कविज्ञेय थे। इसी प्रकार बहुत से अधिकारियों का उल्लेख अन्य लेखों में भी मिलता है। (नं० 579, 586)।

सैनिक व्यवस्था

शान-शान राज्य को पश्छिमी ओर से खोतान से भय था और कई बार खोतानी वहां आ भी गए थे पर इनके अतिरिक्त सूपियों—जो कदाचित् ह्यूंग-नू या हूणों की ही शाखा के थे, की ओर से भी भय था। यह सूपि दल जंगली तथा घुमन्तू जाति के लोग थे जो एक जगह नहीं ठहर सकते थे। इनके आक्रमणों से रक्षा के लिये घुड़सवारों के एक दल बनाने का संकेत लेख (नं० 133) में मिलता है। इस लेख में अश्वारोही कुनसेन का उल्लेख है जो परिस्थिति का अध्ययन तथा सूचना देने के लिए भेजा गया था। एक अन्य लेख (नं० 578) में इन्देरे में इन आक्रमणकारियों से रक्षा के लिए एक तटस्थ सैनिक दल की नियुक्ति का विवरण मिलता है (सुपियन परिहे सुथ उवषंग महयि तुरय निर्विग मविदव्य नित्य कलंमि सयमि स्पस कर्त्तव्य यो)। कई लेखों (नं० 119, 324, 722) से यह प्रतीत होता है कि इन सुपियों

के आक्रमण क्षेत्र चलमदन, चडोर तथा इन्देरे थे। लुटेरों की भांति यह पशुओं की चोरी तथा मनुष्यों का अपहरण करते थे। टामस ने खरोष्टी लेखों की सुपिय की समानता खोतान के तिब्बती अभिलेखों में उल्लिखित सो-व्यि-या सुयपस् से की है।[33] राज्य की रक्षा के लिए अधिकारियों को सतर्क रहना पड़ता था तथा इस सन्दर्भ में गुप्तचरों का उल्लेख भी एक लेख में मिलता है। इसमें चोझवों कुनाल की सूचना के अनुसार चलमदन में चौथे महीने सुपिय आने वाले हैं अतः शीघ्र ही गुप्तचर विभाग के लोगों को भेज देना चाहिए।[34] सैनिकों में घुड़सवारों का अधिकांश लेखों में उल्लेख है। शासन की ओर से घोड़ों की देखरेख का समुचित प्रबन्ध था। अश्व और ऊंट की देखरेख करने वाले अधिकारी को 'कलसेयि' कहते थे। यह पद आनुवंशिक था। लेख (नं0 10) में पेत-अवन में वल्सेचि पद पर काम करते हुए लिपये का कथन था कि वह वंशपीढ़ी के अनुसार काम कर रहा है नकि 'अरिग्ग' के रूप में। इस सन्दर्भ में राज्य के पशुओं की देखरेख वाले अधिकारी 'कोरि' का भी लेखों में उल्लेख है जिनका कार्य पशुओं की निगरानी करना था।[35]

उपरोक्त प्रशासनिक वृतान्त से प्रतीत होता है कि शान-शान राज्य, जहां से यह लेख प्राप्त हुए हैं, नृपतंत्र था। शासक की उपाधियां कुषाण सम्राटों की भांति 'महाराजाधिराज देव पुत्र' थी और वही इन सब अधिकारियों की नियुक्ति करता था जैसा कि शासक के द्वारा दिए गए आदेशों से पूर्णतया विदित होता है। प्रजा को राजकीय कार्यों में हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार न था (न सर्वजनस्य रजकर्यति कर्तवो) किन्तु शासक के निरंकुश होने का कोई प्रमाण नहीं है तथा किसी प्रकार की अराजकता का भी संकेत नहीं मिलता है। हां, खोतान की ओर से तथा सूपियो के आक्रमण होते रहते थे जिसके लिए समुचित उपाय किए गये थे। राज्य प्रान्तों तथा मण्डलों (सूबों) में विभाजित था। अधिकांश लेखों में चोझवो सोचक का उल्लेख है जो कदाचित् प्रशासन के सबसे उच्च पद पर आसीन था।[36] शासक ने लेख नं0 272 में स्वयं कहा कि उसने चोझवो सोंचक को अपने राज्य का एक मात्र अधिकारी कारी बनाया है तथा राज्य के कार्य में प्रत्येक व्यक्ति के हस्तक्षेप का कोई प्रश्न नहीं उठता है। अतः इस चोझवो की आज्ञा की अवहेलना करने वाले दण्ड के भागी होंगे। 'एतस रज पिचविदेयि' से यह संकेत माना गया है कि यह चोझवो सोंजक संभवतः उस प्रदेश का शासक था जिसकी राजधानी चडोटा

नीया थी ।[37] इसी चोझवो सोंजक की आज्ञा की अवहेलना करने वालों को दण्ड की धमकी का उल्लेख एक अन्य लेख (नं० 312) में भी है । चोझवो सोंजक के कार्यों में प्रायः सभी कार्यों का समावेश प्रतीत होता है और उसका सभी विभागों से सम्बन्ध था जिसमें सूचना विभाग की ओर से खेमा और खोतान की गतिविधियों के बारे में जानकारी प्राप्त करना भी था । साथ ही राज्य की रक्षा के लिए सुचारु सैनिक व्यवस्था तथा व्यापारिक परिस्थितियों की चर्चा भी उसके कार्य क्षेत्र में थे। राज्य प्रशासन विभिन्न भागों में विभाजित था और प्रत्येक के ऊपर अधिकारी नियुक्त थे । इस प्रशासन व्यवस्था को चलाने के लिए कर निर्धारित किया जाता था जिसकी वसूली का भी समुचित प्रबन्ध था । कोष के लिए लेखों में 'गनी' शब्द का प्रयोग किया है (नं० 357) और 'गेनी द्रंग' का अर्थ 'कोषालय' तथा 'गन्यवर' को कोषाध्यक्ष माना गया है । कर के लिए भी कई शब्दों का प्रयोग किया गया है जैसे 'पल्पि', 'वक', 'समरेन', 'त्संधनि' और 'क्वेमधनि' द्रंग इत्यादि । कर प्रायः अन्न, वस्त्र, पेय पदार्थ तथा पशु इत्यादि के रूप में लिया जाता था । मदिरा का विशेष रूप से उल्लेख है । कर संचय करने वालों में 'षोढंग' सबसे प्रमुख थे । इन कर अधिकारियों की अपने कार्य में शिथिलता का भी उल्लेख मिलता है जिसके कारण कई वर्षों का कर बाकी रह जाता था । कर्मचारियों को वेतन के स्थान पर भूमि मिल जाती थी जिसको वे दूसरों को कृषि के लिए दे देते थे । यह भूमिधर अपने कृषकों से कर न मिलने पर दुर्व्यवहार भी करते थे । इससे सामन्तवादी कुप्रथा का संकेत मिलता है ।

प्रशासन से सम्बन्धित न्याय, दण्ड व्यवस्था के विषय में भी लेखों से जानकारी प्राप्त होती है । व्यवहारिक (सिविल) तथा अपराधिक (क्रिमिनल) विधि वादों का उल्लेख बहुत से लेखों में मिलता है । दण्ड व्यवस्था में प्रायः धन अथवा पदार्थ के रूप में प्रतिदण्ड देने का उल्लेख है । अपराधिक वादों में कोड़े भी लगाए जाते थे । प्रशासन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के सन्दर्भ में दूतों को भेजता था जिसका लेखों में उल्लेख मिलता है । शान-शान से खोतान दूत भेजे जाते थे तथा पूर्वी क्षेत्र में चीन के साथ भी सम्बन्ध था । इन वैदेशिक सम्बन्धों का उल्लेख कई लेखों में मिलता है । लेखो में बहुत से ऐसे शब्द भी मिलते हैं जिनका प्रशासन से सम्बन्ध था पर उनकी जानकारी नहीं की जा सकी है । वास्तव में 750 से ऊपर लेख मध्य एशिया की सामाजिक-आर्थिक

व्यवस्था के अतिरिक्त प्रशासन व्यवस्था की रूपरेखा भी प्रस्तुत करते हैं जिसका प्रयास इस अध्याय में किया गया।

1--कुषाण शासकों को उपाधियों एवं इनके महत्व का विवरण मेरी 'इन्डिया अंडर दी कुषाणास्' के 'ऐडमिनिस्ट्रेशन' के अध्याय में मिलेगा। इस सम्बन्ध में मेरा एक लेख 'ऐन इक्जामिनेशन आफ दी टाइटिल्स आफ दी इम्पीरियल कुषाणास्' इन्डियन हिस्ट्री कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन (1939) में पढ़ा गया तथा उक्त अधिवेशन की प्रोसीडिंग्स (कार्यवाही रिपोर्ट) में प्रकाशित हुआ।

2--देखिए : बोयर, रेप्सन एण्ड सेनार्ट : 'खरोष्ठी इन्सक्रिप्सन्स् डिस्कवर्ड बाई स्टाइन इन चाइनीज तुर्किस्तान', आक्सफोर्ड 1920, १९२७, 1929।

3--टामस ने अपने दो लेखों 'सम नोट्स आन दी खरोष्ठी डाकूमेन्ट्स' (ए० ओ० 12, पृ० 58 से; तथा ए० ओ० 13, पृ० 44 से) में विस्तृत रूप से इन लेखों में आये बहुत से शब्दों पर व्याख्या की है जिनमें से कुछ का प्रशासन से भी सम्बन्ध है।

4--बरो : 'लैंग्वेज', पृ० 90।

5--टामस : ए० ओ० 8, पृ० 64। लेख नं० 254 में 'किल्मे का प्रयोग निजी भूमि के अर्थ में किया गया है।

6--बरो : 'लेंग्वेज', पृ० 42।

7--ल्यूडर्स : ए० ओ० 18, पृ० 15-16।

8--बरो : 'लैंग्वेज' पृ० 96।

9--ए० ओ० 13 पृ० 63।

10--बरो : 'लैंग्वेज' पृ० I17। सरकार : 'सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स' (1942), पृ० 240।

11--'ट्रांस्लेशन' पृ० 32 नोट।

12--ए० ओ० 12, पृ० 43।

13--बी० एस० ओ० एस०, 7 पृ० 788; 'लैंग्वेज' पृ० 133।

14--2, अध्याय 15, पृ० 99 ।
15--बी० एस० ओ० एस० 7, पृ० 792; 'लैंग्वेज' पृ० 101 ।
16--देखिए : ए० ओ० 12 पृ० 72; एंशिएंट खोतान पृ० 367 नोट; बी० एस० ओ० एस० 7, पृ० 509; 12, पृ० 605 ।
17--बी० एस० ओ० एस० 7, पृ० 509-10 ।
18--यही, 8, पृ० 770 ।
19--ए० ओ० 13, पृ० 62 ।
20--यही, 16, पृ० 239 ।
21--देखिए : नं० 767, 182, 341, 435 इत्यादि ।
22--बी० एस० ओ० एस० 8, पृ० 905 ।
23--'एंशिएंट खोतान' पृ० 402 ।
24--बी० एस० ओ० एस० 7, पृ० 520 ।
25--ए० ओ० 12, पृ० 53 ।
26--वरो : 'लैंग्वेज' पृ० 87 ।
27--ए० ओ० 12, पृ० 68 ।
28--जे० आर० ए० एस० 1927, पृ० 29; 1933 पृ० 549 ।
29--बील : 'बुद्धिस्थ रेकार्ड्स' 2, पृ० 324 ।
30--जे० आर० ए० एस० 1926, पृ० 31 ।
31--ए० ओ० 12, पृ० 58 ।
32--यही, 12, पृ० 37 ।
33--यही, 12, पृ० 54 ।
34--यही, 12, पृ० 57 ।
35--लेख नं० 64, 228, 223; वरो : 'लैंग्वेज' पृ० 84 ।
34--ए० ओ० 12, पृ० 44 ।
37--वरो : 'लैंग्वेज' पृ० 90 ।

अध्याय 6

धर्म तथा साहित्य

मध्य एशिया के प्राचीन धार्मिक वातावरण में भारतीयों का पूर्णतया अनुदान रहा । भारतीय प्रवासियों ने वहां पर बौद्ध धर्म के प्रचलन तथा प्रसारण में तो प्रयास किया ही, साथ में हिन्दू धर्म के अवशेष इस बात का साक्षी है कि ब्राह्मण और उनकी धार्मिक परम्पराओं ने भी वहां पर अपना स्थान बना लिया था । यह खेद है कि उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों में, जो अवशेषों में प्राप्त हुए, कोई ब्राह्मण धार्मिक ग्रन्थ नहीं है यद्यपि व्याकरण तथा चिकित्सा शास्त्र के संस्कृत में ग्रन्थ मिले, तथा खोतानी में रामायण कथा का भी उल्लेख मिलता है । 1956 में प्राप्त एक लेख में 'नारायण' का भी उल्लेख है जिससे वैष्णव मत तथा विष्णु का संकेत मिलता है । कुछ विद्वानों ने 'नारायण' की समानता बुद्ध से की है ।[1] बौद्ध धर्म तथा इसके प्रचारक और उनकी रचनाओं तथा बौद्ध स्तूपों और विहारों के विषय में पूर्णतया जानकारी ग्रन्थों, चीनी यात्रियो के वृतान्तों तथा पुरातात्विक सामग्री और अन्य धर्म मुख्यतया मानी मत पर बौद्ध धर्म के प्रभाव से प्राप्त होती है । इस सम्पूर्ण सामग्री के अध्ययन से मध्य एशिया की धार्मिक व्यवस्था तथा प्रमुख रूप से बौद्ध धर्म व ब्राह्मण मत पर प्रकाश डाला जा सकता है। उस क्षेत्र के लगभग 800 वर्ष लम्बे इतिहास में भारत के अतिरिक्त ईरानी, यूनानी तथा चीनी प्रभाव भी धर्म तथा कला के क्षेत्र में पड़ा और वहां पर इस्लाम धर्म के प्रादुर्भाव से पहले धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण था । मध्य एशिया में विभिन्न धर्मों के अतिरिक्त कई भाषाओं तथा लिपियों का भी प्रयोग होता था । यहां के विस्तृत क्षेत्र में जिसमें पूर्वी तथा पश्चिमी तुर्किस्तान, वैक्ट्रिया तथा ख़ोरज़म, अफगानिस्तान और ईरान का पूर्वी भाग भी सम्मिलित है, बौद्ध धर्म का प्रवेश तो ईसा से बहुत पहले ही हो चुका था ।

मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का इतिहास वैक्ट्रिया में यूनानी शासकों के राज्य स्थापन काल से आरम्भ होता है यद्यपि बौद्ध धर्म की शिक्षाओं तथा विचार-

धाराओं का आगमन अखमीनी समय में ही हो गया हो। वैक्ट्रिया के शासकों का बौद्ध धर्म के प्रति अनुराग था। यह डिमेट्रियस द्वारा ब्राह्मण शासक पुष्य-मित्र के विरुद्ध आक्रमण, मिनेन्दर की बौद्ध मत में दीक्षा, जैसा कि मिलिन्द पंञ्हो से प्रतीत होता है, से पूर्णतया विदित है। कन्धार क्षेत्र में अशोक के द्विभाषीय लेख से अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म के प्रवेश का पता चलता है, पर उत्तरी क्षेत्र में बेगराम के उत्खनन में प्रथम स्तर (तृतीय-दूसरी ई० पू०) में मिले एक लेख में एक बौद्ध नाम लिखा मिलता है।[2] दक्षिण वैक्ट्रिया में तो बहुत काल तक यह किंवदन्ती थी कि बुद्ध ने स्वयं वहां के दो व्यापारियों को दीक्षा दी थी। लंका के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महावंस' [3] में लिखा है कि दुठ्ठ-गामनि (101–77 ई० पू०) के समय में वृहत स्तूप की नीव रखते समय विदेशों से बहुत से भिक्षु आए। इनमें पल्हव देश से 4,60,000 भिक्षुओं के साथ महादेव आया और योनो के नगर अलसन्दा में 30,000 भिक्षु आए। यद्यपि इस संख्या को अत्याधिक मान लिया जाय तब भी यह प्रतीत होता है कि भवनों और पल्हवों के राज्य क्रमशः वैक्ट्रिया और पार्थिया में उस समय तक बौद्ध धर्म पूर्णतया अपना स्थान बना सका था। स्टाइन का कथन है कि उसने सीस्तान (ईरान देश) में हेल्मुन्द के दलदली मुहाने के पास एक बौद्ध विहार के अवशेष प्राप्त किए जिसमें यूनानी कला के कुछ चित्र थे और इनसे प्रतीत होता है कि उत्तरी-पश्चिमी भारत और मध्य एशिया तथा पूर्व एशिया के बीच में एक ईरानी कला कड़ी भी थी।[4]

पश्चिम क्षेत्र एवं बौद्ध विद्वान

तुखारिस्तान से बौद्ध धर्म का प्रसार मध्य एशिया में विस्तृत रूप से हुआ और इसमें बौद्ध विद्वान घोषक का बड़ा हाथ था। वह यहीं का रहने वाला था तथा कनिष्क के समय में पुरुषपुर में हुई चतुर्थ बौद्ध संगिति में उसने पूर्ण-तया भाग लिया था। 'अभिधर्मविभास' का वह टीकाकार भी था। संगिति में भाग लेने के बाद वह तुखारिस्तान वापस आ गया। यह वैभाषिक बौद्ध मत का अनुयायी था जो बाद में कई शाखाओं में बंट गया था। इसकी पश्चिमी शाखा का 'बाल्टिक' या 'वल्ख' से सम्बन्ध था। वैभाषिक बौद्ध मत के ग्रन्थों का प्रथम अनुवादक एक तुखारी भिक्षु धर्ममित्र था जो तरमित या तरमेज़ का रहने वाला था। उसने तुखारी भाषा में इन बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद करने

का कार्य आरम्भ किया।[5] वैभाषिक सरवास्तिवादिन बौद्ध मत की ही एक शाखा थी और पश्चिमी तुर्किस्तान के दक्षिणी भाग में इसके बहुत से अनुयायी थे। इस मत के कुछ सिद्धान्तों की समानता महायान मत से भी की जाती है और कुछ विद्वानों का कथन है कि वैभाषिकों द्वारा खोतान में महायान मत का प्रवेश हुआ।[6] इस सम्बन्ध में करा-टोपे (Kara-Tope) में उत्खनन से प्राप्त कुछ भाण्डपात्रो (potsherds) पर लिखे खरोष्ठी लेखों से महासांधिक मत का पश्चिमी तुर्किस्तान में प्रचलन प्रतीत होता है तथा कुछ अन्य लेखों से बौद्ध धर्म के सरवास्तिवादिन का अस्तित्व ज्ञात होता है।

पश्चिमी तुर्किस्तान के अन्य क्षेत्रों में भी बौद्ध धर्म के पूर्णतया विकसित होने तथा इसके अनुयायियों का पता चलता है। 'सूत्रालंकार' के अनुसार पुष्क-लावती के एक निवासी ने संभवतः कुषाण काल में उस स्थान पर एक विहार का निर्माण कराया जो बाद में ताशकंद के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ईसवी की प्रथम शताब्दी तक मार्जियाना में भी बौद्ध धर्म सुदृढ़ रूप से स्थापित हो चुका था। कुछ रूसी विद्वानों के मतानुसार चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश पश्चिमी तुर्किस्तान से ही प्रसिद्ध व्यापार मार्ग से हुआ।[7] यह प्रसारण कार्य ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ईसवी की प्रथम शताब्दी—लगभग दो सौ वर्षों के समय में हुआ और पश्चिमी तुर्किस्तानी बौद्ध विद्वानों ने पूर्वी तुर्किस्तान में भी बौद्ध धर्म का विकास किया। इस सन्दर्भ में ईसवी की तृतीय शताब्दी के ग्रन्थ वाई-लिओ (Wei-Lio) के अनुसार ईसा पूर्व 2 में वृहत् यूचियों के यहां से एक मण्डल चीन गया तथा चीनियों को बौद्ध धर्म से अवगत कराया। इसके आधार पर यह निश्चित प्रतीत होता है कि यूचियों के देश में, जो पश्चिमी तुर्किस्तान रहा होगा बौद्ध धर्व का प्रवेण शासकीय कुटुम्व में भी हो चुका या। उस समय चीन में पश्चिमी तुर्किस्तान से आये हुए बौद्ध विद्वानों का एक समूह बन गया था। लो-यांग में दो पार्थियन अन-शिह-काओ (An-cphih-Kao) तथा अन्-हुसुन (An-Hsuan), तीन यूची-ची-लाऊ-चिअ-चिएन (Chih-Lou chien Chih-) कदाचित लाकक्षेम, ची-वाओ (cia-vao) तथा ची-लिआंग (Chih Liang), दो सागडिएन-कंग मेग ह.सिअंग (Kang-Meng Hsiang) तथा कंग-चू (Kang-Chu) थे।[8] अन्-शिह-काओ के विषय में कहा जाता है कि वह राज्य उत्तराधिकारी था पर अपने चचा के हक में गद्दी छोड़-कर उसने धार्मिक जीवन का आश्रय लिया।[9] वह 148 ई० में लो-यांग में

जाकर बस गया तथा 170 ई0 तक उसने हीनयान बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद कार्य किया। पूर्वी तुर्किस्तान में उसने बौद्ध धर्म के प्रसरण का भी कार्य किया। चीनी किंवदन्ती के अनुसार वह ज्योतिष तथा मनोजन (जादू विद्या) का भी अच्छा ज्ञाता था। दूसरा पार्थियन विद्वान अन्-हुसुन 181 ई0 में लो-चांग गया तथा उसने भी अनुवाद का कार्य किया। अन्-शेह्-काओ के साथ मिलकर उसने एक महायान ग्रन्थ का अनुवाद भी किया। महायानी मत से सम्बन्धित यूची लोकक्षेम अन्-शिह्-काओ से लगभग बीस वर्ष बाद लो-यांग आया और उसने महायान मत के प्रसरण में बड़ा अनुदान दिया। ईसवी की तृतीय शताब्दी में सागडियन अनुवादकों ने भी अपना कार्य किया। इनमें से चीं-चिएन अथवा चीं-चुए यूची देश से आकर लो-यांग में वस गया था। दूसरा सागडियन कांग-सेंग-हुई था जिसके पूर्वज भारत चले गए थे तथा उसका पिता लो-यांग में बस गया था।[10] यूची धर्मरक्ष, जिसने ई0 266 से 309 तक अनेकों ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य किया, तुन-हुआंग का निवासी था जहां उसके पूर्वज कई पीढ़ियों पहले से वहां बस गए थे। उसके शिष्यों में एक यू-चीं तथा एक साग-डियन भी था। आन-फ-चिन ((An-Fa-Chin)) नामक पार्थियन ने ईसवी के 281 से 306 तक अनुवाद कार्य किया। साथडियन अनुवादकों में कांग-सेंग-चुअन भी चौथी शताब्दी का प्रसिद्ध व्यक्ति था जो अपने देश से चीन आ गया था। ईसवी की चौथी शताब्दी के अन्त काल में तुखारिस्तान (तु-हो-लो) से धर्मनन्दिन नामक एक व्यक्ति चीन आया था तथा 384-391 के बीच काल में उसने पांच ग्रन्थों का अनुवाद किया। उसका हीनयान ग्रन्थों के प्रमुख भागों के अनुवाद से सम्बन्ध था। इस प्रकार पश्चिमी चिन वंश के अन्त तक के समय में बौद्ध ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद के कार्य में छः सात चीनी, छः भारतीय तथा सोलह मध्य एशिया के विभिन्न भागों के निवासियों ने अपना अनुदान दिया। इनमें छः यू-चीं, चार पार्थियन, तीन सागडियन, दो कूचियन तथा एक खोतानी विद्वान थे। इनसे यह प्रतीत होता है कि चीन में बौद्ध धर्म के प्रवेश का श्रेय सर्वप्रथम कश्यप मातंग तथा धर्मरत्न को था (ई0 68) तथा उसके प्रसरण और धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद कार्य में मध्य एशिया के विद्वानों का प्रमुख अनुदान था। बौद्ध धर्म मध्य एशिया में ईसवी की प्रथम शताब्दी तक पूर्ण रूप से प्रसरित एवं विकसित हो चुका था।

खोतान में बौद्ध धर्म

पूर्वी या चीनी तुर्किस्तान एवं खोतान में बौद्ध धर्म के प्रवेश का ज्ञान तिब्बती श्रोतों से प्राप्त होता है । तिब्बती ग्रन्थों में खोतान को लि-युल कहा गया है जिसकी समानता विद्वानों ने विभिन्न स्थानों से की है[11] जैसे शीफनेर के अनुसार यह फाइयान का न-किए तथा बौद्ध ग्रन्थों का नकुल था । शरदचन्द्र दास के अनुसार 'कह्‌ग्युर' के अनुवादकों ने इसको नेपाल माना है । वैसिलिएफ के अनुसार तिब्बत के उत्तर में खोतान से ही इसकी समानता की जा सकती है । राकहिल का कथन है कि वैसिलिएफ का मत ठीक प्रतीत होता है तथा इससे पूर्वी तुर्किस्तान का जिसमें मुख्यतया खोतान है, संकेत है । तिब्बती श्रोतों तथा फाइयान और य्वांग-चांग के वृतान्तों के आधार पर यहां का बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में पूर्णतया इतिहास मिलता है । खोतान राज्य की स्थापना का श्रेय धर्माशोक नामक शासक के पुत्र कुस्थन को था जिसका इतिहास पहले ही प्रस्तुत किया जा चुका है । लि-युल की स्थापना बुद्ध जी के निर्वाण से 234 वर्ष बाद में हुई और इससे 165 वर्ष बाद ये–उल का पुत्र विजय संभव राज्य सिंहासन पर बैठा । अपने राज्य काल के पांचवे वर्ष में बौद्ध धर्म का प्रवेश लि-युल में हुआ था । इस शासक को मैत्रेय तथा मंजुश्रि का अवतार माना गया है । यहीं पर आर्य वैरोचन ने भी आकर बौद्ध धर्म के प्रसरण में अनुदान दिया । शासक विजयसंभव ने त्सर-म का विशाल विहार भी यहां बनवा दिया तथा एक चैत्य का भी निर्माण करवाया । च्वांग-चांग के समय में यह विहार राजधानी से कोई 10 ली की दूरी पर था । चीनी यात्री के अनुसार वैरोचन कश्मीर से यहां आया था । विजय सिंह के बाद के सात उत्तराधिकारियों के समय में कोई दूसरे विहार का निर्माण नहीं हुआ । पर आठवें उत्तराधिकारी विजयवीर्य, जिसे बोधिसत्व मैत्रेय का अवतार माना गया था, ने भिक्षु भदन्त को अपना धार्मिक निदेशक मानकर एक अन्य विहार के निर्माण का आदेश दिया । पहले ह्‌गुम-स्तिर विहार का निर्माण हुआ और फिर शासक ने गो-शिर्ष विहार बनवाया । इसके बाद के दो शासकों के समय में कोई नया विहार नहीं बना पर जब विजय शासक हुआ जिसका विवाह एक चीनी राजकुमारी पु-न्ये-शर से हुआ था तो भारत से भिक्षु संघघोष को आमंत्रित किया गया । उसे कल्याण-मित्र अथवा धार्मिक सलाहकार बनाया गया । शासक ने पो-त-र्य और म-द्-ज चैत्यों तथा एक विहार का निर्माण करवाया । उसके तीन पुत्रों में से बड़े ने

बौद्ध संघ में प्रवेश कर धर्नानिन्द नाम लिया तथा भारत चला गया। दूसरा पुत्र विजय धर्म के नाम से सिंहासन पर बैठा। भारत से लौटने पर धर्मानिन्द ने लि-युल में महासांधिक बौद्ध मत के सिद्धान्तों का प्रचार किया। वह शासक का धार्मिक निदेशक भी हो गया। उसके समय में आठ विहारों में महासांधिक रहते थे। विजयधर्म का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई ह्.दोन्ह्दोस था जिसने भारत से मन्तसिद्धि नामक बौद्ध विद्वान को बुलाया और उसके लिए एक विहार बनवाया। उसने लि-युल में हीनयान के सरवास्तिवादिन मत का प्रसरण किया और संग-तिर विहार का निर्माण करवाया। उसने भी एक चीनी र्ग्य) राजकुमारी से विवाह किया था जिसका नाम शो-र्ग्य था।

इसके बाद विजयधर्म का पुत्र विजयसिंह सिंहासन पर बैठा जिसके समय में लि-युल के विरुद्ध ग-ह्ज के शासक ने युद्ध किया था पर विजय सिंह ने उसे हरा दिया। अपने जीवन की रक्षा के लिए उसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। इस शासक ने ग-ह्ज के शासक की कन्या अ-ल्यो ह्.ज से विवाह किया। इस महिषी ने शु-लिक में बौद्ध धर्म के प्रसरण में बड़ी सहायता की। तारानाथ के मतानुसार शु लिक तुखार के पूर्व में था। राकहिल ने इसकी समानता चीनी के शु-ले से की है जिससे काशगर का संकेत है।[12] विजय सिंह के बाद चौदवां शासक विजयकीर्ति हुआ जिसे मंजुश्रि का अवतार माना गया है। कहा जाता है कि गु-जन शासक कनिक (कदाचित् कनिष्क) के साथ मिलकर उसने भारत पर आक्रमण किया तथा सो-किद् (कदाचित् साकेत) को जीता। वहां से उसे बहुत सी अस्थियां प्राप्त हुई जिनको उसने क्रो-न्यो के विहार में स्थापित कर दिया। विजयकीर्ति के समय में विदेशी आक्रमण भी हुए और इससे जनता को कठिनाइयों को झेलना पड़ा। दुग-गु के अ-न-शोस नामक शासक ने दक्षिणी भाग के बहुत से विहारों को जला दिया और उसके बाद कोई नये विहार नहीं बने। यहां की जनसंख्या भी कम होने लगी। कहा जाता है कि बुद्ध जी के निर्माण से 1500 वर्ष बाद लि-युल का शासक बौद्ध धर्म विरोधी था तथा भिक्षुओं पर अत्याचार करता था। इससे लोगों की त्रिरत्न-बुद्ध, धर्म और संघ—में आस्था जाती रही। वे भिक्षुओं को उनके पात्र में भोजन नही देते थे जिसके कारण इन भिक्षुओं को खेतों तथा उद्यानों में काम करना पड़ता था। लि-युल, शु-लिक तथा अन-शे पर बहुत सी आपत्तियों का प्रकोप हुआ जिसके कारण भिक्षुओं को लि-युल छोड़ना पड़ा। यहां पर विरोधी मंत्रियों

ने बौद्धों के विहारों पर अधिकार कर लिया था। वे त्सस्म विहार में एकत्रित हुए जहां पर सबसे पहले बौद्ध धर्म का उपदेश हुआ था तथा उन्होंने वहां से वोद-युल (तिब्बत) की ओर प्रस्थान करने का निश्चय किया। पूर्ण यात्रा का विवरण भी बौद्ध श्रोतों से प्राप्त होता है पर यहां पर उसका उल्लेख अनुपयुक्त होगा।

बौद्ध केन्द्र एवं चीनी यात्रियों के विवरण

मध्य एशिया के अभिलेख तथा चीनी यात्रियों के वृतान्त और उत्खनन क्षेत्रों से प्राप्त बौद्ध कृतियां—मुख्यतया बुद्ध मूर्तियां, स्तूप, विहारों के अवशेष तथा दीवारों पर चित्रित बुद्ध जीवनी से संदर्भित चित्रों के आधार पर हम बौद्ध धर्म के मध्य एशियाई क्षेत्रीय इतिहास को प्रस्तुत कर सकते हैं। इनके आधार पर बौद्ध विद्वान—जो पश्चिमी क्षेत्र तथा मध्य एशिया से चीन गये, उनके जीवन तथा कृतियां और उन देशों के धार्मिक जीवन में उनके अनुदान का भी पता चल सकता है। लेखों से बौद्ध भिक्षुओं के जीवन का भी चित्रण होता है। अन्त में अन्वेषण तथा उत्खनन कार्य के फलस्वरूप जो बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ मिले हैं उनका उल्लेख भी आवश्यक है। यह कहना अनुचित न होगा कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी से ईसवी की आठवीं शताब्दी तक तुखारिस्तान के विभिन्न राज्यों में बौद्ध धर्म मुख्य रूप से प्रचलित था। एक किंवदन्ती का उल्लेख करते हुए यवांग-चांग ने लिखा है कि बुद्ध जी के प्रथम दो शिष्यों—त्रपुरु और मल्लिक—द्वारा वहां बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ। यह दोनों वाल्टिक देश के व्यापारी थे और भारत में व्यापार के सम्बन्ध में आये थे।[13] बुद्ध जी के ज्ञान प्राप्ति के समय वे दोनों बौध-गया में ही थे और उन्होंने तथागत को पुए और मधु पान करने को दिया था। वहां से लौटते समय बुद्ध जी ने उनको अपने बाल तथा नख दिये थे और इनको ले जाकर उन्होंने इन पर स्तूपों का निर्माण किया। यह स्तूप वल्ख के निकट ही स्थित थे। इन किंवदन्तियों में सत्यता ढूंढ़ना कठिन है पर यह तो अशोक के लेखों से प्रतीत होता है कि उसने गन्धार, कम्बोज तथा योन (अथवा यवन) देशों में बौद्ध धर्म का प्रसारण किया था। कम्बोज कदाचित तुखार से सम्बन्धित् थे, योन बैक्ट्रिया के रहने वाले थे जहां का शासक बाद में डिमेट्रियस हुआ जो दत्तमित्र के नाम से प्रसिद्ध है। उसने तथा उसके सेनापति मिनेन्दर (मिलन्द) ने बौद्ध धर्म

को संरक्षणता प्रदान की । यह भी कहा जाता है कि डिमेट्रियस ने ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र की बौद्ध धर्म विरोधी नीति के प्रतिकार में भारत पर आक्रमण किया ।[14] मिनेन्दर का बौद्ध धर्म के प्रति लगाव का प्रत्यक्ष उदाहरण उसका बौद्ध दार्शनिक नागसेन के साथ जिज्ञासा शान्ति का प्रयास था । कुषाण शासकों, जिन्होंने बैक्ट्रिया पर अधिकार कर लिया था, ने भी बौद्ध धर्म के प्रति सहानु-भूति दिखाई और कनिष्क के समय में तो चतुर्थ बौद्ध संगिति ही हुई थी । तुखारिस्तान से ई0 पू0 में चीनी राजदूत त्सिंग किएग ने बौद्ध ग्रन्थ प्राप्त किए । इसी सन्दर्भ में तुखारिस्तान के दो बौद्ध विद्वानों में घोषक प्रमुख था जिसे तुखर कहा गया है। उसने पुरुषपुर में हुई चौथी बौद्ध संगिति में भाग लिया था जिसका आयोजन सम्राट् कनिष्क के समय में किया गया था । सर-वास्तिवादिन मत के अभिधर्म-पिटक पर 'विभाषा' नामक वृहत् व्याख्या के संकलन में उसका प्रमुख रूप से अनुदान था । पार्श्व की अध्यक्षता में हुए विवाद संगिति में घोषक ने प्रमुख भाग लिया था । उसने अभिधर्म---'अभिधर्मा-मृत' नामक मूल ग्रन्थ भी लिखा जिसका चीनी भाषा में तृतीय शताब्दी में अनुवाद हुआ । इसमें अभिधर्म सिद्धान्तों का पूर्णरूप से विमोचन है । पुरुषपुर में अपने कार्य को समाप्त करने के बाद घोषक अपने देश वापस लौट आया ।[15] उसके ग्रन्थ से प्रतीत होता है कि वह विभाष का अनुयायी होने के कारण वैभाषिक बौद्ध मत का प्रचारक था जिसकी बाद में कई शाखाएं हो गईं । उनमें से एक पाश्चात्य या पश्छिमी वैभाषिक शाखा थी जिसका सम्बन्ध बाल्टिक देश से था । बल्ख मूल बौद्ध ग्रन्थों की रचना का प्रसिद्ध केन्द्र था । य्वांग-चांग के कथनानुसार बाल्टिक का नव संघाराम हिन्दूकुश पर्वत के उत्तर में अपने बौद्ध विद्वानों के लिए प्रसिद्ध था । तुखार देश में वैभाषिक मत की प्रमुखता का पता वहां से प्राप्त तुखारी साहित्य से भी चलता है । तुखारी भाषा में 'मैत्रेय समिति' का अनुवादक आर्यचन्द्र भी वैभाजिक-वैभाषिक था । एक और वैभाषिक आचार्य धर्ममित्र वक्सु (वाक्षु) पर स्थित तरमित (तेरमेज) का निवासी था जिसने 'विनयसूत्रटिका' की रचना की । इसका अनुवाद तिब्बती भाषा में भी हुआ था ।

तुखारिस्तान के बौद्ध विद्वानों का चीन में बौद्ध धर्म और संस्कृति में बड़ा हाथ था । चीनी साहित्य में इन भिक्षु विद्वानों के नाम के आगे 'चे' उपसर्ग लगा है जिससे इनके यू-ची (यू-चे) होने का संकेत है। कश्यप मतंग और धर्म-

मित्र नामक दो बौद्ध विद्वान यू-ची देश (तुखारिस्तान) से चीन गए थे। इनके बाद 147 ई० में लोकक्षेम नामक एक अन्य तुखार देशीय विद्वान लो यांग गया था जहां उसने बहुत से प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिनमें से कुछ अब भी सुरक्षित हैं। लोकक्षेम चीन में 188 ई० तक रहा। उसी का एक शिष्य चे-किएन भी तुखार का रहने वाला था। चीन के लो-यांग की बिगड़ती राजनैतिक परिस्थिति के कारण उसे दूसरी शताब्दी के अन्त में यह स्थान छोड़कर नानकिंग जाना पड़ा। यहां उसने तृतीय शताब्दी के मध्य काल तक कोई एक शत से अधिक बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया जिनमें से 49 अभी भी हैं। एक और बौद्ध विद्वान धर्मरक्ष था जिसे चीनियों ने फ-यु कहा है। यह तुखारी था तथा तुन-हुआंग में ईसवी की तृतीय शताब्दी में बस गया था। मध्य एशिया में वह बहुत दूर दूर तक घूमा था तथा वह कोई 36 भाषाओं का ज्ञाता था। 284 ई० में वह चीन गया तथा वहां 313 तक रहा और लगभग 40 वर्ष के इस समय में उसने कोई 200 बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिसमें कोई 10 अब भी उपलब्ध है। एक अन्य तुखार भिक्षु शे-लुन 373 ई० में चीन गया और वहां पर उसने 4 बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। अन्तिम तुखार विद्वान धर्म-नन्दी था जिसका उल्लेख चीनी श्रोतों में मिलता है। वह तुखार देश से 384 में चीन गया वहां उसने बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। इनमें से 'एकोत्तरगाम' सहित दो उपलब्ध हैं।

तुखार देश, जिससे बैक्ट्रिया का संकेत है, में बौद्ध धर्म के प्रसारण तथा तत्कालीन स्थिति का विवरण केवल चीनी यात्री य्यांग-चांग के वृतान्त से ही प्राप्त होता है। उसने यहां के प्रत्येक राज्य में बौद्ध विहारों तथा उनमें रहने वाले विद्वानों की संख्या का उल्लेख किया है। चीनी यात्री के अनुसार प्रायः सभी राज्यों में बौद्ध विहार थे जिनमें भिक्षु रहते थे किन्तु नगरों में बौद्ध धर्म पूर्णतया प्रचलित था। त–मि (तेरमेद या तेरमेज़) में कोई 10 विहार थे जिनमें 1000 भिक्षु रहते थे। किए–चि (गाज़) में 10 विहार थे तथा एक शत भिक्षु थे। हु–ओ (कुन्दुज़) में 10 विहार थे और कुछ शत भिक्षु थे। कुन्दुज महायान तथा हीनयान दोनों बौद्ध मतों का केन्द्र था, पर गाज़ के सभी भिक्षु हीनयान मत की सरवास्तिवादिन शाखा के थे। अन्देरव में भी बहुत से विहार थे पर वहां रहने वाले महायान मत के अनुयायी थे। तुखार देश का सबसे

प्रमुख बौद्ध केन्द्र बल्ख (पो–हो) था जहां 100 विहार थे तथा उनमें कोई 3000 बौद्ध भिक्षु तथा भदन्त रहते थे। यह नगर छोटे राजगृह नाम से प्रसिद्ध था और 20 ली के घेरे में बसा था। य्वांग-चांग द्वारा दी गई बौद्ध विहारों तथा भिक्षुओं की संख्या उसके पहले और भी बढ़-चढ़कर रही हो क्योंकि उस समय बौद्ध धर्म का उतार था। चीनी यात्री ने बल्ख के बौद्ध संस्थानों का विस्तृत रूप से विवरण दिया है। स्थानीय बौद्धों के लिए यह भारत के राजगृह की भांति महत्वपूर्ण स्थान था इसीलिए इसे छोटा राजगृह भी कहा गया है। नगर के बाहर दक्षिण-पश्चिम की ओर नव संघाराम नामक वृहत् विहार था जिसका निर्माण बहुत पहले किसी शासक ने किया था। यहां के विद्वान बौद्ध जगत में अपनी मौलिक रचनाओं के लिए प्रसिद्ध थे तथा वे बौद्ध शास्त्रों की व्याख्या में पारंगत थे। मुख्य व्याख्यान शाला में दक्षिण की ओर मणियों से विभूषित एक विशाल बुद्ध जी की मूर्ति थी तथा बुद्ध जी का प्रयोग किया हुआ हाथ धोने का पात्र भी था। उनकी कुछ अन्य प्रयोग की हुई वस्तुएं भी थीं जैसे विहार साफ करने का ब्रुश, एक मणि जड़ा हुआ हैंडिल तथा बुद्ध जी का एक दांत भी था[16]।

नव संघाराम के निकट एक और विहार भी था जहां चीनी यात्री गया था और यहां पर भी बहुत से बौद्ध विद्वान रहते थे। चीनी यात्री के अनुसार यह नया संघाराम वैश्रवणदेव की संरक्षता में था। कहा जाता है कि बुद्धजी के निर्वाण के बाद इसी देव को उत्तरी क्षेत्र में बौद्ध धर्म के संरक्षण का कार्य सौंपा था। यहीं पर प्रज्ञाकर नामक बौद्ध विद्वान के साथ चीनी यात्री ने 'अभि-धर्म' तथा 'विभाष शास्त्र' ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इसके अतिरिक्त दो अन्य बौद्ध धर्म के शास्त्रों में पारंगत विद्वानों ने भी य्वांग-चांग का स्वागत किया था। नव संघाराम का उल्लेख अरबी स्रोतों में भी मिलता है। उन्होंने इसका नाम नौवहार तथा भिक्षों का परमक (वरमक) कहा है। अरबों ने सातवीं शताब्दी के अन्त में इस विहार को नष्ट कर दिया था। य्वांग–चांग की यात्रा के समय में तुखारिस्तान तुर्कों के अधिकार में था तथा कुन्दुज में इनका शासक रहता था। तुर्की कगन की बौद्ध धर्म के प्रति रुचि हो गई थी जिसका श्रेय नालन्दा से 10 भिक्षुओं के साथ आये हुए प्रभाकर मित्र को था। वह कदाचित् 620 ई0 में यहां आया था और तुर्की शासक ने उसका आदर सम्मान किया। जब तक वह कगन के साथ रहा उसने उसे बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों से अवगत कराया। कगन के बड़े पुत्र, जो कुन्दुज में रहता था, का विवाह कप्ओं–

छंग (तुरफान) के शासक की लड़की से हुआ था। उसके द्वारा भी कगन के यहां बौद्ध धर्म का प्रभाव बढ़ा। 625 में प्रभाकर मित्र कगन की अनुमति से चीन गया। कुन्दुज़ भी बौद्ध धर्म और शिक्षा का उस समय एक बड़ा केन्द्र था। य्वांग–चांग को वहां एक बौद्ध विद्वान त–माओ–सेंग–किअ (धर्म सिंह) मिला। वह अपनी शिक्षा के सम्बन्ध में पहले भारत गया था और हिन्दूकुश के उत्तर में भी शिक्षा केन्द्रों से उसका सम्पर्क था। विभिन्न देशों के बौद्ध उसकी विद्वता को मानते थे। विभाष का उसे अच्छा ज्ञान था और य्वांग–चांग ने उसके साथ वाद-विवाद भी किया था।

तुखारिस्तान के उतर में प्राचीन सागडियाना था जिसका प्रमुख केन्द्र समरकन्द था। यहां के निवासियों का उल्लेख प्राचीन अखमानी लेख तथा यूनानी ऐतिहासिक साहित्य में भी मिलता है। इन्हें 'सुद्ध' (आवेस्ता), सुगुद (विहिस्ता अभिलेख) तथा सागडोई (हिरोडोटस) नाम दिए गए हैं। यह प्रसिद्ध व्यापारी थे तथा उन्होंने मध्य एशिया में अपने व्यापार के सन्दर्भ में कहीं कहीं उपनिवेश बना लिए थे। ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दी में यह उपनिवेश समरकंद से पूर्व में चीन की वृहत दीवार के किनारे तक इधर उधर फैले हुए थे। इसीलिए इनका बौद्ध धर्म और संस्कृति से भी सम्पर्क स्थापित हो गया। बहुतों ने बौद्ध धर्म भी अपना लिया। इस प्रान्त के सागड़ी बौद्ध भिक्षुओं ने भी चीन में बौद्ध धर्म के प्रसारण में अपना अनुदान दिया। उनके नाम के आगे 'कंग' उपसर्ग लगाकर उनका पृथक् अस्तित्व बताया जाता था। कुछ ने तो पार्थियन बौद्ध विद्वानों के साथ भी सहयोग प्रदान किया। दक्षिण चीन में एक सागडी भिक्षु सेंग–हुई था। यह सागडी वंश में पैदा हुआ था, तथा इसके पूर्वज पहले भारत में रहते थे। इसका पिता व्यापारी था और उसे टोंकिन (किआओ-चे) में रहना पड़ा जहां उसके पुत्र सेंग-हुई का जन्म ईसवी की तृतीय शताब्दी के प्रथम चरण में हुआ। अपने पिता की मृत्यु के बाद वह सांसारिक जीवन त्याग कर बौद्ध भिक्षु बन गया। वहां से वह नानकिंग गया जहां उसने एक विहार का निर्माण कराया तथा बौद्ध मत के प्रसरण का कार्य आरम्भ किया। कहा जाता है कि दक्षिण चीन में उसीने सर्वप्रथम बौद्ध धर्म चलाया। चे–किएन नामक एक हिन्द-सीथी उस समय केवल उपासक के रूप में कुछ बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद कर रहा था। सेंग–हुई ने बहुत से चीनियों को बौद्ध धर्म में दीक्षा दी तथा लगभग बारह बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया।

तुखारिस्तान के प्राचीन बौद्ध अवशेषों का अन्वेषण कार्य पूर्ण रूप से नहीं हो सका है, पर जो कुछ भी हुआ है उससे रोचक सामग्री प्राप्त हुई है। प्राचीन वल्ख बौद्ध संस्कृति का सबसे प्रसिद्ध केन्द्र था और इसको अरब आक्रमणकारियों से बहुत ही क्षति पहुँची। इसके अवशेष बहुत दूर तक कोई 16 मील के घेरे में विस्तृत है। हैवक, जो खुलुम नदी पर स्थित है, में इस वैदेशिक आक्रमण का प्रभाव नहीं पड़ा। इसीलिए एक बड़े स्तूप तथा उससे मिले हुए संघाराम के अवशेष मिले। यह वल्ख और वामियान के बीच स्थित है। कुन्दुज़ में भारतीय गंधार कला का ईसवी की चौथी-पांचवीं शताब्दी में प्रभाव पड़ा। तेरमेज़ भी प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र था पर इस पर भी वैदेशिक आक्रमणकारियों का आघात हुआ। यहां कूचा तथा तक्षशिला की भांति बोधिसत्व की मूर्तियां मिली हैं[17]। मध्य एशिया के अन्य क्षेत्रोंमें पूर्वी तुर्किस्तान के काशगर तथा निकटवर्ती राज्य, खोतान तथा लोवनोर में भी बौद्ध धर्म प्रचलित था। किए-पन-तो (सरिकोल) और वु-श (येगि हिसार) नामक दो पामीर क्षेत्रीय राज्य काशगर से सांस्कृतिक तथा भाषायी रूप में मिले हुए थे तथा इन तीनों स्थानों में ब्राह्मी लिपि का चलन था। य्वांग-चांग ने भी सरिकोल का उल्लेख किए-पन-तो के नाम से किया है जहां सीता नदी बहती थी जिसकी समानता मारकन्द दरया से की गई है। इस प्राचीन नगर के अवशेष वर्तमान तशकुर्गन में पाये जाते हैं। ईसवी की सातवीं शताब्दी में इस छोटे से राज्य में बौद्ध धर्म विकसित था और राजधानी में कोई 10 विहार थे जिसमें 500 बौद्ध भिक्षु रहते थे जो सरवास्तिवादिन मत के अनुयायी थे। वहां का शासक भी बौद्ध- धर्म का संरक्षक था। कहा जाता है कि वह कोई पुराने सूर्यवंशीय कुल का था और उसने देवपुत्र की उपाधि धारण की थी। यहां तक्ष-शिला से कुमारलब्ध अथवा कुमारलात को लाया गया था जो अश्वघोष, नागार्जुन तथा आर्यदेव का समकालीन था तथा उसने बौद्ध धर्म के अन्तर्गत सौत्रा न्तिक मत चलाया था। उसने बहुत से ग्रन्थ लिखे जो उस समय भी पढ़े जाते थे। कहा जाता है कि उस समय के चार देदीप्यमान बौद्ध विद्वानों मे कुमारलब्ध उत्तर में, नागार्जुन पश्छिम में, अश्वघोष पूर्व में और देव दक्षिण में सर्वोच्च माने जाते थे। उसके लिखे एक ग्रन्थ 'कल्पना मंण्डिटिका' जो अश्व-घोष के सूत्रालकार पर आधारित है, के अंश पूर्वी तुर्किस्तान में मिले। उसके सम्मान में शासक द्वारा बनाया गया विहार चीनी यात्री के समय में भी था।

इसकी कीर्ति तुखारिस्तान से पूर्वी चीनी तुर्किस्तान तक फैली हुई थी। निकट-वर्ती वुन्श जिसकी दक्षिणी सीमा सीता अथवा मारकन्द नदी थी त्सु-लिंग (पामीर) के दक्षिणी ढाल पर स्थित था। यहां पर कोई 10 विहार थे जिनमें 1000 भिक्षु रहते थे जो सरवास्तिवादिन मत के अनुयायी थे।

काशगर इस क्षेत्र का सबसे महत्वपूर्ण स्थान था जहां से एक मार्ग दक्षिण पूर्व में खोतान की ओर जाता था तथा दूसरा उत्तर में कूचा की ओर जाता था।[18] चीनी राजशीय वृतान्तों में इसे शु–लेचे (Shu-lei) अथवा श–ले कहा गया है जिसका उल्लेख कुमारजीव, फ-योग (ई0 पांचवीं शताब्दी), धर्मगुप्त (छठवीं शताब्दी के अन्त) तथा वु-कोंग (आठवीं शताब्दी के मध्य भाग) ने भी किया है। य्वांग-चांग ने इसे किए-श (अथवा कि-श) कहा है। फ.इयान इसे किए–ए कहता है जिसकी तुलना भारतीय कष से की जा सकती है। इनकी लिपि 'खश्यलिपि' का उल्लेख 'ललित-विस्तार' में मिलता है[19]। यहां पर भारतीय ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था यद्यपि पहले यहां खरोष्ठी का प्रयोग होता होगा। खोतान के कुछ भागों में ईसवी की तृतीय शताब्दी तक खरोष्ठी का प्रयोग होता था। बौद्ध धर्म के सम्बन्ध में फाइयान के अनुसार यह अच्छी तरह विकसित था। उस समय काशगर में कोई दो सहस्र बौद्ध भिक्षु और उनके शिष्य थे जो हीनयान के सरवास्तिवादिन मत के अनुयायी थे। अपने निवास काल में फाइयान ने यहां पंचवार्षिक संगिति में भी भाग लिया जिसे वहां के शासक ने बुलाया था। दूर दूर से बौद्ध विद्वान इसमें भाग लेने के लिए आमंत्रित किए गये थे और सात दिन तक वहां के नृप तथा उसके अमात्य एक-त्रित भिक्षुओं को विभिन्न प्रकार की भेंट देते रहे। फाइयान के अतिरिक्त चे-मोंग (404 ई0) फ-योंग तथा ताओ-यो (420) ने भी इस वृतान्त का अनु-मोदन किया है।

मध्य एशिया के कुछ बौद्ध विद्वान एवं उनकी कृतियाँ

य्वांग–चांग ने इसका विस्तृत रूप से वृतान्त दिया है। उसके कथनानुसार यहां पर कई शत विहार थे और लगभग 10,000 बौद्ध भिक्षु थे। वे सब सरवास्तिवादिन मत के अनुयायी थे। उनकी बौद्ध धर्म के विनय में बड़ी आस्था थी और सच्चाई के साथ नियमों का पालन करते थे। धार्मिक साहित्य संस्कृति में था तथा बौद्ध विद्वानों को इसका अच्छा ज्ञान था। अपनी

विद्वता के लिए यहां के बौद्ध भदन्त प्रसिद्ध थे तथा यहां भारतीय और अन्य विद्वान भी आते थे। कुमारजीव, जिसका भारतीय पिता था, कूचा में अपनी मां के यहां पैदा हुआ था, अध्ययन के लिए कश्मीर गया था तथा वहां से लौटते समय वह काशगर आया था और कोई एक वर्ष तक ठहरा था। उसने सरवास्तिवादिन मत के अभिधर्म का यहां अध्ययन किया था। इससे यह प्रतीत होता है कि वहां पर बहुत से बौद्ध विद्वान थे और 'अभिधर्म' की विशेष जानकारी रखते थे। त्रिपिटक के एक विद्वान हि-किएन ने तो शासक से यह भी अनुरोध किया था कि वह कुमारजीव को वहां से न जाने दे पर इधर कूचा के शासक उसे अपने यहां बुलाने का आग्रह कर रहे थे। कहा जाता है कि कूचा लौटने से पहले कुमारजीव ने यहां चारों वेदों, पांचों विज्ञानों, ब्राह्मण शास्त्रों तथा ज्योतिष का भी अध्ययन किया था। इससे यह प्रतीत होता है कि काशगर ब्राह्मण धार्मिक शिक्षा का भी केन्द्र था। यहां पर सो–क्यू (करगलिक–यारकन्द) के शासक के पुत्र सूर्यभद्र तथा सूर्य सोम ने कुमारजीव से बौद्ध धर्म में दीक्षा ली थी। वे दोनों महायान मत के अनुयायी थे और कुमारजीव ने उन्हें कूचा लौटने से पहले 'शतशास्त्र' तथा 'माध्यमिक शास्त्र' का अध्ययन कराया था।

कुमारजीव के काशगर आने से कुछ समय पहले कश्मीर से बुद्धयश नामक विद्वान यहां आया था और उसने इस कूची विद्वान को उसके अध्ययन में बड़ी सहायता दी। कुमारजीव के कूचा लौटने के बाद भी बुद्धयश काशगर में रहा तथा उसका स्थानीय शासक पर बड़ा प्रभाव था। इलका नाम पु–तु (वर्द्ध) था तथा इसके पुत्र का नाम त–मो–फो–तो (धर्मपुत्र) था। दोनों ने कश्मीर के इस विद्वान का बड़ा आदर सत्कार किया तथा अपने प्रासाद में रखा। बाद में यह भी चीन चला गया जहां कुमारजीव के साथ मिलकर इसने बौद्ध ग्रंथों का चीनी में अनुवाद का कार्य किया। एक अन्य भारतीय विद्वान धर्मचन्द्र, जो मगध का रहने वाला था, कूचा से 730 में चीन गया था जहां से 741 में लौटते समय वह काशगर में ठहरा था। उस समय की राजनैतिक परिस्थिति प्रतिकूल होने के कारण वह भारत न लौट सका और खोतान वापस चला गया जहां 743 में उसकी मृत्यु हो गई।

काशगर के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्व में लगभग 83 मील (500 ली) की दूरी पर चे–क्यू–क का राज्य था जहां पर महायान मत के कोई 100

13

बौद्ध भिक्षु रहते थे। यहां पर पहले बहुत से विहार थे पर उस समय वे जीर्ण अवस्था में थे। लगभग तीन शताब्दी से यहां पर इस मत का प्रचलन था क्योंकि यहीं शासक के दो पुत्र सूर्यभद्र और सूर्यसोम ने काशगर आकर कुमारजीव से दीक्षा ली थी तथा उसके साथ महायान मत के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इन दोनों राजकुमारों के नामों से प्रतीत होता है कि यह किसी भारतीय वंश के थे और इनके पूर्वज यहां आकर बस गए थे। चीनी यात्री के अनुसार यहां पर अन्य देशों की अपेक्षा सबसे अधिक महायान मत से सम्बन्धित ग्रन्थ उपलब्ध थे। इनमें से दस से अधिक तो कोई एक लाख पद्यों अथवा श्लोकों के थे, पर छोटे ग्रन्थों का प्रचलन अधिक था।

खोतान के इतिहास का उल्लेख पहले ही हो चुका है, तथा तिब्बती स्रोतों के आधार पर यहां का विवरण भी प्रस्तुत किया जा चुका है । युवांग-चांग के कथनानुसार खोतान में कोई 100 विहार थे जिनमें कोई 5000 बौद्ध भिक्षु रहते थे जो महायान मत के अनुयायी थे। चीनी यात्री ने कुछ प्रमुख विहारों के नाम भी दिए हैं। सबसे प्राचीन तसर्म विहार था। इसके अतिरिक्त ति–को–षो–फ–न (दीर्घ भवन), श–मो–नो, गो–शृंग तथा मो–शे विहार थे : ति–को–षो–फ–न जिसे कदाचित् दीर्घ भवन कहा जाता है एक बुद्ध जी की मूर्ति स्थापना के लिए बनाया गया था । तिब्बती वृतान्तों में इसे भ-व-न कहा गया है तथा स्टाइन ने इसकी समानता वोवा-कम्बर से की है। श-मो-नो अथवा श-मो-जो विहार का निर्माण विजय सिंह ने आनन्द सेन नामक काशगर के शासक के सम्मान में किया था जो अपनी खोतान से पराजय के पश्चात् बौद्ध हो गया था। इसके साथ का स्तूप कोई 100 फीट ऊंचा था। इसके अवशेष योतकन के निकट सोचिय ग्राम में पाये गये थे। या–शो विहार का निर्माण विजय जय की चीनी राजकुमारी पत्नी द्वारा हुआ था और उसकी समानता मजा से की गई है। इसके अवशेष कुम–इ–शहीदन में मिले हैं। सबसे प्रसिद्ध गोमती तथा गोशीर्ष अथवा गोशृंग विहार थे जिनका विस्तृत रूप से उल्लेख चीनी यात्रियों ने किया है। फाइयान का गोमती विहार के सम्बन्ध में कथन है कि इसमें तीन सहस्र भिक्षु रहते थे जो घंटा बजते ही एक साथ भोजन के लिए एकत्रित होते थे तथा शान्तिपूर्वक और अनुशासन के साथ अपना स्थान ग्रहण करते थे और भोजन करते समय भिक्षु पात्र तथा बर्तनों से किसी प्रकार

की ध्वनि नहीं होती थी। यदि भोजन करते समय किसी को कुछ आवश्यकता हुई तो वह केवल हाथ से संकेत करता था। यहां के भिक्षु महायान मत के अनुयायी थे और शासक उनका बड़ा सम्मान करता था। गोशृंग अथवा गोशीर्ष विहार का निर्माण निर्माण उसी नाम के पर्वत की ढाल पर बाद में हुआ था[19]। इस विहार के भिक्षु महायान मत को मानने वाले थे तथा इसका उल्लेख एक बौद्ध ग्रन्थ 'सूर्यगर्भसूत्र' में भी है जिसका अनुवाद चीनी में 589–719 के अन्तर्गत काल में हुआ था। इसका स्थानाकरण करकाश नदी के पास कोहमारी पर्वत के निकट किया गया है। यहां पर दो-तल्ली एक गुफा है। यहीं पर खरोष्ठी में 'धर्मपद' की एक प्राकृत में हस्तलिखित पोथी भी फ्रांसीसी अन्वेषणक डूट्रेउल को 1890 में प्राप्त हुई।

खोतान बौद्ध धार्मिक शिक्षा का भी एक बड़ा केन्द्र था। 259 ई० में यहां चू-शे-हिंग नामक एक चीनी भिक्षु बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन के लिए आया था। उसने चीनी भाषा में अनुवादित बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का सूची पत्र बनाया था पर उसे मूल में ग्रन्थों का अध्ययन करने की जिज्ञासा हुई अतः वह खोतान के विद्वानों के पास आया और यहां उसने दृढ़ता के साथ उनका अध्ययन किया। थोड़े समय में उसने मूल बौद्ध ग्रन्थों के कोई 90 बस्ते एकत्रित किए जिनको वह चीन भेजना चाहता था और कुछ स्थानीय विरोध होते हुए भी खोतान के शासक ने उसे अनुमति दे दी। शे-हिंग स्वयं चीन नहीं गया। ग्रन्थ ले जाने का कार्य उसने अपने शिष्य फु-जु-तन (पुण्यधन) को सौंपा गया। 80 वर्ष की अवस्था में उसका देहान्त हो गया। जिन मूल ग्रन्थों को चू-शे-हिंग ने चीन भेजा था उनमें से कुछ का अनुवाद मोक्षल नामक एक खोतानी भिक्षु ने किया था जो 291 में चीन गया था। इस कार्य में उनकी सहायता एक भारतीय भिक्षु ने की जिसका नाम शुक्लरत्न था। जिन ग्रन्थों का अनुवाद हुआ वे महायान मत से सम्बन्धित थे तथा उनके नाम 'पंचविशंति साहस्त्रिका-प्रज्ञापारमिता', विमल कीर्ति निर्देश' तथा 'सुरंगम सूत्र' थे। इस प्रकार ईसवी की तृतीय शताब्दी में खोतान बौद्ध धर्म के महायान मत का एक प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र था। पांचवीं शताब्दी में यहां पर 'परिनिर्वाण सूत्र' का सम्पूर्ण ग्रन्थ था जिसको अध्ययन करने के लिए लिएंग-चाऊ से धर्मक्षेम नामक एक भारतीय महायानी विद्वान खोतान आया था। वह मगध से चीन गया था तथा अपने साथ में उपरोक्त ग्रन्थ का खंडित भाग ले गया था। सम्पूर्ण ग्रन्थ खोतान में

ही था इसलिए 412 अथवा 413 में यह महायानी विद्वान खोतान गया जहां से वह उसके द्वितीय भाग को लेकर चीन गया तथा 33 अध्यायों के इस ग्रन्थ का उसने 414 से 421 के बीच के काल में अनुवाद किया। इस प्रकार जिस महायान मत का ग्रन्थ भारत में उपलब्ध न था वह खोतान में सम्पूर्ण रूप से प्राप्त था।

महायान मत के शिक्षा केन्द्र के नाते खोतान ने धर्मक्षेम के शिष्य त्सू-क्यु-किंग क्षेंग जो लिएंग-चाऊ के एक उच्च कुल का था, को भी अपनी ओर आकर्षित किया। वह गोमती महाविहार में आकर ठहरा तथा बुद्ध सेन नामक एक भारतीय बौद्ध विद्वान के साथ उसने महायान मत के ग्रन्थों का अध्ययन किया। बुद्धसेन अपनी विद्वता के कारण शे-त्सु अर्थात् सिंह के नाम से पाश्चात्य देशों में प्रसिद्ध था। किंग-क्षेम अध्ययन काल के उपरान्त अनेक ग्रन्थों सहित चीन वापस आया तथा इनका उसने अनुवाद किया। यह महायान मत के ग्रन्थ 'ध्यान-मुद्रा' से सम्बन्धित थे। इसके बाद आठ और चीनी भिक्षु बौद्ध ग्रन्थों की खोज में लिएंग-चाऊ से 439 में खोतान आये। उस समय वहां पंचवार्षिक संगिति चल रही थी और उन्होंने इसमें कुछ विद्वानों के भाषण भी सुने। इनके अतिरिक्त खोतान और चीन के बीच बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में विद्वानों का सम्पर्क हुआ। खोतान से बौद्ध विद्वान चीन गए और वहां बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। फ-लिंग नामक एक भिक्षु खोतान से प्रसिद्ध 'अवतंशक सूत्र' नामक प्रसिद्ध बौध धार्मिक ग्रन्थ ले गया जिसका अनुवाद ४१८ नामक भिक्षु खोतान से 475 में चीन ले गया जहां 490 में धर्ममति द्वारा उसका अनुवाद हुआ।

तांग काल में भी खोतान से बौद्ध धर्म का प्रसारण तथा धार्मिक अनुदान होता रहा। खोतान से शिक्षानन्द नामक एक प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान 695 में चीन गया जहां वह अपनी मृत्यु के समय 710 तक रहा। इस 15 वर्ष की अवधि में उसने 19 ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया जिसमें सबसे वृहत—'महावैपुल्य अवतंशक सूत्र'—80 अध्यायों में था। चीनी स्रोतों में खोतान की बुद्ध यात्रा का भी उल्लेख मिलता है जिसमें गोमती विहार के भिक्षु प्रमुख रूप से भाग लेते थे। इसका विस्तृत रूप से फाइयान ने उल्लेख किया है तथा इसमें शासक भी अपना अभिवादन करता था और इसमें बुद्ध की प्रतिमा को

राजकीय सम्मान मिलता था। य्वांग-चांग ने तो खोतान तथा उसके 100 विहारों और 5000 भिक्षुओं का उल्लेख किया है।

खोतान राज्य अपने चरम काल में नि-झंग (वर्तमान नीया) तक पूर्व में और सो-क्यू (चोक्कक) तक पश्चिम में विस्तृत था तथा इसमें पांच-छः छोटे राज्य सम्मिलित थे। योत्कन अथवा खोतान, जो राजधानी थी, में बौद्ध धर्म सुन्दर मूर्तियां भी गंधार कला का प्रतीक थीं। इसके अतिरिक्त दन्दान उलिक से बहुत सी महत्वपूर्ण अवशेष तथा मूर्तियां प्राप्त हुईं। कुछ दीवारों पर चित्र भी मिले तथा नीचे ब्राह्मी में लेख थे। दो प्रसिद्ध महायान ग्रन्थों में संस्कृत में 'प्रज्ञापारमिता' तथा 'वज्रछेदिका' विशेषतया उल्लेखनीय है। पूर्व में नीया जो बहुत प्रसिद्ध बौद्ध केन्द्र था, पुरातात्विक अन्वेषण तथा उत्खनन से प्राप्त अवशेषों के लिए बहुत प्रसिद्ध था। यहां पर बहुत से लकड़ियों की तख्तियों पर लिखे लेख मिले जो खरोष्ठी लिपि में है जिनमें बहुत से भारतीय नाम हैं जैसे भीम, अर्जुन, वंगुसेन, नन्दसेन इत्यादि, तथा इनके आधार पर वहां के सांस्कृतिक जीवन तथा बौद्ध धर्म पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जा सकता है। बौद्ध भिक्षुओं के जीवन का यह अच्छा चित्रण करते हैं जो आगे दिया जायेगा। नीया के अतिरिक्त य्वांग-चांग तु-हो-लो वर्तमान इन्देरे में भी बहुत से लेख तथा ग्रन्थ मिले हैं जो नीया से प्राप्त लेखों की भांति लकड़ी की तख्तियों पर लिखे हैं। इनके अतिरिक्त एक बौद्ध स्तूप के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इसके पूर्व में चे-मे-तो-न (चलमदन) का उल्लेख नीया से प्राप्त एक खरोष्ठी लेख में है जिसकी समानता वर्तमान शेरचेन से की जाती है। यहां पर अन्वेषण में बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले जिससे प्रतीत होता है कि यह भी बौद्ध धर्म का एक केन्द्र था जो दक्षिणी रेशम मार्ग पर स्थित था। इससे पूर्व में न-फो-पो (प्राचीन लू-लान) था जो लोवनोर क्षेत्र में रहा होगा तथा तुन-हुआंग और पश्चिमी देशों—नीया तथा खोतान के बीच में होगा। इन वृतान्तों में इस प्रान्त का नाम शान-शान दिया है जिसमें दो प्रमुख नगर—यु–नि (पुराना नगर) और यि-ड्.सियुन (नया नगर) थे जिनको तिब्बती ग्रन्थों में वृहत् नोब तथा छोटा नोब कहा गया है। खरोष्ठी लेखों में लू-लान को क्रोरैना अथवा क्रोरमिन कहा गया है। यह बौद्ध धर्म तथा भारतीय संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। फाइयान ने इसका उल्लेख किया है। उसके कथनानुसार यहां कोई 4000 भिक्षु रहते थे जो हीनयान मत के अनुयायी थे पर साधारण जनता

बौद्ध होते हुए भी धार्मिक नियमपालन में तटस्थ नहीं थीं। क्रोरैना के विभिन्न स्थानों से बहुत से खरोष्ठी अभिलेख प्राकृत में लिखे मिले हैं और इनमें भी नीया से प्राप्त लेखों की भांति बहुत से भारतीय नाम मिलते हैं जैसे आनन्दसेन, भक्तिसेन, बुधमित्र, धनपाल, चरक, वासुदेव इत्यादि तथा कुछ स्थानीय भी है। यहां का प्रमुख केन्द्र मिरान है जहां से प्राप्त मूर्तियां तथा अन्य कलाकृतियां गंधार कला पर आधारित हैं, पर जो भित्तचित्र है उनपर पाश्चात्य प्रभाव प्रतीत होता है। यह यूनानी प्रभाव है, तथा इनका विवरण विस्तृत रूप से 'कला' के अध्याय में किया जायेगा। रेशम के पटों पर कुछ खरोष्ठी में लेख हैं। यह पट बौद्ध धार्मिक स्थानों पर किसी व्यक्ति की रुग्न अवस्था से अच्छा होने पर अर्पित किए जाते थे। अतः इनसे बौद्ध धर्म के प्रति जनसाधारण की आस्था का पता चलता है। जिनके नाम इनपर अंकित हैं उनमें बहुत से भारतीय हैं जैसे असगोस (अश्वघोष), चरक, समनए (श्रमनक) इत्यादि। चीनी स्रोतों के अनुसार अन्तिम लेख 312–13 का है। अतः भित्तचित्र एवं रेशम पर बने चित्र भी इसी काल के रहे होंगे।

कूचा और कुमार जीव[20]

चीन जाने के लिए उत्तरी मार्ग पर कूचा सबसे वृहत् बौद्ध केन्द्र था जहां बौद्ध धर्म का प्रवेश ईसवी की प्रथम शताब्दी तक हो चुका था। ईसवी की तृतीय शताब्दी से यहां बौद्ध धर्म, संस्कृति तथा शिक्षा और विद्वानों का पूर्ण रूप से विवरण मिलता है। त्सिन वंश के वृतान्तों से पता चलता है कि उस काल (265–316) में यहां लगभग एक सहस्त्र (1000) बौद्ध स्तूप और मन्दिर-विहार थे तथा इसी समय से यहां के बौद्ध भिक्षुओं ने चीन जाना आरम्भ कर दिया था। कूचा राजवंशीय पो-येन एक बौद्ध भिक्षु के रूप में 252–260 तक चीन में रहा और लो-यांग के प्रसिद्ध मन्दिर पो-म-स्से में उसने षट् बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। उसके बाद एक दूसरा कूचा वंशीय पो-श्रीमित्र 307–12 में चीन गया पर वहां की राजनैतिक अस्थिरता के कारण वह दक्षिण चीन चला गया और 335–342 के काल में उसने तीन बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया। एक अन्य कूचीय राजकुमार पो-येन 273 में लियांग-चाऊ गया। वह भी एक विख्यात बौद्ध विद्वान था और कई विदेशी भाषाओं का ज्ञाता था, पर उसने किसी ग्रन्थ का अनुवाद नहीं किया था। ईसवी की

चौथी शताब्दी में कूचा बौद्धिक गतिविधियों के लिए प्रसिद्ध था और चीनी ग्रन्थों के अनुसार कूचा ने उस समय पूर्णतया बौद्धनगर का रूप ले लिया था। शासक का प्रासाद एक बौद्ध विहार बन गया था जिसमें बहुत सी पत्थर की बौद्ध मूर्तियां स्थापित थीं। यहां बहुत से विहार थे जिनमें कुछ विशेष रूप से राजकीय थे। ता-शु विहार में 170 भिक्षु थे, पो-शन अथवा चे-हु-ली में कोई 50–60 भिक्षु थे तथा उच-तुरफान के शासकीय विहार में 70 भिक्षु थे। यह सब विहार फु-तु-शे-पि अथवा बुद्धस्वामिन् की अध्यक्षता में थे। भिक्षुओं को हर तीसरे मास अपना निवास स्थान बदलना पड़ता था पर शासकीय विहार में केवल वही रात्रि भर ठहर सकता था जिसने कम से कम पांच वर्ष पहले बौद्ध धर्म में दीक्षा ली हो। राजकीय विहार में क्यू-क्यू (कुमार) नामक एक प्रसिद्ध महायानी मत का विद्वान था। उसका गुरु बुद्धस्वामिन् स्वयं हीनयान मत का अनुयायी था। कूचा में भिक्षुणियों के भी विहार थे। अ-लि (आरण्यक) विहार में 180 भिक्षुणी थी तथा ल्यून-जन-कन तथा अ-लि-पो में क्रमशः 50 और 30 भिक्षुणी थीं। इन सबका अध्यक्ष भी बुद्धस्वामिन् था। यह सब भिक्षुणी पामीर के पूर्वीय क्षेत्र के राजकीय वंशीय एवं अन्य उच्चकुलीन व्यक्तियों की पत्नी अथवा पुत्री थीं। वे भी तीन मास से अधिक किसी एक विहार में नहीं रहती थीं तथा उनका जीवन पूर्णतया नियंत्रित था।

कुमार अथवा कुमारजीव कूचा का सबसे प्रसिद्ध विद्वान था जिसकी ख्याति उसकी विद्वता के कारण सम्पूर्ण मध्य एशिया एवं चीन और पूर्वी जगत में फैली हुई थी। कुमारजीव का जीवन वृतान्त बड़ा ही रोचक है और इससे कूचा में बौद्ध धर्म की वास्तविक स्थिति का पूर्ण रूप से प्रसरण का पता चलता है। यह जीवन वृतान्त चीनी स्रोतों द्वारा ही प्राप्त है। उसका पिता कुमारायन कश्मीर का रहने वाला था तथा उसका सम्बन्ध राज्य के अमात्य वर्ग से था। साधारणतया वह भी मंत्री बनता पर अपने सम्बन्धियों के हित में उसने यह पद ग्रहण न किया और बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर वह विदेश चला गया। पामीर के दुर्गम भागों को पार करता हुआ वह कूचा पहुंचा जहां के शासक ने उसका भव्य स्वागत किया और उसे राजगुरु बना दिया। प्रासाद की एक राजकुमारी उससे प्रेम करने लगी और कुमारायन का उससे विवाह हो गया। इस सम्बन्ध ने कुमारजीव को (350 ई० में) जन्म दिया और इससे थोड़े समय बाद उसकी मां जीवा बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर भिक्षुणी बन गई।

कुमारजीव कूचा से 40 ली उत्तर में त्सिओ-ली विहार में रहने लगा जहां उसने संस्कृत भाषा का अध्ययन किया। इस समय कुमारजीव केवल सात वर्ष का था और तभी से वह धार्मिक ग्रन्थों को कंठस्थ करने लगा। पहले उसने बहुत से सूत्र तथा 1000 गाथाएं कंठस्थ कीं और फिर अभिधर्म का अध्ययन आरम्भ किया। 9 वर्ष की अवस्था में उसकी मां जीवा उसे साथ लेकर कश्मीर गई जहां बंधुदत्त नामक विद्वान के साथ उसने अध्ययन आरम्भ किया। गुरु ने इस बालक को 'मध्यम' तथा 'दीर्घनिकाय' पढ़ाया। तीन वर्ष के अध्ययन के बाद वह अपनी मां के साथ कूचा लौट आया। लौटते समय वह काशगर में एक वर्ष ठहरा जहां उसने बुद्धयश के सम्पूर्ण 'आर्यधर्मपिटक' तथा चारों वेद, पांचों विज्ञान, ब्राह्मण धर्म के शास्त्र एवं ज्योतिष का अध्ययन किया तथा 'शतशास्त्र' और 'माध्यमक शास्त्र' भी पढ़ा। उसका ज्ञान इतना बढ़ गया था कि सूर्यसोम और सूर्यभद्र नामक दो सो-क्यू (चोक्कुक) राजवंशीय कुमारों ने उससे बौद्ध धर्म में दीक्षा लेकर अध्ययन कार्य आरम्भ किया। कदाचित् यह प्रतीत होता है कि स्वाध्ययन तथा अध्यापन कार्य में उसे काशगर में अधिक समय ठहरना पड़ा होगा।

काशगर छोड़ने के बाद कुमारजीव अपनी मां के साथ वेन-सु (उच-तुरफान) पहुंचा जो कूचा राज्य की उत्तरी सीमा पर था। यहां उसने वाद-प्रतिवाद में एक ताओ विद्वान को पराजित किया। इससे उसकी ख्याति और भी बढ़ गई और कूचा का शासक पो-शुन उसको कूचा ले जाने के लिए स्वयं उच-तुरफान आया। एक राजकुमारी अक्षयमती ने भी बौद्ध दीक्षा लेकर कुमारजीव से 'महासन्निपात' तथा 'महावैपल्य सूत्रों' का भिक्षुणी के रूप में अध्ययन किया। 20 वर्ष की आयु प्राप्त करने पर कुमारजीव पूर्ण रूप से बौद्ध भिक्षु हो गया। उस समय कूचा में कोई 10,000 बौद्ध भिक्षु थे और कुमारजीव पो-शुन नामक नव विहार में रहने लगा। उसे विहार के निकट पुराने प्रासाद में 'पंचविशंति-साहस्त्रिका प्रज्ञापारमनिता' की हस्तलिखित पोथी प्राप्त हुई जिसका अध्ययन उसने किया। महायान सूत्रों का उसे सम्पूर्ण ज्ञान था और इनकी व्याख्या वह त्सियो-ली विहार में करता था। सरवास्तिवादिन मत के सूत्रों में भी कुमारजीव पारंगत था और बाद में उसने इसके 'विनय' का चीनी भाषा में अनुवाद किया। कूचा इस मत के अध्ययन का भी केन्द्र था तथा कश्मीर से विमलक्ष नामक एक विद्वान यहां आया था। कुमारजीव ने उसका स्वागत किया।

उसने विमलक्ष के साथ सरवास्तिवादिन विनयपिटक का अध्ययन किया। कुमार-जीव की माता भिक्षुणी जीवा अपने पुत्र की ख्याति से संतुष्ट होकर शासक की अनुमति से भारत आ गई जहां उसने अपने जीवन के शेष दिन बिताए। 382 में लु-कुआंग की अध्यक्षता में चीनी सैनिक दल ने कूचा पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर दिया तथा बहुत से बन्दी बना लिए। इन बन्दियों में कुमार-जीव भी एक था जिसके साथ पहले तो लू-कुआंग ने अशिष्ट व्यवहार किया पर बाद में उसकी विद्वता ने चीनी सेनापति को मान्यता प्रदान करने पर बाध्य किया और उसके साथ सम्मान तथा आदर का व्यवहार किया। उसे लिआंग-चाऊ में 401 तथा रखा गया पर चीनी सम्राट् के आग्रह पर उसे चंग-न्गन लाया गया जहां वह अपनी मृत्युकाल (413) तक रहा। यही स्थान उसका कार्यक्षेत्र बन गया और उसने लगभग 100 बौद्ध ग्रन्थों का संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद किया। नान्-जी-ओ ने अपनी चीनी बौद्ध ग्रन्थ सूची में इनमें से 40 का उल्लेख किया है। सबसे प्रसिद्ध, 'संदर्भ पुण्डरीक' है जिसमें बुद्ध को सर्वोच्च माना है तथा इस ग्रन्थ के अनुसार कोई भी बौद्ध बुद्ध जी की शिक्षाएं, अच्छे कर्म तथा बुद्ध जी के शारीरिक अवशेषों की पूजा एवं स्तूप निर्माण द्वारा बुद्धावस्था को प्राप्त कर सकता है। 'महाप्रज्ञापारमितसूत्र' में बोधिसत्व के लिए बुद्धिज्ञान प्राप्त करने के साधनों का उल्लेख है। 'सुखावती व्यूह' में स्वर्ग का उल्लेख है।

कुमारजीव और चीनी यात्री फाइयान एक दूसरे के समकालीन थे। कहा जाता है कि कुमारजीव इस चीनी यात्री का गुरु था तथा उसी की प्रेरणा से उसने अपनी यात्रा के संस्करण लिखे। जो ग्रन्थ चीनी यात्री अपने साथ लाया था उनका सम्पादन भी उसने एक भारतीय बौद्ध विद्वान पलटसंग की सहायता से किया। एक अन्य भारतीय विद्वान भद्र की सहायता से उसने 'संग-कि-लु' (असंगख्येय विनय) का अनुवाद किया। कुमारजीव ने अपना चीनी नामकरण क्वान-शी-यिन (Kwan-Shi-Yin) रखा तथा उसकी ख्याति बौद्ध जगत में बहुत काल तक फैली रही। कुमारजीव के साथ विमलक्ष नामक एक अन्य कूची विद्वान भी था जो पहले कूचा में रहता था तथा 404 में वह इस विद्वान के पास चीन गया। थोड़े समय बाद एक अन्य भारतीय विद्वान धर्ममित्र कूचा गया और कुछ वर्ष वहां रहने के बाद वह तुन-हुआंग गया। वहां से वह 424 में चीन की राजधानी पहुंचा। कुमारजीव के निजी मित्रों में बुद्धयश नामक

एक कश्मीरी विद्वान था जिसके साथ उसने अध्ययन किया था तथा बाद में वह भी कुमारजीव का सहयोगी बनकर चीन में रहने लगा। इसने 'अगम सूत्र' (चंग-अ-हन-किंग) तथा चारों भागों का विनय (सि-फुन-लू) का अनुवाद किया। एक और कश्मीरी विद्वान बुद्धभद्र भी कुमार जीव की विद्वता के कारण उसकी ओर आकर्षित हुआ। इस प्रकार कूचा तथा चीन दोनों ही स्थानों में कुमारजीव स्वयं बौद्ध धर्म और संस्कृति का केन्द्र था तथा दूर दूर से विद्वान आकर्षित होकर उसके पास आते थे। उसने तारिम की घाटी तथा चीन में बौद्ध धर्म का दृढ़ता से प्रसरण किया और धार्मिक ग्रन्थों का मूल रूप से चीनी में अनुवाद किया व अन्य पूर्व अनुवादित ग्रन्थों में संशोधन तथा परिवर्तन किया। बौद्ध धर्म में माध्यमिक दार्शनिक विचारधारा का वह मुख्य प्रवर्तक था और अनुवादित ग्रन्थों द्वारा इस मत का चीन में प्रवेश हुआ।

कूचा-चीन में अन्य भारतीय विद्वान

कुमारजीव के बाद दो अन्य भारतीय विद्वान धर्मुंरक्ष और गुणभद्र थे जिन्होंने चीन में अनुवाद का कार्य किया था। यह दोनों क्रमशः 433 और 436 में चीन गए थे। भारतीय धर्मुंरक्ष अपने साथ में 'निर्वाण सूत्र' की संस्कृत में एक पोथी ले आए थे तथा कौशंग में जाकर उन्होंने चि-मेग की प्रतिलिपि से उसका तुलनात्मक अध्ययन किया। धर्मरक्ष ने अश्वघोष के 'बुद्ध चरित्र' का अनुवाद किया जो मूल से भी अधिक विस्तृत था। गुणभद्र ने 'संयुक्तागम' का अनुवाद किया। इसकी मूल प्रतिलिपि फाइयान अपने साथ लंका से लाया था।[21] भारतीय विद्वान प्रायः कूचा होकर ही चीन जाते थे और इससे यह प्रतीत होता है कि मध्य एशिया के उत्तरी मार्ग पर स्थित यह स्थान बौद्ध धर्म तथा संघ का बहुत बड़ा केन्द्र था। छठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में धर्मगुप्त नामक एक अन्य भारतीय विद्वान कूचा गया जहां वह राजकीय विहार में दो वर्ष रहा। कूचा का शासक महायान मत का अनुयायी था और इस कारण धर्मगुप्त से उसका विशेष रूप से स्नेह हो गया। धर्मगुप्त ने वहां 'तर्कशास्त्र' सहित बहुत से शास्त्रों का पाठन किया और फिर वहां से चीन गया। चीनी यात्री य्वांग-चांग भी भारत आते समय 630 में कूचा गया था और उसके वृतान्त के अनुसार उस समय वहां कोई 100 विहार थे जिसमें 5000 भिक्षु रहते थे। यह सब सरवास्तिवादिन् मत के अनुयायी थे। वे बौद्ध

रीतियों तथा नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे तथा उन्होंने मूल संस्कृत में ग्रन्थों का अध्ययन किया था। यहां से 40 ली की दूरी पर दो और विहार थे जिनमें चाओ-हू-ली में बुद्ध जी की एक सुन्दर मूर्ति स्थापित थी। नगर के पश्चिमी द्वार के बाहर बुद्ध जी की कोई 10 फीट ऊंची दो मूर्तियां थीं जिसके सम्मुख प्रांगन में पंचवर्षीय संगिति हुआ करती थी। उसके निकट अ-शे-लि-नी नामक एक और प्रसिद्ध विहार था जहां दूर दूर से बौद्ध भिक्षु आते थे। य्वांग-चांग ने इसका भी वर्णन किया है। इसका प्रधानाचार्य मो-च-क्यू-टो (मोक्ष-गुप्त) था जिसके पास चीनी यात्री ठहरा था। अपनी विद्वता के कारण वह सभी लोगों का मान्य पात्र था। उसने भारत में 20 वर्ष भ्रमण करके अध्ययन किया था और 'शब्द विद्याशास्त्र' में वह पारंगत हो गया। य्वांग-चांग के वृतान्त से यह भी प्रतीत होता है कि कूचा में उस समय बौद्ध ग्रन्थों का बड़ा अच्छा संग्रहालय था और 'संयुक्त हृदय', 'अभिधर्म कोश' तथा 'विभाषा' इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ उसमें थे। शासक और प्रजा दोनों की ही बौद्ध धर्म में बड़ी श्रद्धा थी तथा प्रति वर्ष बुद्ध जी की मूर्तियों की रथ यात्रा का समारोह होता था जिसमें सहस्त्रों व्यक्ति सम्मिलित होते थे। बौद्ध विद्वानों का भी सभी लोग बड़ा आदर करते थे तथा विशिष्ट पर्वों पर प्रशासकीय कार्य बन्द रहता था। शासक कोई नया आदेश देने से पहले प्रमुख बौद्ध भदन्तों से मंत्रणा ले लेता था। कूचा में बौद्ध धर्म आठवीं शताब्दी तक विकसित रहा। 751 में वु-कोंग यहां आया। उसके कथनानुसार यहां पर बौद्ध धर्म और संगीत उस समय भी विकसित था[22]। उसने एक भदन्त का उल्लेख किया है जो कूची, चीनी तथा संस्कृत का विद्वान था और तीनों भाषाओं को अच्छी तरह बोल सकता था। इसका नाम वु-टीथति-सि-यु (उत्पलवीर्य) था। वु-कोंग के अनुग्रह पर उसने 'दशवल सूत्र' तथा दो और ग्रन्थों का अनुवाद किया। इस कार्य में उसे एक खोतानी भिक्षु शीलधर्म का भी सहयोग मिला था।

अन्य क्षेत्रों में बौद्ध धर्म

कूचा के अतिरिक्त दो निकटवर्ती राज्य—कर्शाहार तथा आक्षु—में भी य्वांग चांग के मतानुसार बौद्ध धर्म पूर्णतया विकसित था। कर्शाहार में उस समय 10 विहार तथा 2000 भिक्षु रहते थे जो हीनयान के सरवास्तिवादिन मत के अनुयायी थे। आक्षु में भी 10 विहार थे तथा कोई एक सहस्त्र भिक्षु

थे। दोनों राज्यों के भिक्षु तथा तुरफान के बौद्ध संघ कूचा के अधीन थे और वहीं के प्रधानाचार्य का आधिपत्य स्वीकार करते थे। इन दोनों राज्यों के भिक्षु अध्ययन के लिए कूचा जाते थे जहां पर शासकों द्वारा निर्मित विहारों में वे रहते थे। वेन-सु (उच-तुरफान) के शासक द्वारा कूचा में निर्मित विहार का उल्लेख चीनी स्रोतों में मिलता है। यह केवल वहीं के बौद्ध भिक्षुओं के लिए बनाया गया था। तुरफान का बौद्ध संघ जो पहले कशग़िर और कूचा पर धार्मिक मामलों में आधारित था, पांचवीं शताब्दी से चीनी प्रभाव में जाने लगा और यह सातवीं शताब्दी तक रहा पर बौद्ध धर्म उसी प्रकार से जनता तथा शासकों में प्रिय रहा। युवांग-चांग के आगमन के समय वेन-ताई तुरफान का शासक था। उसने चीनी यात्री का भव्य स्वागत किया तथा उसे प्रासाद के निकट एक विहार में ठहराया गया जहां उसे एक चीनी बौद्ध विद्वान मिला जिसने चंग-लान में अध्ययन किया था। वेन-ताई स्वयं बौद्ध था और उसने चीनी यात्री को वहीं रह जाने का आग्रह किया पर वह केवल एक मास ही तुरफान में ठहरा तथा वहां 'प्रज्ञापारमिता' की व्याख्या की। इसके लिए विशेष रूप से प्रबन्ध किया गया। एक मंच बनाया गया जिसपर व्याख्यान का आयोजन हुआ और शासक, उनकी पत्नी तथा अन्य प्रमुख व्यक्तियों ने उसे ध्यानपूर्वक सुना। यह कार्यक्रम एक मास तक प्रतिदिन चलता रहा। वहां से प्रस्थान करने पर सम्राट् ने उसे विदाई दी तथा निकटवर्ती और पश्चिम के तुर्की शासकों के नाम परिचय पत्र भी दिए। तुरफान से मिले चीनी लेखों में जनता पर बौद्ध धर्म के प्रभाव का उल्लेख है। इनमें जीवक नामक एक भिक्षु का भी उल्लेख है।

उईगुर शासक एवं बौद्ध धर्म

उईगुर शासकों के समय में भी बौद्ध धर्म विकसित था। यह तुर्की शासक तुखारिस्तान में ही बौद्ध धर्म से परिचित हो गए थे और इस परम्परा को उन्होंने अपने साथ कायम रखा। मध्य एशिया के उत्तरी क्षेत्र में बौद्ध धर्म के पूर्णतया विकसित होने से इन शासकों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। जब उन्होंने नवीं शताब्दी में तुरफान को राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित किया उस समय कूचा– कशग़िर की प्राचीन सभ्यता नष्ट हो चुकी थी। उईगुर शासकों ने बौद्ध धर्म और संस्कृति से अपने को विमुख नहीं किया। उनका

साम्राज्य ईसवी की 11 वीं शताब्दी तक रहा और यद्यपि उन्होंने नई सभ्यता को विकसित किया पर इसमें बौद्ध धर्म का समुचित स्थान था। बहुत से तुखारी बौद्ध ग्रन्थों का उईगुर में अनुवाद हुआ और यह तुर्कों के सबसे प्राचीन साहित्य ग्रन्थ हैं। तुरफान क्षेत्र में बहुत से प्राचीन बौद्ध स्थानों के अवशेष मिले हैं। बजाक्लिक से प्राप्त चूने-मिट्टी (stucco) की बनी बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियां गंधार कला पर आधारित हैं। काशहार और शोरचुक में भी प्राचीन बौद्ध सभ्यता के अवशेष मिले हैं। यहां पर बौद्ध कला के प्रतीक कुछ भारतीय तथा कुछ सासनी ईरानी प्रतीत होते हैं। प्राचीन व्यापारिक तथा यातायात के मार्ग पर अन्य स्थानों में भी बौद्ध सभ्यता और कला के प्रतीक तथा अवशेष मिले हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत रूप से 'कला' के अध्याय में विचार किया जायेगा।

अभिलेखों में बौद्ध धर्म

खरोष्ठी लेखों से चीनी तुर्किस्तान में भारतीय बौद्ध धर्म के स्वरूप का चित्रण होता है। लू-लान, इन्देरे तथा नीया से प्राप्त अभिलेख बौद्ध भिक्षुओं के जीवन पर प्रकाश डालते हैं जो भारतीय भिक्षुओं के जीवन से भिन्न था। एक लेख (नं० 390) में महायान सम्प्रदाय का उल्लेख है (सुनम-परिकिर्तितस महायान सम्प्रसतिथि तस)। फाइयान के समय में ही हजारों की संख्या में बौद्ध भिक्षु धार्मिक सम्मेलनों में भाग लेते थे पर वे सब महायान मत के अनुयायी थे। इसके विपरीत कूचा में सरवास्तिवादिनों के 1000 संघाराम थे जिनमें पांच हजार भिक्षु रहते थे। यहां पर कुमारजीव के प्रभाव से महायान मत का प्रसरण हुआ पर य्वांग-चांग के समय में भी कूचा में सरवास्तिवादिनों की प्रधानता थी। खोतान में फाइयान के समय में हीनयान की प्रभुता थी।[23] बोधिसत्व का उल्लेख लेख (नं० 288) में मिलता है। इसका सम्बन्ध महायान मत से था जो सभी बौद्ध भिक्षु प्राप्त कर सकते थे तथा उनका उद्देश्य लोक कल्याण के लिए सदैव ही यत्नशील रहना था। सभी बोधिसत्व करुणावान होते थे। एक लेख (नं० 288) में 'बोधिसत्व' का उल्लेख है (देवमंनुश–संपुजितस प्रयछ बोधिसत्व मह चोझवो सोचंक)। बोधिसत्व बुद्ध स्थिति प्राप्त करने में लगे रहते थे और इनका उल्लेख महायान मत के सन्दर्भ में मिलता है। इनका आदर्श संसार में रहकर

दुखी व्यक्तियों के दुख विनाश तथा निर्वाण प्राप्ति का सतत प्रयत्न करना था। महायान साहित्य में बहुत से बोधिसत्वों का उल्लेख मिलता है। मध्य एशिया से प्राप्त खरोष्ठी लेखों में बोधिसत्व का कहीं और उल्लेख नहीं मिलता है, पर स्टाइन को खोतान से प्राप्त प्राचीन ग्रन्थों में बोधिसत्व प्रज्ञाकूट का नाम मिला।[24] लेखों में बौद्ध त्रिरत्न-बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति श्रद्धा और सम्मान का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। एक लेख (नं० 511) में 'प्रत्येक बुद्ध' का उल्लेख है (प्रत्येक बुद्ध च विवेगय आथित एकाभिराम गिरिवंतरालय एवकर्थ)। पर्वती गुफाओं के एकान्त स्थान में यह अपने ही उद्देश्य में लीन रहते थे। एक लेख (नं० 157) में 'मत्तो' नामक एक देवता का उल्लेख है जिनके लिए अरि कुनगेय ने गायों की बलि दी थी। पहले तो इस देवता के लिए एक पुल पर गायों की बलि की गई थी पर उसी व्यक्ति ने स्वप्न देख कि देवता ने इसे स्वीकार नहीं किया है, अतः एक 'वि तो' गाय की 'एखट' मोतज्ञेय के खेत में बलि करने का आदेश दिया गया है। बौद्ध धर्म का उद्‌भव ही ब्राह्मणों के समाज में आधिपत्य तथा बलियों के विरोध को लेकर हुआ था, अतः इसका बौद्ध धर्म के मूल सिद्धान्तों से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है और यह कोई स्थानीय देवता के प्रति अन्य विश्वास का एक उदाहरण मालूम होता है। मध्य एशिया में अन्ध विश्वास का विवरण एक अन्य लेख (नं० 565) से भी ज्ञात होता है। इसमें पशुओं तथा कौआ, , बन्दर, चूहा इत्यादि के नाम पर नक्षत्रों का उल्लेख है तथा प्रत्येक के साथ किसी कार्य करने को कहा गया है जैसे गाय नक्षत्र में सर धोना तथा भोजन करके गाना चाहिए और बाघ नक्षत्र युद्ध के लिए है, इत्यादि। इन अन्ध विश्वासों ने बौद्ध धर्म में प्रवेश करके उसके वास्तविक रूप पर जन प्रभाव डाला था। यहां के बौद्धों– मुख्यतया श्रमण और भिक्षुओं का जीवन भी विभिन्न था। लेखों में उद्धृत श्रमन, श्रंमन और श्रमंन का उल्लेख है (नं० 265, 345) जो संस्कृत के श्रमण के ही रूप हैं और इनसे बौद्ध भिक्षुओं का संकेत है और उनके लिए 'भिछु ' शब्द का प्रयोग किया गया है। इनका जीवन भारतीय बौद्ध भिक्षुओं की चर्या से भिन्न था। उनका अपना परिवार था तथा वे गृहस्थ की भांति पत्नी, बच्चे तथा धन उपार्जन के वातावरण में रहते थे। एक लेख (नं० 500) में एक बौद्ध भिक्षु द्वारा 2800 माशा दिए जाने का उल्लेख है। बहुत से लेखों में इनके द्वारा भूमि, दास तथा कन्याओं के क्रय-विक्रय का

विवरण है। यह विलास के साथ अपना जीवन व्यतीत करते थे तथा रेशमी वस्त्र पहनते थे।

गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी बौद्ध भिक्षुओं को उनके लिये निर्धारित नियमों और सिद्धान्तों को पालन करना पड़ता था। लेख नं0 489 में राजधानी के भिक्षुगण ने चड़ोटा के भिक्षुओं के लिए नियम बनाए थे, क्योंकि नव दीक्षित भिक्षु अपने से बड़े भिक्षु की आज्ञा अथवा आदेश पर ध्यान नहीं देते हैं और उनकी अवहेलना करते हैं। इसलिए शासक ने संघ की अव्यवस्था के कारण विहारों के प्रशासन के लिए प्रशासक नियुक्त किये। इनके द्वारा सभी संघ के वाद-विवादों का निपटारा तथा भिक्षुओं में शान्ति व्यवस्था स्थापित रखने का प्रयास किया गया। संघ के किसी भी कार्य में भाग न लेने पर भिक्षु को दंड के रूप में रेशमी कपड़े का एक थान देना अनिवार्य था। 'पोसथ' नामक धार्मिक बैठक में अनुपस्थिति का दंड भी रेशमी कपड़े का एक थान था तथा यदि उसमें सम्मिलित होने के लिए भिक्षु गृहस्थ के वस्त्र पहनकर आवे तो उसे भी एक रेशमी कपड़े का दंड देना पड़ता था। इसके अतिरिक्त यदि कोई भिक्षु दूसरे भिक्षु पर मुष्टि से वार करे तो निम्न, साधारण तथा गहरी चोट के आधार पर पांच, दस तथा पन्द्रह रेशमी थान दंड के रुप में देने पड़ेंगे। इन नियमों से संघ में अनुशासन तथा एकता का प्रमाण मिलता है। इसका उल्लेख चीनी यात्रियों ने भी किया है। फाइयान ने खोतान के संघारामों में आगंतुक भिक्षुओं के आथित्य की प्रशंसा की है[25] तथा युवांग-चांग ने भी काशगर के सहस्रों सरवास्तिवादिन भिक्षुओं की जीवनचर्या का वर्णन किया है।

लेखों में भिक्षुओं के विवाह का का भी उल्लेख मिलता है जो साधारण वर्ग में भी हो जाता था तथा उसी भिक्षु वर्ग के व्यक्ति भी आपस में इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित कर लेते थे। भिक्षु बुद्धवर्मा की कन्या का विवाह भिक्षु जिवलो अठम के साथ हुआ था (नं० 418), पर श्रमन-सुन्दर की कन्या ने एक कुम्हार (कुलाल) के पुत्र के साथ विवाह कर लिया था (नं0 621)। 'लोते' तथा 'मुकेषी' लेने की प्रथा भिक्षु वर्ग में भी प्रचलित थी। एक लेख (नं0 474) के अनुसार 'लोते' और 'कुकेषी' देकर किए गए विवाह की सन्तान ही सम्पत्ति की अधिकारी हो सकती थी। यह भिक्षु साधारण रूप से वैवाहिक जीवन व्यतीत करते थे और लेखों में बहुत से भिक्षु पुत्रों तथा पुत्रियों का

उल्लेख मिलता है। भिक्षु सारि पुत्र ने एक कन्या को गोद लिया था (नं0 144) तथा बुद्ध मित्र ने पत्नप नामक बालक को दूध का मूल्य देकर गोद लिया था। एक लेख (नं0 437) में भिक्षु कन्या के विक्रय का भी उल्लेख है जो बुद्धसेन ने 5 दिष्ट ऊंची कन्या को 45 मुर्लो के मूल्य पर खरीदा था। इस आधार पर यह प्रतीत होता है कि भिक्षु वर्ग स्वतः सम्पत्ति भी रखते थे जिसका वह स्वतंत्र रूप से क्रय-विक्रय करते थे। उनके द्वारा भूमि का बेंचना तथा विनिमय में शराब तथा बुने हुए वस्त्रों को मिवने का उल्लेख है (नं0 652)। एक अन्य लेख में भिक्षु बुधशिर और उसके पुत्र बुधोश द्वारा अंगूर और मिसी जोती हुई भूमि का दूसरे भिक्षु के हाथ बेंचने का उल्लेख है (नं0 655)। भिक्षुओं के पास दास भी रहते थे (नं0 345) तथा वे स्वयं भी दास का कार्य करते थे। उनको अपने दोष तथा अवगुणों के कारण न्यायालय में जाना पड़ता था। विधान के विपरीत किए गए कार्यों के वे उत्तरदायी था जैसे किसी श्रमिक से बिना उसकी मजदूरी दिए काम लेना (नं0 655) अथवा वधुशुल्क न देना (नं0 474) जिसके लिए उन्हें न्यायालय के सम्मुख जाना पड़ता था। भिक्षु वर्ग का प्रशासन से भी सम्बन्ध रहता था। कई लेखों में उनकी नियुक्तियों का उल्लेख है जैसे कर के रूप में अनाज एकत्रित करने के लिए भिक्षु संघप्रिय (नं0. 252), यपगु (नं0 477) तथा भिक्षु सोतय (सं0 547) की नियुक्तियां हुई थीं। एक लेख (नं0 515) में भिक्षु धर्मप्रिय को लेखक नियुक्त करने का उल्लेख है। वे दूत तथा पत्रवाहक का भी कार्य करते थे। इस प्रकार बौद्ध भिक्षु एक ओर तो सांसारिक जीवन में संलग्न थे और दूसरी ओर बौद्ध संघ के स्वरूप के नाते भिक्षु वस्त्र पहनकर सभी नियमों का पालन करते थे। उनके धार्मिक जीवन में सांसारिक कर्त्तव्य तथा गृहस्थ जीवन कोई बाधा नहीं डालते थे। बौद्ध धर्म मध्य एशिया में विस्तृत रूप से प्रचलित था और इसने लगभग एक सहस्त्र वर्ष तक वहां के विभिन्न क्षेत्रों में अपना अस्तित्व बनाए रखा।

ब्राह्मण धर्म

बौद्ध धर्म के अतिरिक्त मध्य एशिया में ब्राह्मण धर्म का भी प्रचलन था जैसा कि वहां से प्राप्त कुछ मूर्तियों तथा चित्रों से प्रतीत होता है। हिन्द-यूनानी शासकों के समय में उत्तरी पश्चिमी भारत में वैष्णव धर्म ने अपना स्थान

बना लिया था। बेसनगर (विदिसा) से प्राप्त गरुण स्तम्भ लेख[26] से हेलियो-डोरस की वासुदेव के प्रति आस्था का संकेत है। वह तक्षशिला निवासी था तथा वैष्णव मत का अनुयायी था। इस लेख की तिथि ईसा पूर्व की दूसरी प्रथम शताब्दी निर्धारित की जा सकती है। इससे यह प्रतीत होता है कि वैष्णव धर्म विदेशियों द्वारा अपनाया जा रहा था। इसी काल में आरमीनिया में कृष्ण की कथा प्रचलित थी। जेनाव के अनुसार दो भारतीय शासक—गिसेन (किसेन—कृष्ण) तथा डिमेटर (तिमेटर) ने पश्चिम में आरमीनी शासक बलरक्ष (लगभग 149—127 ई० पू०) के यहां शरण ली। 15 वर्ष बाद उनको मरवा दिया गया किन्तु इनके पुत्र तथा वंशज वहां रहते रहे और उन्होंने अपने देवता-गिसेन तथा डिमेटर के नाम पर मन्दिर बनवाये। ग्रेगरी ने भारतीयों द्वारा स्थापित इन मन्दिरों को नष्ट कर दिया।[27] इन दोनों देवताओं की समानता कृष्ण और देवमित्र से की गई है। कदाचित् गिसेन और डिमेटर की कथा कृष्ण और बलराम की मथुरा से द्वारका प्रस्थान पर आधारित रही हो। इसके अतिरिक्त कुषाण कालीन 28वें वर्ष के लेख [२८] में बकन तथा खरसलेरपति द्वारा हुविष्क की पुण्यशाला में केवल ब्राह्मणों के लिए स्थायी धनराशि के दान का उल्लेख है जो संकेत करता है कि यह मध्य एशिया निवासी ब्राह्मण धर्म से प्रभावित हो गया होगा। कुषाण शासकों में कुजुल कथफिस की मुद्राओं पर शिव और नन्दी अंकित हैं, और शिव तथा अम्बा (नना) कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव सिक्कों पर भी अंकित हैं। इनसे इन शासकों का शैव धर्म की ओर निष्ठा का संकेत है यद्यपि कुषाण शासकों, मुख्यतया कनिष्क तथा हुविष्क ने अन्य देवी देवताओं की मूर्तियां भी अपने सिक्कों पर अंकित की थीं। इन साक्ष्यों के अतिरिक्त एक अन्य लेख का उल्लेख आवश्यक है जो 1956 में ताजिकस्तान में पाया गया। इस खरोष्ठी लेख में केवल एक पंक्ति में 'नारायण जयतु' है जैसा कि पहले कहा जा चुका है। हरमाटा के अनुसार 'नारायण' शब्द विष्णु से सम्बन्धित न होकर बुद्ध के लिए है। कुछ खोतानी शक लेखों में भी इसी नाम से बुद्ध को सम्बोधित किया गया है तथा सागड़ी अभिलेखों में भी नारायण देव का उल्लेख है। तुन-हुआंग के एक चित्र में अवलोकितेश्वर के साथ में गरुढ़ पर नारायण को दिखाया गया है। वास्तव में गरुण विष्णु का वाहन है और नारायण भी विष्णु का परियायवाची है, इस-

लिए यह प्रतीत होता है कि मध्य एशिया के निवासी विष्णु और उनके वाहन के बारे में जानकारी रखते थे। यह दूसरी बात है कि जिस सन्दर्भ में इस लेख में नारायण की विजय का आवाहन किया गया हो वह वास्तव में बुद्ध के प्रति आस्था का प्रतीक हो। यहां कुछ अन्य प्रमाण प्रस्तुत है जिनसे मध्य एशिया में वैष्णव तथा शैव मतों पर प्रकाश डाला जा सकता है। एक मोहर पर एक मूर्ति अंकित है जिसकी समानता चार भुजा वाले विष्णु से की गई है जिनके हाथ में चक्र, गदा, अंगूठी के आकार की कोई वस्तु तथा एक अन्य पदार्थ है। उसके किनारे भाग पर एक लेख भी है जिसे फ्रांसीसी विद्वान ग्रिशमान नज़ ठीक पढ़ा है। यह लेख तोखारी भाषा में है तथा इसमें मिहिर, विष्णु और शिव के नाम हैं। उसके सामने वाला व्यक्ति जो एक भक्त के रूप में दर्शित है, कुषाण. शासक हुविष्क नहीं है जैसा कि कनिंघम का विचार था वरन् यह हुविष्क के दो तीन शत वर्ष बाद का कोई हेफताली सरदार हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि मध्य एशिया में ईसवी की पांचवीं शताब्दी में भी ब्राह्मण धर्म के देवताओं के प्रति आस्था थी तथा 'एक ही के अनेक रूप' में विश्वास था।[29]

मध्य एशिया में शैव मत के चलन का प्रमाण अन्य स्रोतों से भी प्राप्त होता है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान असंग (चौथी शताब्दी) ने बौद्ध धर्म धर्म तथा शैव मत को निकट लाने का प्रयास किया और बहुत से शैवी देवी देवताओं को बुद्ध तथा अवलोकितेश्वर का समर्थक बनाकर उनके साथ स्वर्ग में स्थान दिया। मध्य एशिया की साधारण जनता के लिए अष्टम मार्ग के अनुसरण की अपेक्षा सिद्धि, धारणी तथा अन्य मनोजव (जादू) के उपयोग अधिक महत्व रखते थे। इन दोनों धर्मों में कुछ समानताएं होने के कारण इन दोनों के बीच समन्वय होना कठिन न था। शैवि देवी देवताओं ने मध्य एशिया के निवासियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। कुषाण शासकों की मुद्राओं में शिव तथा अन्य शैवि देवता जैसे कार्तिकेय, कुमार, विषाख की प्रतिमाएं मध्य एशिया में इस धर्म के विकास का प्रतीक हैं। अफगानिस्तान से भी बहुत सी शैवि मूर्तियां प्राप्त हुई हैं जिनका उल्लेख अन्य स्थान पर उसी सन्दर्भ में किया जायेगा। मध्य एशिया में यह धर्म सागडियाना तथा पूर्वी तुर्किस्तान तक फैला था। पैंजीकेन्त (ताजिकस्तान) में 1962 में उत्खनन करते समय वेलेनिटसी[30] को एक भित्तचित्र मिला। इसमें शिव

के चित्र के पीछे एक चक्र है जो उनके देवत्व स्वरूप का परिचायक है। वह आलीढ मुद्रा में खड़े हैं तथा यज्ञोपवीत पहने हैं। शरीर पर चीते की खाल है। उनके नेत्रों से वीभत्स रस टपकता है। वह कई प्रकार के आभूषण पहने हैं और एक वस्त्र इनकी बाहों को ढके हैं। बायीं ओर से पिछले भाग में त्रिशूल ही चित्रित है। दोनों ओर एक एक गण हैं। बायें ओर वाले गण के मूंछ है तथा कमर से म्यान में रखी एक छोटी तलवार लटक रही है। दाहिनी ओर वाला गण धूपदानी लिए हैं। दोनों ही गणों की वेशभूषा तथा आकृति सागड़ो है। शिवजी स्वयं नृत्य मुद्रा में हैं। बायां पैर मुड़ा है पर दाहिना फैला है और दोनों हाथों से नृत्य भाव प्रदर्शित है। इस प्रकार कलाकार ने शिव को चित्रित किया और उनके रूप तथा भाव का उसे ज्ञान था।

पूर्वी मध्य एशिया में दन्दान उलिक तथा निकटवर्ती तकलामकान मरुस्थल के कुछ स्थानों से प्राप्त कुछ अवशेष इस क्षेत्र में शैव मत के प्रसार पर प्रकाश डालती है। दन्दान उलिक से लकड़ी के पट पर चित्रित शिव का उल्लेख स्टाइन ने किया है[31]। त्रिमुखी चतुर्भुज शिव ध्यानावस्था में एक गद्दे पर बैठे दिखाए गए हैं और उनके दो और दो बैल है। उनके शरीर का रंग गहरा नीला है.पर दो मुखों में एक का रंग श्वेत है जो स्त्री रूप है और दूसरा गहरा नीला है और शिव के रौद्र रूप का सूचक है। अर्द्ध चन्द्र तथा तृतीय नेत्र माथे पर प्रमुख रूप से दिखाया गया है। वह व्याघ्र शाला पहिने है जो धोती के स्थान पर है। साथ में नन्दी भी चित्रित है। चित्र के सम्पूर्ण सम्बन्धित लक्षण (emblems) यह संकेत करते हैं कि चित्रकार को शिव की प्रतिभा लक्षणों का पूर्ण रूप से ज्ञान था। मध्य एशिया से माहेश्वर शिव की चित्रित मूर्ति के अतिरिक्त दनदान उलिक से शिव-शक्ति की उपासना का प्रमाण एक अन्य फलक से भी मिलता है। इसमें चतुर्भुज शिव की त्रिमूर्ति के सम्मुख उनकी शक्ति झुकी हुई दिखाई गई है। शिव पद्मासन में बैठे हैं, ऊपरी भाग एक सफेद लम्बे बाहों वाली कसी जाकेट से ढका है तथा नीचे से व्याघ्र छाल कमर के चारों ओर दिखाई देती है। शिव के बायें हाथ में एक बड़ा कड़ा है और दूसरा जांघ पर है जिसमें वज्र है। निचला दाहिना हाथ शक्ति की गर्दन को ढके है। उनके लम्बे बाल हैं। ऊपर का मुकुट ईरानी है। बाएं ओर वाला मुख रौद्र रूप में है। शिव का तृतीय नेत्र भी साफ दिखाई पड़ता है। शक्ति लम्बा

और कसी बाहों का चोला पहिने है । उनके दाहिने हाथ में एक प्याला है जो वह देवता के सामने किए हैं । उसका श्वेत वर्ण है तथा लम्बी बड़ी आंखें हैं ।

पूर्वी तुर्किस्तान से प्राप्त एक चित्रित शिव त्रिमूर्ति नई दिल्ली के राजकीय संग्रहालय में है । इसमें भी शिव को सामने बैठे दिखाया गया है और मध्य मुख में त्रिनेत्र है तथा हल्की मुंह भी चित्रित है । आंखें भरी हुई हैं जिससे हलाहल पान का भाव प्रदर्शित होता है । शीश पर एक कपाल भी चित्रित है । चार भुजाओं में बायें में सूर्य और दाहिने में चन्द्रमा है । निचले दाहिने हाथ में अनार और बायें में कदाचित् वज्र है । शिव के अतिरिक्त मध्य एशिया में और भी ब्राह्मण देवी देवताओं को कला में प्रदर्शित किया गया है । यह ब्रह्मा, इन्द्र, गणेश, कुमार, कार्तिकेय, सूर्य, चन्द्र तथा लोकपाल इत्यादि थे जिनको मध्य एशिया के निवासियों ने अपना लिया था[32] तथा मध्य एशिया की चित्रकला में भी इनको स्थान प्राप्त है । कूचा में ब्रह्मा, इन्द्र तथा चतुर्भुज, शिव पार्वती तथा नन्दी के साथ चित्रित हैं ।[33] तुन-हुआंग तथा अन्य स्थानों की चित्रित कला में गणेश, कुमार, सूर्य तथा चन्द्र चित्रित हैं । इन्देरे से प्राप्त एक लकड़ी की फलक पर गणेश बने हैं । ब्रिटिश संग्रहालय में सुरक्षित इस चित्र में गणेश पद्मासन में बैठे हैं, उनका गज मुख है तथा शीश पर मुकुट है । वे बाहों, कलाइयों तथा गट्टों पर आभूषण पहिने हैं । व्याघ्रशाला, धोती भी चित्रित है । उनके हाथ में एक पात्र है जिसमें माला के दाने हैं । दूसरे निचले हाथ में एक प्रकार की करोली है तथा ऊपरी हाथों में भी कोई अस्त्र है । दन्दान उलिक में चित्रित गणेश कमल पर बैठे हैं । इनसे खोतान क्षेत्र में गणेश की लोकप्रियता का पता चलता है ।[34] तुन-हुआंग की गुफा नं0 285 में भी गणेश की मूर्ति चित्रित है । बैजेक्लिक के भित्तचित्रों में कार्तिकेय, महाकाल तथा गरुण को दिखाया गया है । महाकाल यक-तिल (नन्दी) पर बैठे हैं और उनकी आकृति राक्षस सी है । इनके अतिरिक्त मध्य एशिया में बहुत से लोकपालों को भी चित्रित किया गया है जो बौद्ध धर्म का अंग बन गए थे । धृतराष्ट्र, विरुढ़क, विरुपाक्ष तथा वैश्रवण को चतुर्महाराज का नाम देकर दैत्यों से रक्षा का भार दिया गया है तथा इन लोकपालों को चारों दिशाओं का रक्षक माना गया है । उनके साथ यक्ष भी है । इनका सम्बन्ध गंधार कला से भी है ।

मध्य एशिया में रामायण

मध्य एशिया में रामायण की कथा भी लोकप्रिय हो चुकी थी। इस सम्बन्ध में सर हैरोल्ड वैली ने 'राम' शीर्षक से दो लेख लन्डन की 'स्कूल आफ ओरेन्टियल स्टडीज' की पत्रिका में छापे।[35] इनके अतिरिक्त उनका इसी विषय से सम्बन्धित लेख अमेरिकन ओरिन्टियल सोसायटी पत्रिका में भी छपा। राम की कथा खोतानी लिपि में तीन हस्तलिखित चीनी कागज के ग्रन्थों में है जो उस समय पेरिस के विब्लिओथेक नेशनल में सुरक्षित है। यह खोतानी राम कथा तिब्वती राम कथा से मिलती है जिसका उल्लेख टामस ने पहले किया था।[36] ग्रन्थ की कथा से प्रतीत होता है कि रामायण के कुछ पात्र इस कथा में है तथा इसका कुछ वृतान्त भी मूल पर आधारित है। जैसे दश-ग्रीव द्वारा सीता का अपहरण कर लंका ले जाना और इसके लिए उसे अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। राम को स्थिर, बुद्धिमान, वीर, दानी, सुन्दर तथा सर्वप्रिय कहा गया है। पद्य ग्रन्थ में दथरथ का भी उल्लेख है तथा परशुराम का भी विवरण है एवं कार्तिवीर्य अर्जुन सहस्त्रवायु द्वारा जामदग्नि की कामधेनु के चुराने का भी उल्लेख है। सहस्त्रबाहु को दशरथ का पुत्र तथा राम और रैष्म (लक्ष्मण) को सहस्त्र वाहु का पुत्र कहा गया है। इस प्रकार इस कथा के अनुसार राम तथा लक्ष्मण दशरथ के पौत्र हैं। पहले सहस्त्रबाहु की कथा है जिसके द्वारा कामधेनु का हरण किया गया था। सीता के उत्पन्न होने की कथा भी विचित्र ढंग से लिखी है तथा जनक का कहीं उल्लेख नहीं है। कथा में सुग्रीव तथा नन्द का भी उल्लेख है तथा राम द्वारा सुग्रीव के बध का विवरण है। इसमें जीवक नामक भिषज् द्वारा राम को दशग्रीव द्वारा फेंकी गई शक्ति से बचाया गया है। इसके लिए नन्द बानर द्वारा हिमवंत से जड़ी बूटी लाई गई थी। अन्त में सीता का पृथ्वी में प्रवेश होना वर्णित है। कथा के अनुसार अगले जन्म में इन दोनों में से एक मैत्रेय हुआ तथा दूसरा शाक्यमुनि। बुद्ध के सामने दशग्रीव ने अपने को समर्पित किया था। यद्यपि यह कथा मूल से भिन्न है पर कुछ पात्र और सारांश से प्रतीत होता है कि रामायण की कथा का ज्ञान मध्य एशिया में हो चुका है। कथा का आरम्भ भद्रकल्प, क्रकसुन्द, बुद्ध, कनकमुनि, कश्यप शाक्यमुनि के आवाहन से होता है। इसमें माहेश्वर वंशीय एक ब्राह्मण का भी उल्लेख है जिसने बहुत से शास्त्रों का अध्ययन किया था तथा वह महेश्वर (शिव) का उपासक था। पहाड़ों पर आकर उसने 'मण्डलों'

को बनाया तथा 12 वर्ष के तप के बाद उसे ब्रह्म सिद्धि मिली। यही ब्राह्मण जामदग्नि था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण मत भी प्रचलित था जैसा कि हिन्दू देवताओं के चित्रों से प्रतीत होता है। वहां के निवासियों को ब्राह्मण धार्मिक साहित्य, मुख्यतया रामायण का ज्ञान था और कुछ की इसमें आस्था भी रही हो जैसा कि मथुरा से प्राप्त हुविष्क के समय के एक लेख से ज्ञात होता है जिसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं मिलता है तथा ब्राह्मण धार्मिक ग्रन्थ की प्रतिलिपि भी नहीं प्राप्त हुई है। जिन बौद्ध ग्रन्थों की उपलब्धियाँ हुई है उनमें बहुत से संस्कृत भाषा में है और उनका उल्लेख पहिले ही हो चुका है।

साहित्य एवं शिक्षा

साहित्यिक दृष्टिकोण से मध्य एशिया के बौद्ध विद्वानों का कार्य मूलतया भारतीय बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद तक ही सीमित था। कोई नवीन ग्रन्थ की रचना नहीं हुई। वहाँ पर बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन पूर्ण रूप से होता था तथा शिक्षण कार्य में स्थानीय एवं भारतीय आमंत्रित विद्वान अपना अनुदान देते थे। कुमारजीव ने स्वयं कश्मीरी विद्वान विमलक्ष के साथ सरवास्तिवादिन विनयपिटक का अध्ययन किया था। छठवीं शताब्दी में धर्मगुप्त नामक भारतीय विद्वान ने कूचा में बहुत से शास्त्रों का अध्यापन कार्य किया था और 'तर्क-शास्त्र' की भी शिक्षा दी थी। उस समय वहाँ कोई 100 विहार थे जिनमें 5000 बौद्ध शिष्य रहकर अध्ययन करते थे। यह सब हीनयान मत के अनुयायी थे। वे भारतीय बौद्ध संघ के नियमों का पालन करते थे तथा मूल संस्कृत के ग्रन्थों को पढ़ते थे। अ-शे-लि-नी विहार का प्रमुख भिक्षु विद्वान यो-च-क्यू-तो (मोक्षगुप्त) था जिसने य्वांग-चांग को आतिथ्य दिया था। वह भारत में 20 वर्ष रहा था तथा 'शब्द विद्याशास्त्र' का विशेषज्ञ था। उस समय कूचा में बड़े-बड़े पुस्तकालय भी थे जिनमें 'संयुक्त हृदय', 'अभिधर्म कोश' तथा 'विभाषा' ऐसे प्रमुख ग्रन्थ थे। विद्वानों का ज्ञान केवल संस्कृत तथा बौद्ध साहित्य तक ही सीमित नहीं था। आठवीं शताब्दी का बौद्ध विद्वान उत्पलवीर्य कई भाषाओं का ज्ञाता था जिनमें भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त तारिम तथा चीन की भाषाएँ भी थीं। उसने 'दशवल सूत्र' तथा दो अन्य ग्रन्थों का एक खोतानी भिक्षु शीलधर्म के साथ अनुवाद किया।

भारत से चीन भेजे गए बौद्ध साहित्य के अनुवादन कार्य में मध्य एशिया और वहाँ के विद्वानों ने स्थानीय प्रभाव डालने का भी प्रयास किया। खोतान के निकट चोक्कुक महायान बौद्ध धर्म का बड़ा केन्द्र था जहाँ का शासक स्वयं इस धर्म तथा उसके प्रसरण में रुचि लेता था और धार्मिक ग्रन्थों को सुरक्षित रूप में अपने प्रासाद में रखता था। इन ग्रन्थों में 'महासन्निपात', अवतंसक', 'रत्नकूट', 'लंकावतार', 'शारिपुत्रधारनि', 'महाप्रज्ञापारमिता', अष्टसाहश्रिक-'प्रज्ञापारमिता' तथा 'महामेघ' प्रमुख थे। 'महासन्निपात' में सूर्यगर्भ तथा चन्द्र-गर्भ नामक दो प्रमुख सूत्र केवल चीनी अनुवाद में उपलब्ध हैं और संस्कृत मूल ग्रन्थ अप्राप्य है। प्रथम ग्रन्थ में बौद्ध धार्मिक स्थानों में चीनस्थान, खस (काश-गर), तथा खोतान के गोअंग पर्वत पर स्थित गोश्रंसालगंध चैत्य का भी उल्लेख है तथा चन्द्रगर्भ सूत्र में उन 53 राज्यों का उल्लेख है। जहाँ बुद्ध जी गए थे। इनमें मध्य एशिया के दरद, खश, चोक्कक, श-लाई, काशगर, खोतान, कूचा, मसक, हेच्युक, चि-नि (अग्निदेश), शान-शान, क्रोरेन आदि सम्मिलित हैं। इनसे मध्य एशिया के विद्वानों द्वारा मूल में स्थानीय संशोधन का पता चलता है। कभी कभी मूल के अंशों की खोज के लिए भारतीय विद्वान भी मध्य एशिया आते थे। धर्मक्षेम नामक एक विद्वान मध्य भारत से कश्मीर गया और वहाँ से चीन जाकर लिआंग-चाऊ में अनुवाद कार्य किया। इस सन्दर्भ में'महापरिनिर्वाण सूत्र' की सम्पूर्ण प्रतिलिपि की खोज के लिए वह खोतान गया जहाँ उसका वध कर दिया गया। इन वृतान्तों से प्रतीत होता है कि मध्य एशिया प्राचीन भारतीय बौद्ध साहित्य का भण्डार था जहाँ मूल ग्रन्थ अनुवाद के लिए उपलब्ध थे।

धर्म तथा साहित्य के संदर्भ में मध्य एशिया में भारतीय लिपि के प्रचलन पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। वहाँ पर जो भारतीय गए अथवा वहीं पर वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर बस गए उन्होंने भारतीय ब्राह्मी लिपि का भी अनुदान दिया। ईसवी की तीसरी और चौथी शताब्दी में वहाँ खरोष्ठी लिपि का प्रचलन था जो उत्तरी-पश्चिमी भारत तथा अफगानिस्तान में मूल रूप से प्रयोग की जाती थी। शान-शान राज्य में इसी लिपि में सैकड़ों लेख मिले और खोतान होकर ही यह लिपि वहाँ पहुँची होगी। खोतान क्षेत्र से प्राप्त प्राचीन 'धम्मपद' भी इसी लिपि में प्राप्त हुआ। चीनी यात्री फाइयान के अनुसार शान-शान में 400 ई0 में कोई 4000 बौद्ध थे और वे हीनयान

मत के अनुयायी थे । वे भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करते थे तथा उन्हें भारतीय भाषा का भी ज्ञान था । उस समय यदि लिपि में भिन्नता होती तो चीनी यात्री उसका अवश्य ही उल्लेख करता । 529 में सुंग-सुंग ने खोतान के पश्चिम में स्थित राज्य के विषय में लिखा है कि यहाँ के निवासियों की रीतियाँ तथा बोलचाल की भाषा खोतानियों जैसी थी तथा उनकी लेख लिपि ब्राह्मणों की तरह थी जिससे ब्राह्मी का संकेत होता है । इससे यह प्रतीत होता है कि इस राज्य में ब्राह्मी लिपि का प्रयोग होता था जबकि खोतान में खरोष्ठी का प्रचलन था । इस सम्बन्ध में खरोष्ठी लेखों में उल्लिखित पत्र, पत्रवाहक (लेख हारक) तथा पोथी इत्यादि शब्द भारतीय लेखन कला तथा लिपि के ज्ञान का प्रतीक है । खोतान तथा निकटवर्ती क्षेत्र कांतु-शुक-हुन (य्वान-य्वान) के आक्रमण से बौद्ध धर्म तथा विहारों को बड़ी क्षति पहुँची, पर बौद्ध धर्म पुनः विकसित होने लगा जैसा कि 'सूर्यगर्भ सूत्र' नामक एक ग्रन्थ से लगता है जिसका अनुवाद 589–618 के बीच काल में हुआ था ।[37] हो सकता है कि उस समय में वहाँ काशगर से बौद्ध भिक्षु आये हों । य्वांग-चांग के समय में इनकी संख्या 10,000 थी । खोतान का काशगर के साथ सम्बन्ध बना हुआ था । वहाँ पर सातवीं शताब्दी में ब्राह्मी का प्रयोग होता था तथा केवल सर-वास्तिवादिन बौद्ध मत वादी ही वहाँ रहते थे । इस प्रकार वहीं से दोनों—लिपि तथा धर्म—का खोतान में प्रवेश हुआ । खोतान में पहले से महायान मत तथा इसके साहित्य की ही प्रधानता थी । वहाँ पर 'अवतंसक' बौद्ध साहित्य की रचना हुई जिसने बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों की रचना तथा अनुवाद पर अपना प्रभाव डाला ।[38] यहां पर 260 ई० में जो चीनी भिक्षु आए उनका ध्येय महायान मत का अध्ययन था । यहीं पर 'सूर्यगर्भ' तथा 'चन्द्रगर्भ सूत्रों' की भी रचना हुई जिससे प्रतीत होता है कि इनके रचयिताओं की चीनी तुर्किस्तान के विषय में पूरी जानकारी थी । इन ग्रन्थों में 'धारणी सूत्रों' का उल्लेख है जिनको कूचा तथा भारतीय बौद्ध विद्वानों ने चौथी शताब्दी में चीनी में उद्धृत किया था । इसके पहले खोतानी केवल भारतीय अथवा भारत से प्राप्त बौद्ध ग्रन्थों का ही अध्ययन करते थे जिनमें 'प्रज्ञापारमिता', 'सधर्मपुण्डरीक' तथा 'चन्द्रगर्भ' प्रमुख थे ।

'शक-खोतानी' भाषा में भी बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद हुआ जिनके अंश मरु-स्थल के बहुत से स्थानों से उत्खनन में प्राप्त हुए तथा तुन-हुआंग के शिएन-

फो-तुंग में ढके हुए पुस्तकागार से बहुत से बंडलों में बधी पोथियां तथा ग्रन्थ प्राप्त हुए। इन ग्रन्थों में सभी बौद्ध धर्म से सम्बन्धित नहीं हैं। कुछ का भिषज् से सम्बन्ध है। 'सिद्धिसार' नामक ग्रन्थ का रचयिता नागार्जुन था। मध्य एशिया के धार्मिक ग्रन्थों की लिपि ब्राह्मी है जो भारतीय गुप्तकालीन ब्राह्मी पर आधारित है। जिन बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों की रचना खोतान में हुई उनमें 'गोश्रृंग-व्याकरण' जिसमें गोश्रृंग पर्वत का महात्म है तथा 'विमलप्रभा पृच्छा' है जिसकी रचना 745 ई० में हुई थी। दूसरे ग्रन्थ में खोतान की राजनैतिकपरि-स्थिति का विवरण है। इन दोनों का तिब्बती भाषा में भी अनुवाद हुआ। इसमें खोतान पर चीनी तथा तिब्बती आधिपत्य का उल्लेख है। चीनी सम्राज्ञी वू-त्सो-तिएन द्वारा 690 में एक शिष्ट मंडल भेजे जाने का भी उल्लेख है तथा बौद्ध बोधिसत्व मैत्रेय को भविष्य का दुख हरणकर्त्ता बताया गया है एवं 'महामेघ सूत्र' के आदेशों का पालन करने को कहा गया है। इनके अतिरिक्त अरहत संघ वर्धन् तथा खोतान के बौद्ध संघ का उल्लेख भी दो 'व्याकरणों' या भविष्यवाणियों में है। इनमें भविष्य में खोतान में इस धर्म के पतन तथा यहाँ के भिक्षुओं का तिब्बत की ओर प्रस्थान का विवरण है। पहले तो उनका तिब्बत में स्वागत किया गया पर बाद में उनको तिरस्कृत किया गया जिससे वे भिक्षु गन्धार गए तथा दो वर्ष बाद पारस्परिक संघर्ष के फलस्वरूप वे कौशाम्बी में नष्ट हो गए। यह कोई किंवदन्ती के आधार पर बढ़ा चढ़ा कर लिखा विवरण है पर वास्तव में बौद्ध धर्म के पतन की कहानी दूसरी है। 1000 ई० में इस्लाम के खोतान में प्रवेश से वहाँ पर यह धर्म तथा इससे सम्बन्धित साहित्य को नष्ट कर दिया गया।

खोतानी भाषा में एक लम्बी पद्य रचना बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को लेकर की गई जिसका सम्पादन ल्यूमान ने किया। यह पूर्णतया भारतीय बौद्ध विचार-धारा पर आधारित है तथा यह भारतीय शैली में लिखी है।[39] इसमें भविष्य के उद्‌गाता (मसीहा) मैत्रेय के आगमन का उल्लेख है। यह किसी अन्य भाषा में मूल रूप से नहीं है पर इसके विषय पर मध्य एशिया के अन्यक्षेत्रीय बौद्ध साहित्य में कहीं–कहीं कुछ लिखा गया है। अन्य शक-खोतानी भाषा में लिखे कुछ व्यापारिक पत्र तथा दस्तावेज भी मिली है। इनमें भारतीय प्रशासन शब्द अमात्य का भी उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त मध्य एशिया के उत्तरी व्यापारिक क्षेत्र से कश्यप मतंग तथा धर्मरत्निन इसी मार्ग से चीन गए थे

जहाँ उन्होंने 5 छोटे सूत्रों का अनुवाद किया। ईसवी की तृतीय शताब्दी के मध्य भाग में कूचा में बौद्ध रहे होंगे जिन्होंने 'सुखावती व्यूह' का कुचिएन में अनुवाद किया। इस प्रकार कूचा बौद्ध धर्म का एक प्रमुख केन्द्र बन गया और वहीं से चीन में बौद्ध धर्म का प्रसारण हुआ। उसके पूर्वतुरफान—जो प्राचीन कु-शि राज्य था—भी बौद्ध धर्म का एक प्रमुख केन्द्र था तथा वहाँ से बहुत से अवशेष जर्मन अभियान दल को खोज में प्राप्त हुए। इनके अतिरिक्त कार्शाहार अथवा येन-कि, अग्निदेश जो इनके दक्षिण में था तथा कूचा के पश्चिम में आक्षु (बालूका) और काशगर में बहुत से विहार थे। यह उत्तरी क्षेत्र के बौद्ध सरवास्तिवादिन मत के अनुयायी थे और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग करते थे। यहां बौद्ध धर्म का प्रवेश तुखारिस्तान और पार्थिया से हुआ और यह घटना ईसवी की प्रथम शताब्दी के अन्त अथवा दूसरी शताब्दी के आरम्भ में हुई। यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि हिन्दूकुश के उत्तर में खरोष्ठी का प्रसरण नहीं हुआ तथा सरवास्तिवादिनों द्वारा ब्राह्मी लिपि को लाया गया। इस क्षेत्र के बौद्ध विहारों तथा भिक्षुओं का उल्लेख पहले ही हो चुका है।

इन उत्तरी क्षेत्रीय स्थानों से जो संस्कृत साहित्यिक ग्रन्थ अथवा अवशेष प्राप्त हुए उनमें अश्वघोष—जो कनिष्क का समकालीन था—द्वारा रचित दो नाटकों के अंश 'सारिपुत्र प्रकरण' तथा कुमारलात द्वारा लिखित 150 श्लोकों में 'कल्पना मण्डितिक' है। इनके अतिरिक्त सरवास्तिवादिन विनय के भी कुछ अंश प्राप्त हुए जिनका प्रकाशन बर्लिन तथा आक्सफोर्ड से क्रमशः 1906 और 1916 में हुआ। बाद के काल के जो साहित्यिक अंश मिले हैं वे सब स्थानीय, कूचा, कार्शाहार तथा तुरफान की भाषा में है। इनको दो विभिन्न उपभाषाओं (dialects) में रखा गया है। प्रथम को 'आर्षि' कहा गया है। कूचा में सबसे प्राचीन साहित्यिक अवशेषों में व्यापारियों को दिए गए शासकीय प्रमाण पत्र हैं। एक संस्कृत का वृहत ग्रन्थ 'कर्मविभंग' भी है जिसका सम्पादन लेवी ने किया था। तुरफान क्षेत्र से बहुत से छोटे बौद्ध साहित्यिक ग्रन्थों के अवशेष भी मिले जिनका सम्पादन तथा प्रकाशन जर्मन विद्वान सीग सीगलिंग ने किया तथा सोलमसेन के साथ मिलकर वहां की भाषा व्याकरण की भी रचना की।

मध्य एशिया में आक्षु क्षेत्र तथा काशगर में सरवास्तिवादिन मत से सम्बन्धित ग्रन्थ नहीं मिले हैं, पर सागडियन भाषा में बौद्ध और मानीसिएन

मत से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थ अवश्य मिले। इस सन्दर्भ में यह भी कहना है कि पच्चिमी तुर्किस्तान में ईसवी की दूसरी शताब्दी के मध्य से अनुवाद का कार्य आरम्भ हो गया था। चीनी यात्री य्वांग-चांग ने इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के विषय में कुछ नहीं लिखा है पर तिब्बती वृतान्तों के अनुसार पार्थिया फरगाना तथा समरकन्द के उत्तरी-पूर्वीय क्षेत्र से बौद्ध भिक्षु भागकर तिब्बत गए। 850 ई0 उईगुर-तुर्क राज्य जिसके अन्तर्गत तुरफान और कदाचित् कूचा भी था से बौद्ध धर्म को प्रोत्साहन मिला तथा उइगुर भाषा में बौद्ध ग्रन्थ लिखे गए, पर ईसवी की 10 वीं शताब्दी तक मुसलमानों के आक्रमणों के फलस्वरूप सम्पूर्ण मध्य एशियाई क्षेत्र से बौद्ध धर्म तथा इससे सम्बन्धित संस्कृत साहित्य लुप्त हो गया और बौद्ध धर्म केवल तिब्बत में ही सुरक्षित रह सका।

सारांश--मध्य एशिया के लगभग एक सहस्त्र वर्ष के लम्बे धार्मिक तथा उससे सम्बन्धित साहित्यिक इतिहास में बौद्ध धर्म का प्रवेश सबसे महत्वपूर्ण घटना है। किंवदन्तियों के अनुसार अशोक के समय से ही यहां बौद्ध भिक्षु तथागत का धार्मिक सन्देश और सम्राट् की शान्ति और धार्मिक सहिष्णुता की भावना को लेकर यहां आए। पहले तो हीनयान और इससे सम्बन्धित सर वास्तिवादिन मत यहां विकसित हुआ पर बाद में महायानमत का भी प्रवेश हुआ। धार्मिक बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद तथा कुछ मूल रचनाएं भी हुई। बौद्ध विद्वान भारत से आमंत्रित किए गए। इसमें खोतान के शासकों का भी बड़ा हाथ था। उनको वहां सम्मानपूर्वक रखा गया और उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रसरण तथा साहित्यिक रचनाओं में अपना अनुदान दिया। पार्थिया तुखारिस्तान तथा कश्मीर से भी बौद्ध विद्वान मध्य एशिया गए। इनका आगमन ईसवी की प्रथम शताब्दी से आरम्भ होता है और इसी समय से चीन में भी तथा-गत का संदेश कश्यपमतंग और धर्मरत्निन द्वारा भेजा गया। कुछ पार्थियन विद्वान अन–शिह–काओ अन–हुसुन तथा अन–प–मिन; यूचियों में ची–लाऊ–मिअ–चिएन (कदाचित लोकक्षेम) यी–वाओ यी–लिआंग; सागडियनों में कंग–मैंग-सिअंग मध्य एशिया से चीन गए। महायान बौद्ध मत के विद्वानों में लोक क्षेम का नाम प्रसिद्ध है। यह सब प्रारम्भिक काल–ईसवी की पहली दूसरी शताब्दी के बौद्ध धर्म प्रवर्तक थे। तीसरी चौथी शताब्दी में धर्मनन्दिन नामक व्यक्ति ने बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का अनुवादन कार्य किया। लि-युल अथवा खोतान

के शासकों– जिनका नाम विजय से आरम्भ होता है– ने महायान मत के प्रसरण में बड़ा योगदान दिया। इस विजय वंश के चौदहवें शासक विजय कीर्ति को तो बोधिसत्व मंजुश्री का अवतार माना गया है। कुछ राजवंशीय कुमारों ने प्रासादीय जीवन त्याग कर बौद्ध संघ का आश्रय लिया। एक राजकुमार ने धर्मानन्द का नाम लेकर भारत की यात्रा की। उधर भारत से भिक्षु संघ घोष एवं अन्तसिद्धि तथा अनेकों विद्वानों को मध्य एशिया में आमंत्रित किया गया। अन्तसिद्धि ने लि-युल (खोतान) में सरवास्तिवादिन मत का प्रसारण किया।

बौद्ध विद्वानों तथा धार्मिक साहित्य के सन्दर्भ में कुमारजीव का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। भारतीय पिता तथा कूचा की राजकुमारी के इस पुत्र ने मध्य एशिया तथा चीन में अपनी मौलिक रचनाओं तथा धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद से बौद्ध साहित्य को ओतप्रोत कर दिया। काशगर, कूचा तथा लिआंग उसके साहित्यिक कार्य क्षेत्र थे। ब्राह्मण साहित्य, तथा बौद्ध धर्म के दोनों प्रधान मतों– सवरवास्तिवादिन तथा महासांधिक महायान– से सम्बन्धित ग्रन्थों का उसने पूर्ण रूप से अध्ययन कर लिया था और फिर बौद्ध जगत को उसने अपनी धार्मिक साहित्यिक कृतियों से देदीप्यमान किया। इसके अतिरिक्त धर्मरक्ष तथा गुणभद्र का नाम भी बौद्ध ग्रन्थों के अनुवादक के रूप में उल्लेखनीय है। चीनी यात्री य्वांग–चांग के वृतान्त से मध्य एशिया के विभिन्न बौद्ध केन्द्रों के बारे में पूरी जानकारी प्राप्त होती है। इनका विस्तृत रूप से उल्लेख किया जा चुका है। बौद्ध केन्द्र मध्य एशिया के उत्तरी क्षेत्र तथा दक्षिणी मार्ग पर और पश्चिम में वैक्ट्रिया में पूर्ण रूप से विकसित थे और वहां सहस्रों बौद्ध भिक्षु रहते थे। इलियट के अनुसार मध्य एशिया में बौद्ध धर्म ही प्रचलित था और ब्राह्मण देवता बौद्ध धर्म का ही अंग थे। यह विचारधारा पुरानी हो गई है। जिस लेख में 'नारायण जयतु' का उल्लेख है उससे कदाचित् वैष्णव मत में रुचि का संकेत मिलता है। काबुल तथा कापिश में तो ब्राह्मण थे ही जैसा कि य्वांग-चांग का कथन है मध्य एशिया की चित्र कला में भी ब्राह्मण देवताओं–मुख्यतया शिव, इन्द्र, कुमार इत्यादि से वहां हिन्दू धर्म की मान्यता का संकेत मिलता है। हां ! महायान वज्रयान मत मध्ययुग में हिन्दुओं के वाममार्गियों के अत्यन्त निकट था। यह आश्चर्य जनक है कि संस्कृत का प्रचलन होते हुए भी मध्य एशिया के अवशेषों में कोई ब्राह्मण मत से सम्बन्धित धार्मिक एवं साहित्यिक रचना

नहीं मली है। बौद्ध धर्म की व्यापकता एवं ब्राह्मण देवताओं का उसमें समावेश, सहिष्णुता तथा धार्मिक समन्वय संकेतित करता है। कुछ लेख और चित्र ब्राह्मण देवताओं से सम्बन्धित हैं । वहां पर शैव मत के प्रचलन का भी पता चलता है। इन प्रमाणों–पंर्जीकेन्त के भित्त चित्र तथा दन्दान उलिक के अवशेषों से भी इसकी पुष्टि होती है। नई दिल्ली के राजकीय संग्रहालय में पूर्वी तुर्किस्तान से प्राप्त शिव की मूर्ति विशेषतया इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त ब्रह्मा, इन्द्र, गणेश, कुमार, कार्तिकेय आदि को भी कला में चित्रित किया गया है। गणेश का कई स्थानों में भित्तचित्र तथा लकड़ी पर चित्रण है। खोतान में विघ्ननाशक के रूप में यह बहुत ही लोक प्रिय थे । मध्य एशिया में रामायण की कथा भी प्रचलित थी यद्यपि वहां से प्राप्त पोथियों में वर्णित कथा मूल से भिन्न है। हां! राम,लक्ष्मण, सीता, परशुराम तथा सुग्रीव का नाम मिलता है।

धर्म के साथ साथ साहित्यिक क्षेत्र में भी मध्य एशिया के विद्वानों जो भारत से गए थे तथा वहीं पर स्थित विहारों के भिक्षुओं ने अपना अनुदान दिया। बहुत से ग्रन्थ तो वहीं पर अनुवाद के रूप में सुरक्षित रह सके।'.महा सन्निपात', .'अवतंसक', .'रत्नकूट', 'लंकावतार', 'सारिपुत्रप्रकरण' 'प्रज्ञापारमिता' 'अष्ट–साहश्रिक–प्रज्ञापारमिता' 'सधर्मपुण्डरीक' 'सुखावतीव्यूह' इत्यादि बौद्ध ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं । 'चन्द्र गर्भसूत्र' तथा 'सूर्य गर्भसूत्र की भी रचना हुई। ग्रन्थ ब्राह्मी तथा खरोष्ठी में लिखे गए। विद्वान दोनों लिपियों में पारंगत थे । विशाल पुस्तकालय भी थे जो विहार से संनिग्ध थे। बौद्ध भिक्षुओं ने इस्लाम के वेग के आगे घुटने नहीं टेक दिए। उन्होंने अपनी साहित्यिक धरोहर को दीवारों के भीतर बन्द कर दिया और प्रकृति ने उनकी रक्षा की। यही हाल कला कृतियों तथा प्राचीन स्थानों का भी हुआ जहां सैकड़ों वर्ष बाद ही उनका पता चल सका। धर्म और साहित्य ने कला को प्रोत्साहित किया। विभिन्न क्षेत्रों में ' बौद्ध विहार बने, स्तूपों का निर्माण हुआ तथा भित्तचित्रों द्वारा बुद्ध बोधिसत्व बुद्ध के जीवन से संबंधित कथाएं तथा मण्डलों को दर्शित किया गया। कला कृतियों का भी निर्माण हुआ जिनपर गन्धार शैली का प्रभाव था । चित्रकला में भी भारतीय बौद्ध धार्मिक विषय के साथ साथ आकृति तथा वेशभूषा में चीनी परम्परा का आश्रय लिया गया है। चित्र भी एक ही शैली के नहीं हैं और यह कई शतादाब्दियों के

लम्बे काल में बनाए गए । इसीलिए विभिन्न क्षेत्रों की शैलियां पृथक् हैं यद्यपि इन सबका सम्बन्ध बौद्ध धर्म से है। धार्मिक क्षेत्र में अहूरा मज़दा मानी मत तथा कुछ विद्वानों के अनुसार ईसाई धर्म भी मध्य एशिया में विकसित था। वास्तव में व्यापारिक महत्व के नाते मध्य एशिया विभिन्न सभ्यताओं का संगम था जहां कई ओर से धार्मिक धाराएं आकर मिलती थीं पर प्रधानता बौद्ध धर्म की ही थी जिसका अपना एक सहस्र वर्ष का इतिहास है और यही भारतीय संस्कृति की बड़ी देन है। यहीं से स्थल मार्ग से बौद्ध धर्म पूर्व में चीन, मंगोलिया तथा कोरिया और जापान भी गया यद्यपि भारतीयों ने सामुद्रिक मार्ग को भी अपनाया था। धर्म तो इस्लाम के प्रादुर्भाव से नष्ट हो गया पर कलाकृतियां आज भी स्मृति चिन्ह के रूप में गोचर हैं।

———

1– ताजिकिस्तान से प्राप्त यह सबसे प्राचीन लेख है जो ए० एन० बेर्नस्तम ने पच्चिमी पामीर के दर्शायी नामक स्थान से प्राप्त किया। इस पर विस्तृत रूप से हरमाटा ने अपने लेख "दी ओल्डेस्ट खरोष्ठी इंस्क्रप्शन इन इनर एशिया' में प्रकाश डाला है। यह लेख हंगेरी के ऐक्टाओरियनटालिया में प्रकाशित हुआ। (वाल्यूम 19, नम्बर 1,[1] बुधापेस्ट 1966 पृ० 1–12)। लिटवेन्सकी ने अपने लेख 'आउट लाइन आफ बुद्धिज्म इन सेन्ट्रल एशिया' जो दुशान्वे सम्मेलन के समय प्रकाशित हुआ (1968) में इसका उल्लेख किया है। उनके अनुसार 'नारायण' का उल्लेख बुद्ध के रूप में कई खोतानी शकलेखों में मिलता है जो पूर्वी तुर्किस्तान से प्राप्त हुए तथा 'देव' के रूप में बौद्ध सागडियनलेखों में मिलता है (पृ० 8)। एस० के० डे के अनुसार 'नारायण' का सम्बन्ध सूर्य सम्प्रदाय से है (बी० एस० ओ० एस० 1931, वाल्यूम 6) में पी० बनर्जी ने भी अपने लेख "हिन्दू डीटीस् इन सेन्ट्रल एशिया' में इसका उल्लेख किया है। तुन-हुआंग के एक चित्र में नारायण को गरूड़ पर आरूढ़ दिखाया गया है और वह अवलोकितेश्वर के साथ है। बनर्जी के अनुसार 'नारायण' का बौद्ध धर्म से सम्बन्ध भले ही मान लिया

जाये पर उनके हिन्दू प्रतिमा लक्षण से मध्य एशियाई परिचित प्रतीत होते हैं (देखिए : इंडियास् कन्ट्रीब्यूशन टू वर्ल्ड थाट एण्ड कल्चर-- विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थ-- पृ० 281--82)।

2-- हरमाटा : 'साइनो इंडिका' पृ० 4-5; लिटवेन्सका 'उपरोक्त लेख' पृ० 4। बागची के मतानुसार बौद्ध धर्म का प्रवेश बैक्ट्रिया में अशोक के समय में हो चुका था पर फूशे के मतानुसार यह घटनाईसवी की प्रथम या दूसरी शताब्दी की है। लिटवेन्सकी बागची के मत से से सहमत है (पृ० 17) ।

3- मूल. 29, 38, 39; गाइगर .(अनुवाद- पृ० 193--4)।

4-- इलियट ने अपने ग्रन्थ "हिन्दूज़म एंड बुद्धिज़म' में मध्य एशियामेंबौद्ध धर्म के प्रवेश पर पूर्ण रूप से विचार किया है (देखिए : भाग३, पृ० 189-222) । इसमें स्टाइन द्वारा उत्खनन एवं इस हेलमुन्द प्रान्त के प्राचीन विहार का भी उल्लेख है । (यही,पृ० 196)।

5- बागची :'इन्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया' पृ० 32-35। लिटवेन्सकी का लेख उपरोक्त उल्लिखित (उ. उ. पृ० 9)।

6- लिटवेन्सकी (उ.उ.पृ० 9)।

7- यही, पृ० 20!

8- यही, पृ० 11।

9- लिटवेन्सकी के अनुसार इसके पार्थियन राज्यवंश से सम्बन्धित होना सन्देहात्मक है। यह कोई स्थानीय शासकीय वंश से सम्बन्धित रहा हो। इस सम्बन्ध में उन्होंने वाले तथा मासपेरो के विचार प्रस्तुत किए हैं। (उ. उ. नोट 53 पृ० 82)।

10- देखिए: बागची (उ. उ. पृ० 32--34 ; लिटवेन्सकी-- उ. उ. पृ० 12।

11-- तिब्बती श्रोतों के आधार पर खोतान का इतिहास पूर्ण रूप से 'इतिहास' के अध्याय में विवरण दिया जा चुका है। राकहिल की पुस्तक 'दी लाइफ आफ दी बुद्ध' में इन श्रोतों का उल्लेख है (पृ० 230)।

12-- राकहिल-- "लाइफ आफ दी बुद्ध" पृ० 240 नोट।

13- बुद्ध द्वारा इन व्यापारियों को उपदेश देने के सन्दर्भ में में इलियटने तुरफान से प्रा त एक तुर्की सूत्र का उल्लेख किया है । इसमें इनको

तुर्क कहा है और इन्द्र का कोरमुस्त अथवा होरमुजुद नामकरण किया है ('हिन्दूज़म एण्ड बुद्धिज़म' पृ० 215)।

14-- इस सम्बन्ध में बागची ने अपने लेख 'क्रिमिश एण्ड डिमेट्रियस' में इसका उल्लेख किया है 'देखिए : आई० एच० क्यू० 22 पृ० 81 से) ।उनके अनुसार बैक्ट्रिया के इस शासक का पुष्यमित्र के विरुद्ध आक्रमण उसकी ब्राह्मणवादी नीति का प्रतिकार था।

15-- वैभाषिक मत से सम्बन्धित विद्वानों में भदन्त, धर्मत्रात, घोषक, बुद्धदेव तथा वसुमित्र थे (देखिए : कर्न-- "मैन्युवल आफ बुद्धिज़म"पृ० 128)। इसी पुस्तक में चतुर्थ बौद्ध संगिति का भी विवरण मिलेगा (पृ० 121 से) ।

16-- 'बुद्धिस्ट रिकार्ड' 1 पृ० 44।

17-- देखिए-- लिटवेन्सकी का लेख (उ. उ.) पृ० 48--49।

18-- कशाहार का भौगोलिक एवं ऐतिहासिक वृतान्त स्टाइन ने अपने वृहत ग्रन्थ "सेरेन्डिया' में दिया है (वाल्यूम 3 पृ० 177 से)। इस स्थान का उल्लेख चीनी स्रोतों में भी मिलता है।

19-- स्टाइन : "एंशिएन्ट खोतान" पृ० 185; तथा 'सेरेन्डिया' पृ० 1267 से।

20-- कुमारजीव के जीवन काल एवं कृतियों का संक्षिप्त वृतान्त इन्साक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथिक्स में मिलेगा । (वाल्यूम 8 पृ०701 से) ।

21-- इलियट-- "हिन्दूज़म एण्ड बुद्धिज़म' ३ पृ० 297।

22-- वही, पृ० 205।

23-- स्टाइन : 'ऐंशिएंट खोतान' पृ० 56 ।

24-- जे० आर० ए० एस० 1900 पृ० ६६५।

25-- बील-- उ. उ. १ पृ० 14 ।

26-- आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इन्डिया रिपोर्ट 1913--14 पृ० 120; 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया' वाल्यूम 1, पृ० 521--2।

27-- जे० आर० ए० एस० 1904 पृ० 310 से

28-- एपीग्राफिया इन्डिका 28, पृ० 55 से।

29-- देखिए :-पी० बनर्जी का लेख "हिन्दूज़म इन सेन्ट्रल एशिया'

जो 'इन्डियाकु कन्ट्रीव्यूशन टुवर्ड थाट एण्ड कल्चर' नामक विवेकानन्द स्मृ ग्रन्थ में छपा है। पृ० 281 से।

30- यही. पृ० 284। इस लेख में चीनी मध्य एशिया से प्राप्त महेश्वर-शिव, शिव शक्ति तथा त्रिमूर्ति का भी उल्लेख है । ब्रह्मा, इन्द्र, गणेश, कुमार, महाकाल तथा देवपालों की भी मूर्तियां एवं चित्र मध्य एशिया में मिले जिनका उल्लेख इस लेख में है।

31- डी० 7.6. बनर्जी का लेख पृ० २८४।

32- स्टाइन : 'सेरन्डिया' पृ० 870, 1076, 1078।

33- कुमार स्वामी- 'हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इंडोनेशियन आर्ट' पृ० 150।

34- स्टाइन- "ऐंशिएंट खोतान' वाल्यूम 1, पृ० 431 । 'सरेन्डिया' पृ० 166, 177, 178, 18;।

35- बी० एस० ओ० एस० 1940-42 पृ० 365-376 तथा 559-605 ; ज०ए० ओ०ओ० 59 पृ० 450 से।

36- जू० ए० 1936 तथा इनका लेख सी० आर० लेवमान स्मृ ष्ति ग्रन्थ में छपा।

37- टामस : "एक्सपेंशन आफ इन्डियमिज्म" कलकत्ता विश्वविद्यालय में दिए गए भाषण पृ० 63 ।

38- यही : पृ० 63-64

अध्याय 7

कला [1]

कला मनुष्य की आन्तरिक भावना का वाह्य प्रदर्शन है। इसके माध्यम से वह अपनी विचारधारा को साकार रूप से संसार के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसमें धार्मिक अंश अधिक रहता है पर सामाजिक वांगमय का आभास भी मिलता है। कलाकार अपनी सेवाएं केवल अपनी प्रवृत्ति तक ही सीमित नहीं रखता है, उसे अपनी कला प्रदर्शन के लिए औरों का आश्रय लेना पड़ता है। धर्म प्रवर्तक अथवा शासक या उससे सम्बन्धित वर्ग कलाकारों को प्रोत्साहन देते हैं और वे उन्हीं के आदेशानुसार कलाकृतियों का निर्माण करते हैं। जीविका का यह साधन बन जाता है पर सच्चा कलाकार अपने अस्तित्व को धन की कसौटी पर निछावर नहीं करता है। उसकी कला कृतियां उसके व्यक्तित्व प्रदर्शन का माध्यम बनती हैं चाहे यह किसी के आदेश पर बनाई गई हों अथवा स्वान्तः सुखाय के रूप में कलाकार ने अपने कर्तव्य का पालन कर अपनी विचारधारा को नया मोड़ देकर प्रदर्शित किया हो। कला वास्तव में स्थाप्य, शिल्प तथा चित्रों के निर्माण तक ही सीमित नहीं है। ललित कला के नाम से भी इसे सम्बोधित किया जाता है। इस संदर्भ में मध्य एशिया में कला का चित्रण धर्म की आड़ ही में हुआ और इसमें समय समय पर भारतीय, ईरानी, चीनी तथा स्थानीय कलाकारों ने अपना अनुदान देकर इसे विस्तृत किया। क्षेत्रीय प्रभावों तथा स्थानीय सम्बन्धों के कारण कला की विभिन्न शैलियों का जन्म हुआ और बुद्ध जी तथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित होते हुए कलाकार उन तथ्यों से अपने को अलग न रख सका जिन्होंने इनको पृथक् रूप दिया। इसलिए भारतीय गन्धार कला और चीनी कला का प्रभाव क्षेत्रानुसार देखने को मिलता है। इसके साथ ही कला का सम्पूर्ण इतिहास—इसका जन्म, विकास तथा पतन पर भी क्रम से प्रकाश डालना आवश्यक है। अतः ऐतिहासिक क्रम और स्थान को लेकर ही मध्य एशिया की कला को प्रस्तुत किया जा सकता है।

मध्य एशिया के विभिन्न क्षेत्रों में बौद्ध धर्म से संबन्धित कलाकृतियों का निर्माण हुआ । 1448 किलोमीटर लम्बे तथा 483 किलोमीटर चौड़े क्षेत्र में जो उत्तर में कूचा से कू-लून पहाड़ी के दक्षिण में नीया तक सीमित था, विभिन्न स्थानों में बौद्ध मन्दिर, स्तूप तथा विहार बने जिन्हें कलाकृतियों से भी अलंकृत किया गया । वहां की मूर्तियां चूने, लकड़ी, तथा पक्की मिट्टी आदि पदार्थों की बनाई गई । इनके अतिरिक्त प्रायः सभी स्थानों में भित्तचित्रों को भी बनाया गया । कला केन्द्र प्रायः वे सभी प्रमुख स्थान थे जिनका बौद्ध धर्म से सम्बन्ध था तथा उत्तरी और दक्षिणी व्यापारिक रेशम (कौशेय) मार्ग पर स्थित थे । उत्तरी मार्ग पर तुमशुक, कूचा और तुरफान तथा दक्षिणी पर खोतान, दन्दान उलीक और मिरान और दोनों के संगम पर तुन-हुआंग के कला केन्द्र प्रसिद्ध थे । इन केन्द्रों की कला कृतियां जिनमें तुन-हुआंग की सहस्त्र बुद्धों की गुफाएं भी सम्मिलित हैं न तो एक समय में और न एक ही शैली के अन्तर्गत निर्मित हुई । इनमें स्थाप्य शिल्प तथा चित्रकला का समन्वय है । इन कला केन्द्रों की भौगोलिक स्थिति तथा राजनैतिक प्रभाव के फलस्वरूप इनका अस्तित्व एक दूसरे से पृथक् है और कलाकारों ने अपनी रुचि तथा शैली से इनकी रचना की । हां, इनका विषय प्रायः एक ही था । यह बुद्ध की जीवनी, उनके पूर्व जन्मों की कहानी जो जातकों पर आधारित थी, बोधिसत्वों एवं मण्डलों तथा भविष्य के बुद्ध और लोकपालों इत्यादि से संबन्धित है । चित्रों में कुछ लौकिक दृश्य भी हैं । यह कला कृतियां ईसवी की तीसरी-चौथी शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक के काल में बनाई गई । भित्तचित्रों की तिथि निर्धारित करने में कहीं कहीं अंकित दाता अथवा कलाकार के नामकी लिखावट से भी सहायता मिली है । इसके अतिरिक्त शैली तथा रंगों का प्रयोग भी इस सन्दर्भ में सहायक है । उदाहरण के लिए कूचा के चित्रों को तीन शैलियों तथा कालों में रखा गया है । प्रथम भारतीय-ईरानी है जिसे ईसवी की पांचवीं-छठीं शताब्दी में रख सकते हैं । इसका आधार किजिल में चित्रकार की गुफा में ब्राह्मी लिपि में लिखित उसका नाम है जो पांचवीं शताब्दी के ब्राह्मी अक्षरों में है । इसके अतिरिक्त यहां की कला पर गंधार की बौद्ध यूनानी कला के प्रभाव की अधिकता है तथा भारतीय और ईरानी प्रभाव का मिश्रण भी पूर्णतया मिलता है । इसी का पूर्णतया विकसित रूप द्वितीय भारतीय-ईरानी शैली के नाम से है जिसका काल ईसवी की छठवीं शताब्दी है । इसमें वस्त्रों

की प्रधानता है तथा रंगों में नीलोपल तथा हल्के हरे रंग का प्रयोग किया गया है जबकि प्रथम काल के चित्र आब्रमू-धूसर (ब्राउन-ग्रे) रंगों मेंहै। कुम्तुर और तुरफान में तृतीय शैली के चित्र मिलते हैं जिसको 'बौद्ध-चीनी'नाम दिया गया है और इनका समय ईसवी का 750–950 है। इसमें पूर्वी चीनी प्रभाव मुखाकृत, वेशभूषा एवं अलंकार से प्रतीत होता है तथा इनका अच्छे ढंग से समन्वय भी किया गया है। चित्रों के काल निर्धारण में विद्वानों का एक मत नहीं है।[२] हम्बिस के मतानुसार प्रथम शैली की तिथि चौथी से पांचवीं शताब्दी, दूसरी की पांचवीं से आठवीं, तथा तृतीय की आठवीं से दसवीं शताब्दी है। इस आधार पर जो अन्य पदार्थ प्राप्त हुए हैं उनको भी निश्चित रूप से किसी काल में नहीं रखा जा सकता है।

मध्य एशिया की कला कृतियों को दो क्षेत्रीय भागों में मुख्यतया रखा जा सकता है। पश्चिमी ओर काशीहार तथा किजिल क्षेत्रीय तथा पूर्वी और तुरफान के मरुद्यान की कला। पश्चिम ओर की शिल्पीय कृतियां तथा चित्रों का सम्बन्ध अधिकांश रूप में हीनयान मतावलम्बियों और उनके विहारों से है और यह ईसवी की छठवीं शताब्दी के पहले के हैं। तुरफान की कृतियां नवीं शताब्दी तक की हैं और उनका भारत के साथ केवल बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में होने के कारण ही सम्बन्ध है। वास्तव में यह थांग काल की कला का प्रान्तीय रूप है। मध्य एशिया में तो वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तथा कलाकृतियों के समन्वय के ही उदाहरण मिलते हैं। इन कलाकृतियों का क्षेत्रीय रूप में अध्ययन उपयुक्त होगा और इससे भारतीय अनुदान तथा प्रभाव की मात्रा का भी मूल्यांकन किया जा सकेगा।

मिरान चित्रकला

मध्य एशिया की प्रारम्भिक कला मिरान क्षेत्र से आरम्भ होती है जहां पर वृत्ताकार धार्मिक बौद्ध स्थान में सम्पूर्ण आन्तरिक भित्तियों पर बने चित्रों में जातक कथाएं, पंखहार देवताओं तथा माला लिए कामगण दिखाए गए हैं। इन चित्रों के नीचे टित अथवा टाइटस नामक चित्रकार का नाम भी अंकित है जो कदाचित् रोमन साम्राज्य के पूर्वी भाग का निवासी रहा होगा। इन चित्रों में गन्धार कला में पत्थरों पर खुदी जातक कथाओं को दिखाया गया है। कहा जाता है कि मध्य एशिया के दक्षिण-पश्चिम भाग का सम्पूर्ण क्षेत्र

यूनानी-रोमन कला प्रभाव के अन्तर्गत था जो गन्धार से वहां पर पहुंचा। इस प्रकार बौद्ध कला को पाश्चात्य प्रभाव के अन्तर्गत किया गया। इस पर कुछ ईरानी प्रभाव भी पड़ा जो स्थानीय था। दक्षिणी व्यापारिक मार्ग पर स्थित मिरान की चित्रकला पूर्णतया भारतीय है जो गन्धार शैली पर आधारित है। यहीं से बौद्ध प्रतिभा लक्षण तथा शैली के कुछ अंगों को तुन-हुआंग गुफाओं के प्राथमिक चित्रों में भी अपनाया गया। इस प्रकार मिरान गन्धार कला का पूर्वी तुर्किस्तान में प्रहरिस्थान बना। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन चित्रों की तिथि निर्धारण के लिए कुछ खरोष्ठी लेखों से संकेत मिल सकते हैं। इनमें से एक विश्वन्तर जातक की कथा से सम्बन्धित हाथी के पैर पर अंकित 'तित' नाम से है जो टाइटस नामक कोई पाश्चात्य यूनानी अथवा रोमन कलाकार रहा होगा। खरोष्ठी के अक्षर लू-लान, नीया तथा इन्देरे में मिले अन्य खरोष्ठी लेखों से मिलते हैं और इनकी तिथि वुसागली के अनुसार ईसवी की तीसरी-चौथी शताब्दी रही होगी। स्टाइन के मतानुसार मिरान भी लू-लान की भांति किसी अज्ञात परिस्थिति में परित्याजित कर दिया गया था।[4]

मिरान की चित्रकला की प्रविधि (तकनीक) से प्रतीत होता है कि यह चित्र एक ही कलाकार तथा उसके शिष्यों द्वारा बनाए गए थे। दो उपासकों वाला चित्र (नं० 1)[5] जो इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में है, मिरान के भित्तचित्रों में सबसे प्राचीन प्रतीत होता है। यूनानी रोमन कला का प्रभाव इसमें वेशभूषा तथा हल्का रंग और बड़ी बड़ी आंखों से प्रतीत होता है जो गन्धार कला की देन थी। दोनों उपासकों के चेहरे से विस्मय का भाव प्रतीत होता है। नेत्र, कान तथा नाक बड़ी और मोटी है। केश ठंड में सम्हारे हैं और दोनों गालों को बालों की लटें चूमती दिखाई गई हैं। ओठों पर हल्का लाल (सिन्दूर) रंग लगा है। दोनों ही एक तरह का कुर्ता पहिने हैं। वर्त्तना प्रकाश और छाया हल्के तथा गहरे रंग के प्रयोग से चित्रित किया गया है। मिरान भित्तचित्रों में एक में छः भिक्षुओं सहित बुद्ध जी दिखाए गए हैं (नं० 1)[6]। इसमें बुद्ध जी तथा अन्य भिक्षुओं के नेत्र और कान बड़े हैं। बुद्ध जी की उष्णीस सम्पूर्ण नहीं है। बालों की लटें छोटी तथा कटी प्रतीत होती हैं। मूंछ नीचे की ओर झुकी हुई है। एक हाथ अभय मुद्रा में है। वह संघाटी पहिने हैं। पीछे एक प्रतिभा मण्डल (हैलो) भी है जो टूटा

हुआ है। भिक्षुओं के शीश मूढ़े हुए हैं तथा यह दो पंक्तियों में चित्रित हैं। अगली पंक्ति में चित्र के दाहिनी ओर वाला भिक्षु एक पत्ते के आकार का पंखा लिए हैं। उस चित्र में बुद्ध जी के ओठ पर रंग नहीं है पर सब भिक्षुओं को ओठों पर लाल रंग लगा है। सबके नेत्र बुद्ध जी की ओर है। एक अन्य व्यक्ति जो चित्र में नहीं है के हाथ में कुछ पुष्प है। आवभू-भूसर (ब्राउन-ग्रे) का प्रयोग अधिक है यद्यपि कहीं-कहीं पर हल्का रक्तातिनीतल और आषध (गुलाबी) रंगों की झलक भी मिलती है। एक अन्य चित्र[7] (नं० 2) में सिंघासन पर आसीन एक व्यक्ति, जो भारतीय वेशभूषा में धोती पहिने, कन्धे पर दुपट्टा डाले तथा शीश पर एक प्रकार की घोंघेदार पगड़ी या ऊंची टोपी पहिने है, हाथ जोड़कर प्रणाम कर रहा है। उसकी गिरी हुई मूछें तथा गालों का चुम्बन करती बालों की लटें सुन्दरता से चित्रित हैं। जिस व्यक्ति को यह प्रणाम कर रहा है उसका बायां हाथ घुटने पर है और दाहिने से वह कुछ संकेत अथवा आदेश दे रहा है। एक अन्य व्यक्ति का हाथ भी मुद्रित है। चित्र में काले तथा नीले रंग का भी प्रयोग किया गया है। इस चित्र की पहचान नहीं हो सकी है। यह भी भारतीय राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, में है। मिरान के एक अन्य चित्र में स्त्री को मालाओं से अलंकृत किया गया है। मिरान की कला में यूनानी-रोमन प्रभाव जो गन्धार से आया था के अतिरिक्त ईरानी-पार्थियन प्रभाव भी नेत्रों के चित्रण तथा मौलि या पगड़ी से प्रतीत होता है। इन चित्रों में बुद्ध जी की प्रधानता है और उनके व्यक्तित्व को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। प्रतीक प्रयोग (सिम्बालिजम) के दृष्टिकोण से प्रधान व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अनुपात कहीं अधिक है। आगे की कला में कथात्मक विषय से सम्बन्धित चित्रों में भी बुद्धप्रधानता दिखाई गई है। भारतीय शिल्प शास्त्रों पर आधारित भित्तचित्रों के सम्बन्ध में दिए गए आदेशों का मध्य एशिया की चित्रकला में पालन किया गया है और मिरान ही इसकी आधार भूमि बनी। पूर्वी क्षेत्र में भी, जहां चीनी प्रभाव है तथा पृष्ठिभूमि (लैंडस्केप) और कथानक विषयों को यथेष्ट स्थान दिया गया है, बुद्ध का चित्र अन्य चित्रों के संदर्भ में बड़े अनुपात के साथ बनाया गया है जिससे उनकी प्रधानता प्रतीत हो। गन्धार शिल्प कला की भांति मिरान के चित्रों का विषय मानवीय है। वेशभूषा साधारण है तथा जूते पहिनेव्यक्तिकहीं भी नहीं है। आभूषणों का भी अभाव है तथा कमल साधारणतया चित्रित है।

मिरान से 450 मील दक्षिण पश्चिम में डोमोको क्षेत्र में भी फरहद-वेग-यैलाकी तथा उसके निकट बलावस्ते से भी भित्तचित्र मिले हैं। प्रथम स्थान पर एक नष्ट विहार में कुछ चित्र मिले हैं जिनमें मिरान की परम्परा के अनुसार साधारण वेशभूषा तथा सरलता अपनाई गई है यद्यपि आकृति में मंगोली प्रभाव छोटे नेत्रों से प्रतीत होता है। कदाचित यह बोधिसत्व का चित्र है जिसका शरीर संघाटी से ढंका है। ऊष्णीस काले रंग का दिखाया गया है। वहीं से एक चित्र (नं. ३) में हरीती और उसके बच्चों को भी दिखाया गया है।[8] इसकी समानता ईसाई मडोना से की गई है। यहां पर उसे बच्चों के रक्षक के रूप में दिखाया गया है। उसके बड़े स्वप्निक नेत्र बालों की लटों का घुमाव तथा भरे हुए गाल ईरानी प्रभाव का प्रतीक है तथा कंचुली जिसकी बाहें छोटी है चीनी प्रतीत होती है। इसी क्षेत्र में बलावस्ते में कई चित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक उपासक के सुन्दर चित्र में उसे घुटने टेक कर ध्यान मग्न होकर दिखाया गया है जो अजन्ता के चित्रों से मिलता है। नं 4 रेखाचित्र के सिद्धान्त से इसमें कुछ भूलें रह गई हों जैसे बायें हाथ के बाजूबन्द का उल्टा दिखाना, गर्दन टेढ़ी होना, हथेली के बाहरी भाग पर चिन्ह अंकित करना, पर भावात्मक दृष्टि से चित्र में एकाग्र चित्त होकर ध्यान तथा नम्रता दिखाई पड़ती है। पात्रों की वेशभूषा भारतीय है, आभूषण कर्ण, गले, बांह में पहिने दिखाये गये हैं पर शीश की टोपी स्थानीय अथवा ईरानी प्रतीत होती है। खोतान क्षेत्र महायान बौद्ध धर्म के लिए प्रसिद्ध था और इस संदर्भ में ध्यान मुद्रा में बलवस्ते के भित्तचित्र विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बुद्धजी पद्मासन में बैठे हैं तथा वह ध्यान मुद्रा में हैं। उनके वक्षस्थल पर ताँत्रिक चिन्ह अंकित हैं जैसे सूर्य, चन्द्र, कमल पुष्पों से निकलती दो प्रज्वलित मणियाँ अथवा हाथों में दो पुस्तकें जिनसे अग्नि की लौ। बीच में एक त्रिरत्न की तरह का चिन्ह है तथा उसके नीचे एक दौड़ता घोड़ा दिखाया गया है और एक सासानी मुकुट भी है। दौड़ते घोड़े से जीवन तथा अमर होने का संकेत है।

बलावस्ते से प्राप्त एक देवता का चित्र भी उल्लेखनीय है जो इस समय राष्ट्रीय संग्रहालय नई दिल्ली में है[9]। ऊपर से यह शिव का चित्र है जिनके तीन शीश हैं और तीनों की मुख भावना अलग अलग है। मध्य शीश में त्रिनेत्र साफ दिखाई पड़ता है और ऊष्णीश के ऊपर एक कपाल रखा है। वे कर्ण ग्रीवा तथा बाहु में आभूषण पहिने है। तांत्रित चिन्ह भी हाथों पर अंकित

हैं। यह सूर्य, चन्द्र, वज्र तथा दाड़िम (अनार) है। यह नृत्य मुद्रा में हैं। वेशभूषा पूर्णतया भारतीय है। धोती का पल्ला बायें हाथ पर पड़ा है और इसकी परतें दिखाई गई है। प्रत्यक्ष में एक शिव का चित्र है पर बुसागली के अनुसार यह किसी बौद्ध देवता का है और चित्रण में बौद्ध तांत्रिक एवं शिव प्रतिमा से संबन्धित लक्षणों का प्रभाव है ।

खेतान कला

खोतान क्षेत्र में दन्दान उलीक से भी चित्रकला के सुन्दर प्रतीक मिले हैं। यहां पर बहुत से बौद्ध हस्तलिखित ग्रन्थ भी प्राप्त हुए हैं जिनसे इनकी तिथि निर्धारित हो सकती है। 'प्रज्ञापारमिता' गुप्तकालीन ब्राह्मी में है और 'वज्र-छेदिका' भी ब्राह्मी लिपि में है। अन्य ग्रन्थ सातवीं-आठवीं शताब्दी के हैं। इसके अतिरिक्त आठवीं शताब्दी के कुछ चीनी सिक्के भी मिले हैं। देवस्थान ही में चित्रकला के कुछ अवशेष है जिनपर भारतीय प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से प्रतीत होता है। पूर्व की ओर एक बुद्ध का बैठी हुई अवस्था में चित्र है। वह गहरा लाल-भूरे रंग की संघाटी पहिने हुए है तथा बायीं ओर एक युवक किसी वृद्ध व्यक्ति के साथ बैठा है जो हाथ उठाए है। इससे यह प्रतीत होता है कि वह कुछ आदेश दे रहा है। सबसे सुन्दर भित्त चित्र एक नागी का है जो खिले कमलों से भरे एक तालाब (तड़ाव) में खड़ी है। यह नाग कन्या नग्न है और मणियों से अलंकृत है। छोटे-छोटे गहनों तथा मोतियों की चार लटों से उसकी जांघ तथा मध्य भाग ढका है। उसके पैरों के पास एक छोटा पुरुष पानी से निकलता चित्रित है और बायीं ओर एक अन्य व्यक्ति कदाचित् तैर रहा है। तड़ाग-तालाब के सामने एक घोड़ा खड़ा है। कदाचित् यह चित्र य्वांग-चांग द्वारा उल्लिखित एक नागी विध्वा से सम्बन्धित है जिसने खोतान के शासक से एक पति की याचना की थी। चित्र साधारण है पर स्वाभाविकता के लिए महत्वपूर्ण है। कदाचित् यह गंधार अथवा गुप्त कला से प्रेरणा लेकर चित्रित किया गया है यद्यपि आरल स्टाइन ने नागी के भाव प्रदर्शन में पाश्चात्य यूनानी कला का प्रभाव माना है। इसके अतिरिक्त देवस्थान [10]के कुछ चित्र भी, जिनमें एक नर्तकी कदाचित् गणेश तथा एक दाढ़ी वाले व्यक्ति जिसके दोनों ओर दो दो व्यक्ति खड़े कोई वादवृन्द करते दिखाए गये हैं उल्लेखनीय है। तृतीय चित्र कदाचित् शिव का प्रतीत होता है[11] और इसकी तुलना बलावस्ते के चित्रित शिव से की जा सकती है ।

दन्दान उलिक के कुछ अन्य चित्र भी उल्लेखनीय है, जिनमें से कुछ ब्रिटिश संग्रहालय, लन्दन, में सुरक्षित हैं । लकड़ियों पर चित्रित कौशेय या रेशम कुमारी[12] जो देवस्थान डी–10 में पाया गया ईसवी की सातवीं शताब्दी का है । इसमें कुमारी का चेहरा गोल तथा भारी है । आंखें भी मिरान चित्रों की अपेक्षा छोटी हैं । शीश के बालों की लटें कन्धों तक फैली हुई हैं । मुकुट में सामने मणि जड़ा प्रतीत होता है । एक ही वस्त्र सम्पूर्ण शरीर को ढके है और यह चीनी चोगा है जिसमें एक छोर को दूसरे से ढका है । इसी से आधी बांह भी ढकी है । उनके सामने एक टोकरी में कुछ रखा है जिससे कदाचित उन रेशम के कीड़ों का संकेत है जो चीन में पाले जाते थे और इनको यह राजकुमारी अपने साथ खोतान में लाई थी । बायीं ओर एक व्यक्ति अपने बायें हाथ की उंगली से कुछ संकेत कर रहा है तथा दाहिनी ओर कोई चतुर्भुंज देवता है । इसका आमुख चीनी है पर वेशभूषा स्थानीय प्रतीत होती है । वह सामने वाले दाहिने हाथ में कोई प्याला लिए है और पिछले दो हाथों में कुछ अन्य पदार्थ हैं । प्रतिभा मंडल से इसके देवत्व का संकेत मिलता है । इस चित्र में चीनी प्रभाव बहुत अधिक प्रतीत होता है । इसके विपरीत देवस्थान डी–7 से लकड़ी की पट्टी पर चित्रित (ईरानी) बोधिसत्व का मुख, आकृति, वेशभूषा इत्यादि ईरानी शैली में चित्रित है और इससे स्थानीय कला का सागडियन शैली से सम्बन्ध ज्ञात होता है । काली दाढ़ी तथा मूंछ वाले चतुर्भुंज बोधिसत्व एक चुस्त चोल चोल वस्त्र पहिने हैं । उनके नेत्रों से क्रोध की भावना प्रतीत होती है । वह पीछे के हाथ में एक प्रकार का चाकू तथा कोई अन्य शस्त्र और सामने वाले बायें हाथ में एक प्याला लिए है । सामने का दाहिना हाथ दाहिनी जांघ पर है । लम्बे जूते आधे पैर तक ऊँचे हैं । इन चित्रों से यह प्रतीत होता है कि दन्दान उलीक में भारतीय ईरानी एवं चीनी कलाकार अथवा उनकी चित्रकला शैलियों का समन्वय था । एक अन्य चित्र[13] जो ब्रिटिश संग्रहालय में है के ऊपरी भाग में एक व्यक्ति काले चित्तीदार घोड़े पर सवार है और दूसरा निचले भाग में ऊंट पर बैठा है । दोनों के हाथ में प्याला है तथा शीश के पीछे जगद (निम्बस) है जिससे इनके देवत्व अथवा अभिजात (नोबुल) व्यक्तित्व का पता चलता है । दोनों के दाहिने हाथ में पकड़े प्याले से कोई पक्षी कुछ लेना चाहता है । इसी चित्र के पीछे एक तांत्रिक देवता दिखाए गए[14] हैं जिसका उल्लेख पहिले हो चुका है ।

खोतानी कलाकारों ने अपने क्षेत्र में ख्याति प्राप्त करने के अतिरिक्त चीन में भी प्रवेश किया। उत्तरार्द्ध सुई तथा थांग काल में इन्होंने चीन जाकर बौद्ध धार्मिक चित्र बनाए। वाई-ची (विजय) तथा उसका पुत्र वाई-यी-इ-सेंग उस समय के प्रसिद्ध कलाकार थे जिनका चीन में भी नाम था। खोतान की कला पर भारतीय, सागडियन तथा चीनी प्रभाव अवश्य पड़ा पर स्थानीय कलाकारों ने भी इनका समन्वय करके अपने दृष्टिकोण से स्वच्छंद होकर बौद्ध धर्म से सम्बन्धी कृतियों—जिनमें बुद्ध, बोधिसत्व तथा जातक कथाएं हैं—को चित्रण करने का प्रयास किया। इसमें यह सफल हुए। महायान मत से सम्बन्धित होने के कारण कला में तांत्रिक चिन्हों का भी प्रयोग किया गया तथा ब्राह्मण धर्म—मुख्य रूप से शिव की प्रतिमा लक्षणों को भी बौद्ध देवता—बोधिसत्वों के चित्रों के सन्दर्भ में अपनाया। इसीलिए कला की दृष्टि से यहां के कुछ चित्र—मुख्यतया उस देवता के जिसे शिव माना गया है, की बलावस्ते के बोधिसत्व से तुलना की गई है। दक्षिण मार्ग पर मिरान तथा खोतान ही मुख्य रूप से कला केन्द्र थे।

नीया तथा इन्देरे में भी कला कृतियां मिली हैं पर प्रथम स्थान में मोहरें, कपड़े और चीनी तथा खरोष्ठी में लिखे उल्लेख ही प्रमुख हैं। एन 2 में एक लकड़ी की कुर्सी पर अलंकृत चिन्ह (मोटिव) गन्धार कला से मिलते हैं एन 3 में प्रवेश दीवार पर पांच पंखड़ियों वाले पुष्प लाल रंग में बने दिखाई पड़े। इन्देरे में एक स्तूप के अवशेष तथा निकट के एक मन्दिर के अंश प्राप्त हुए तथा आन्तरिक भाग में कई मिट्टी की मूर्तियां भी मिलीं। इनका पहनावा दन्दान उलीक की भाँति था। यह मूर्तियां रंगी हुई थीं जो केवल कपड़े की परतों के नीचे ही दिखाई पड़ता है। भूमि पर गिरे हुए भाग में चतुर्भुज वाले गणेश अथवा विनायक का भी एक पेनेल पर बना चित्र मिला। खोतान क्षेत्र में रवाक नामक स्थान से बहुत सी बुद्ध, बोधिसत्व तथा अरहतों की मूर्तियां भी मिलीं जिनपर रंग किया हुआ था। इनके अतिरिक्त द्वारपालों की मूर्तियां भी बनाई गई। यह सब गन्धार कला के बहुत ही निकट हैं। इन कला क्षेत्रों का पतन न तो एक समय में और न एक कारणवश ही हुआ। मध्य एशिया में चीनियों के आधिपत्य के फलस्वरूप नीया को ईसवी की तीसरी शताब्दी में छोड़ देना पड़ा, दन्दान उलीक तथा इन्देरे तिब्बती आक्रमण के कारण ईसवी की आठवीं शताब्दी में त्याग दिए गए और योतकन मुसलमानी आक्रमणों

का शिकार बना । खोतान के निवासी पानी के अभाव तथा परिस्थितियोंवश अपने स्थान छोड़ने पर बाध्य हुए और प्रकृति ने बचे हुए अवशेषों को अपने आंचल से ढंक लिया ।[15]

कूचा कला: तारिम क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय मार्ग पर प्राचीन कूचा राज्य भी कला-कृतियां से परिपूर्ण था । किजिल तथा कुमतुरा में चट्टानों से कटे मन्दिर (विहार), दुलदुल-अखुर तथा स-वशि के मन्दिरों के अवशेष तथा किजिल-कर्ग, हिसार इत्यादि कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं । इनके अतिरिक्त इस क्षेत्र में कुछ अन्य छोटे कला सम्बन्धित स्थान भी हैं । यहां पर गन्धार कला का प्रभाव तुमशुक होकर आया और हद्दा तथा फुन्दुकिस्तान की कला गिलगिट से उत्तरी रेशम मार्ग द्वारा यहां पहुंची । तुमशुक में भित्तचित्र के कुछ अंश ही बचे हैं और इनसे कला की प्रगति का संकेत मिलता है । भारतीय प्रभाव, जो बौद्ध धर्म और उसके अन्तर्गत गन्धार कला से सम्बन्धित था तथा यूनानी-रोमन प्रभाव जिसका भी गन्धार कला में पूर्ण अनुदान था, के अतिरिक्त कूचा में चीनी कला ने भी शोरचुक तथा कुमतुरा के मार्ग से यहां प्रवेश किया । इन सभी स्थानों पर बौद्ध मन्दिरों तथा विहारों के अवशेष मिले हैं तथा कशहिार और शोरचुक, जो कूचा के पूर्व में कला के केन्द्र थे, में भी बौद्ध धार्मिक अवशेष के समूह मिले हैं । शोरचुक में तो कोई छोटे बड़े 100 विहारों के खण्हर है । यहाँ के स्तूपों तथा विहारों के निर्माण खोतानी, मुख्यतया दन्दान-उलिक की वास्तुकला के आधार पर हुआ था । कुछ विहारों से चित्रकला के अंश भी प्राप्त हुए हैं । देवस्थान XIII की प्रदक्षिणा पथ में तथागत के सामने उनके शिष्यों को दिखाया गया है तथा पेड़ों से घिरे स्थान में शिष्य के पठन-पाठन तथा लिखना भी चित्रित है। यह सब चित्र उइगुर के समय के हैं तथा इन पर पूर्णतया चीनी प्रभाव दिखाई पड़ता है । गुहा नं में एक लकड़ी की तख्ती पर खोतान की भांति एक बोधिसत्व को पैर नीचे किये चित्रित किया गया है। यह पूर्ण रूप से भारतीय है पर इन गुहा चित्रों में भारतीय चीनी प्रभाव का चित्रण है। गुहा नं04 में बोधि सत्व का एक भूखी शेरनी और उसके बच्चे के पास अपने को प्रस्तुत करने का दृश्य दिखाया गया है। यह किजिल की गुहा नं03 में भी चित्रित है। गुहा नं0 9 में परिनिर्वाण दृश्य चित्रित है। अस्थियों के विभाजन में भारतीय राजाओं को विभिन्न कपड़ेपहिने दिखाया गया है। भार नामक राक्षस का बुद्ध जी के ऊपर आक्रमण का दृश्य

शोरचुक तथा दन्दान उलिक (डी–2) की भांति चित्रित है।

शोरचुक में चित्रकला तथा शिल्पकृतियां भी बहुतायत से मिलती हैं। बहुत सी मिट्टी की मूर्तियां भी मिली हैं तथा शरीर के विभिन्न अंगों को मिट्टी के सांचे में बनाकर दीवार से जोड़ कर रंग दिया जाता था। तुमशुक और कूचा में भी इसी प्रकार दीवार से निकले मिट्टी के यह भाग मिले हैं। चूने की बनी मूर्तियों के सिर भी पाये गए हैं तथा सम्पूर्ण मनुष्य का स्वरूप भी निर्माण किया गया जो गंधार कला से प्रेरणा लेकर अथवा उसी आधार पर बनाया गया था। सुवाशी में भी कुछ चित्र कला के अवशेष मिले। एक में बोधिसत्व के साथ गायकों को दिखाया गया है। भारतीय और सासानी प्रभाव प्रतीत होता है और इनकी तिथि ईसवी की चौथी -पांचवीं शताब्दी होगी।

किज़िल और कुम्तुरा की चट्टानों से कटे विहार कला की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इनमें कुछ भित्तचित्र भी हैं। भारतीय और ईरानी प्रभाव से बने चित्रों की तिथि चौथी से आठवीं शताब्दी तक की है और यह सम्पूर्ण तारिम नदी के थाला क्षेत्र में पाये जाते हैं। इसके बाद चीनी प्रभाव अधिक रहा और यह कला के लुप्त होने तक बना रहा। किज़िल के चित्रों में जो इस समय बर्लिन संग्रहालय में हैं, कुछ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एक चित्र[16] में एक भिक्षु, जिसका चेहरा गोल है और आंखें छोटी हैं, ध्यान मुद्राओं में बैठा है। उनका शरीर पूर्ण रूप से ढंका है और पीछे के भाग में एक कपाल चित्रित है। एक अन्य चित्र [17] में एक ग्वाला लम्बी लाठी लिए खड़ा है। घुटनों के ऊपर का भाग फेटेदार धोती से ढंका है जिसकी चुन्नटें दिखाई पड़ रही हैं। ऊपर वह एक डुपट्टा डाले हैं। वेश भूषण तथा मुखाकृति से उसकी भारतीयता होने में कोई सन्देह नहीं है। नीचे दो पशु-कदाचित् गायें बैठी हैं जिनकी आकृति भिन्न है। नेत्रों से विस्मय भाव प्रतीत होता है। एक अन्य चित्र [18] में तीन व्यक्ति तैरते दिखाए गए हैं, तथा पानी में कुछ फूल अथवा कमल भी चित्रित हैं। युवक योगी के चित्र [19] में भारतीय लक्षण प्रतीत होते हैं। लम्बा चेहरा, ध्यानावस्था में मुद्रित आंखें और शीश पर जटामुकुट भारतीय प्रभाव का संकेत करते हैं। यह तीनों चित्र लगभग 500 ई० के माने गए हैं। यहां महा कश्चप का चित्रित [20] शीश 600–650 ई० का माना गया है और इसकी आकृति, मूंछ (स्मश्रु) तथा दाढ़ी से ईरानी अथवा सागडियन प्रभाव

प्रतीत होता है। उसी समय के भिक्षुओं और दानियों के सामूहिक रूप में दो चित्रों की मुखाकृति तथा वेषशभूषा चीनी है और इसी रूप में एक घुटने टेकने वाले भिक्षु का भी चित्र है।[21] इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि कूचा की प्राथमिक चित्र कला भारतीय थी और इसके बाद क्रमशः ईरानी और चीनी प्रभाव इस पर सातवीं शताब्दी से आरम्भ हुआ। इनके अतिरिक्त बहुत से चित्रों से जो किज़िल से प्राप्त हुए हैं, कूचा कला की विभिन्न कालीन शैली तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों का सूचक हैं[21]। किज़िल से प्राप्त एक बड़े चित्र का उल्लेख बकोफर ने अपने ग्रंथ 'दी आर्ट आफ इंडियन एशिया' (पृ0 201 से) में किया है। यह पहिले बर्लिन संग्रहालय में था पर अब नष्ट हो गया। इसका चित्र इस पुस्तक में उद्धृत है (नं 613)। इसका विषय भारतीय है पर कला शैली चीनी है। 'प्रणधिचर्य' अथवा दृढ़ निश्चित पथ को चित्रित करने के लिए दो व्यापारियों द्वारा अपनी सम्पूर्ण निधि को बुद्ध के चरणों पर अर्पित किया गया है। यह दोनों दाहिनी ओर की अन्तिम फलक में ईरानी वेशभूषा में दिखाए गए हैं। सम्पूर्ण कथा छः फलकों में चित्रित है। बीच में बुद्धजी का चित्रण है। उनका दाहिना हाथ अभय मुद्रा में है और बायां 'वरद' में है जिससे रक्षा तथा इच्छापूर्ति का संकेत है। चित्र के ऊपर ब्राह्मी लिपि और संस्कृत में लिखा है कि एक हाथी, एक घोड़ा, सोना, स्त्रियां, मणि और मुक्तों के साथ में छः विजेताओं की पूजा हेतु जा रहा हूँ। चित्र में देव पुरुषों, महानुभावों एवं ऊंट, घोड़े, वज्रपाणि को भी चित्रित किया गया है। एक अन्य चित्र में (नं 612) में अजातशत्रु द्वारा बुद्ध के परनिर्वाण का दुखद समाचार चित्रित है। इन दोनों चित्रों में भारतीय, पर्सिसन सासानी, तथा चीनी प्रभावों का सम्मिश्रण पाया जाता है। कुमतुरा के चित्र तृतीय शैली के हैं जो प्रधानतया चीनी हैं। इसका ज्ञान हमको कुछ चित्रों की आकृति से लगता है। एक चित्र में बुद्ध के सामने एक भिक्षु प्रार्थना कर रहा है[22]। बुद्ध पद्मासन तथा ध्यानावस्था में बैठे हैं। एक अन्य चित्र में तुषित स्वर्ग के देवताओं का चित्रण है[23]। इन दो देवताओं की मुखाकृति चीनी है। इसी प्रकार उपासना करते बोधिसत्व का चित्र भी है[24]। यह चित्र आठवीं-नवीं शताब्दी का है। इसमें हरे और नीले रंग का अधिक प्रयोग है। इसी समय की शोरचुक गुहा 7 से प्राप्त स्त्रीदान दाताओं के चित्र भी हैं। इसमें चारों चित्रों की

मुखाकृति चीनी है–मुंह गोल, आंखें छोटी तथा नाक चपटी है। ये नं (5, 6) कूचा के चित्र जो भारतीय, ईरानी तथा चीनी शैली अथवा प्रभाव से बने हैं, मध्य एशिया की कला में अपना स्थान रखते हैं। यह चित्र भिक्षुओं के जीवन तथा जन साधारण से सम्बन्धित है और कला की दृष्टि से इनका अपना ही स्थान है।

तुरफान[25]

मध्य एशिया का अंग होते हुए भी तुरफान का कला के क्षेत्र में पृथक् अस्तित्व है। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त यहां नोनीसिएन तथा नेसटोरियन मतों ने भी धर्म तथा कला के क्षेत्र में अपना अनुदान दिया। बौद्ध धर्म का प्रवेश यहां ईसवी की चौथी या पांचवीं शताब्दी में हुआ तथा नवीं शताब्दी में तंत्र-वाद बौद्ध विचारधारा का प्रसारण तिब्बतियों द्वारा हुआ। बाद में इस्लाम ने भी यहां प्रवेश किया और उइगुर राज्य के बाद उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया। मंगोलों के समय बौद्ध धर्म तथा नेसतोरियन मत कुछ समय तक रहा, पर 15 वीं शताब्दी के बाद यह दोनों नष्ट हो गए और इस्लाम ही रह गया। तुरफान क्षेत्र में मुख्यतया कोचो नामक स्थान की कला-कृतियां काशगार, कूचा तथा तुमशुक से मिलती जुलती हैं। यह चीनी प्रभाव से अलग हैं। चित्रकला के क्षेत्र में यहां पर भारतीय ईरानी तथा चीनी और तिब्बती प्रभाव मिलता है। तुरफान की चित्र कला में कई प्रक्रमों (स्टेजेस) का पता चलता है। पहले युग में तारिम से आया पाश्चात्य प्रभाव विदित है और यह लगभग सातवीं आठवीं शताब्दी तक रहा। दूसरे काल में चीनी प्रभाव है जो आठवीं शताब्दी के अन्त तक है। तीसरे में पुनः पाश्चात्य प्रभाव है जो उइगुर शासकों से सम्बन्धित है। यह प्रभाव भी थोड़े समय तक रहा और इसके बाद चीनी और बौद्ध तांत्रिक प्रभाव दसवीं शताब्दी या उसके कुछ पहले आरम्भ हो गया। इस सन्दर्भ में तुरफान क्षेत्र में कला की दृष्टि से बजाक्लिक और मुरतुक महत्वपूर्ण स्थान है। यहां पर वास्तुकला से सम्बन्धित चट्टानों से काटकर बनाए गए विहार भी हैं तथा कुछ चौकोर गुम्बज आकार के कमरे हैं। चट्टान काटकर बनाए गए विहारों में बौद्ध चित्रकला के अवशेष पर्याप्त है। यह 9वीं से 11 वीं शताब्दी के समय के हैं तथा इन पर चीनी प्रभाव अधिक है यद्यपि यह तिब्बती तंत्रवाद से सम्बन्धित हैं।

सातवीं–आठवीं ईसवी का बुद्ध का शीश कोचों की एक भित्त (दीवार) में चित्रित [26] है। नुकीली भवें, बड़ी आंखें, मुख की आकृति, ग्रीवा बल तथा ऊष्णीय और लम्बे कानों से प्रतीत होता है कि यह गन्धार कला से प्रेरणा लेकर बनाया गया है तथा जिस कलाकार ने यह चित्रित किया वह चित्रकार एवं शैल रूपकार था। पर इसके विपरीत एक अन्य बुद्ध चित्र [27] जो वज़ाक्लिक में है, पूर्णतया चीनी कलाकार की कृति प्रतीत होती है। इसमें बुद्धजी को दाहिना घुटना टेकते हुए हाथ जोड़कर दिखाया है। उनको मुखाकृति चीनी है– चेहरा गोल और भरा हुआ है और आंखें छोटी हैं। ऊष्णीस तथा भवों के तनाव में कोई भिन्नता नहीं है तथा पहनावे भी वैसा ही हैं।धोती से पैर ढंके हैं तथा उत्तरासंघ (डुपट्टे) से दाहिने वक्षस्थल को छोड़कर बाकी अंग ढका है। दोनों वस्त्रों की चुन्नते साफ दिखाई पड़ रही हैं। इसी प्रकार की मुखाकृति वज़ाक्लिक के उपासक देवता के चित्र से भी प्रतीत होती है। यह राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, में सुरक्षित है[28]। वज़ाक्लिक के एक चित्र[29] में बुद्ध जी के परि निर्वाण के सन्दर्भ में अरब, ईरानी और चीनी महानुभावों को चित्रित किया है जैसा कि उनकी वेशभूष से प्रतीत होता है। इससे बौद्ध धर्म की सार्वभौमता का प्रयास भले ही हो पर इनकी मुखाकृति बहुत ही चौड़ी लगती है, यद्यपि सबके चेहरों से गंभीरता का भाव प्रदर्शित होता है। एक अन्य चित्र में गायक अपने हाथों से भाव प्रदर्शित कर रहे हैं[30]। तुरफान में कुछ प्राकृतिक दृश्य भी चित्रित किए गए हैं तथा उइगुर कुमार और कुमारियों का भी चित्रण है। इस प्रकार यहां पर महायान तंत्रवाद तथा पूर्णतया चीनी प्रभाव के अन्तर्गत जो चित्र बनाए गए उनके अतिरिक्त उइगुर तुर्की लौकिक चित्रों को भी स्थान दिया गया है। वास्तव में यहां की कला मध्य एशिया के और केन्द्रों की कला से अपना पृथक अस्तित्व बनाए हुए हैं यहां की कला अधिक काल तक जीवित रही तथा चीन के निकट होने तथा उससे प्रभावित होते हुए भी इसने उइगुर-तुर्की परम्परा को भी अपनाया। विषयों में बौद्ध धर्म, मुख्यतया तंत्रवाद महायान मत को प्रधानता दी गई पर उसके उपासकों एवं अनुयायियों में अरब, ईरानी और चीनियों को चित्रित करके इसको सार्वभौमता स्वरूप दिया गया। तुरफान क्षेत्र को बाहरी आक्रमणों से अधिक क्षति नहीं पहुँची और इसीलिए बहुत से चित्र यहां सुरक्षित रह सके।

तुन-हुआंग[31]

तुन-हुआंग जो वर्तमान कांसु प्रान्त में है बौद्ध कला का लम्बे काल तक एक विशाल केन्द्र रहा। भौगोलिक परिस्थिति तथा व्यापारिक मार्ग पर होने के कारण यहां पर बौद्ध भिक्षुओं ने अपने रहने के लिये चट्टाने काटकर छोटे बड़े कक्ष बनाए और इसी में बुद्ध की चूने अथवा मिट्टी की बनी मूर्तियों का अनावरण किया। विभिन्न राष्ट्र के लोगों के यहां व्यापारिक वातावरण में मिलने के कारण सांस्कृतिक क्षेत्र में भी विचारधाराओं का समन्वय हुआ और इसका प्रभाव यहां की कला पर भी पड़ा। वर्तमान तुन-हुआंग नगर से कोई 13 मील दक्षिण पूर्व में ईसवी की चौथी से चौदहवीं शताब्दी तक चट्टानों को काटकर कक्ष तथा विहार बनाने का कार्य जारी रहा। शिएन-फो-तुंग नामक सबसे प्राचीन विहार का निर्माण सातवीं शताब्दी के पत्थर पर अंकित एक लेख के अनुसार एक भारतीय भिक्षु ने 366 में किया था और उस समय से एक सहस्र से अधिक बौद्ध विहारों तथा कक्षों का निर्माण हुआ और उनमें मूर्तियां भी स्थापित की गई। इसीलिए इस स्थान को 'एक सहस्र बौद्ध गुहाओं' के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। चीन के उत्तरी वाई, सुइ तथा थांग राजवंशों ने इस कार्य में बढ़ावा दिया। 778 से 848 तक यह तिब्बतियोंके अधिकार में रहा। बाद में यह पुनः चीनी अधिकार में चला गया पर तुन-हुआंग अपना प्राचीन वैभव न प्राप्त सका। व्यापारियों ने इसके उत्तर में सीधा सार्थवाह मार्ग पकड़ना आरम्भ किया और चीन के शासकों में भी इसके प्रति उदासीनता आ गई। फिर भी यह उत्तरी-पश्चिमी सुरक्षा गढ़ के रूप में अपने अस्तित्व को कायम रख सका। इन चट्टान गुहाओं को दो भागों में बांटा है। एक भारतीय विहारों की भांति है। अन्दर का भाग आयताकार है तथा उसमें बुद्ध की मूर्ति के लिए एक आला भी बना है। दूसरे प्रकार कीगुहाएं तारिम थाले में स्थित किज़िल और कुमतुरा की भांति हैं।यह भी आयताकार हैं पर अन्दर इनकी गहराई पहले प्रकार की गुहाओं से अधिक है। सामने एक स्तम्भ छोड़ दिया गया है जिसके अग्रिम भाग पर एक आला कटा है और अन्य दिशाओं में भी छोटे आले हैं। प्रदक्षिणा के लिए तीनों ओर प्रबन्ध है। प्रमुख भाग तथा बुद्ध की प्रतिमा के स्थान को लेकर आगे चलकर कुछ परिवर्तन हुआ। धीरे धीरे पिछली दीवार में आले काटकर बनाने का चलन जाता रहा।

तुन–हुआंग में उत्तरी वाई वंश के समय से महायान मत की ही प्रधानता रही। शिल्प तथा चित्रकला में बुद्ध तथा उनकी जातक कथा दिखाई गई है तथा इनके अतिरिक्त कुछ अन्य देवताओं–सात आदि बुद्ध, भविष्य के बुद्ध मैत्रेय, पांच ध्यानी बुद्ध तथा बोधिसत्वों का निर्माण एवं चित्रण हुआ। शाक्यमुनि की उपासना बन्द नहीं हुई और आठवीं शताब्दी में उनकी विशालमूर्ति का गुहा नं० 158 में अनावरण हुआ। अवलोकितेश्वर जो विपत्ति के समय मनुष्य की रक्षा करते हैं तथा क्षितिगर्भ, जो अगला जन्म सुधार सकते हैं, की मान्यता बढ़ने लगी। चित्रकला में स्वर्ग-सुखावती भी दिखाया जाने लगा। तुन-हुआंग के चित्र एक ही धार्मिक ग्रन्थ पर आधारित है। मतों से सम्बन्धित मूर्तियों, बोधिसत्व, द्वारपालों एवं लोकपालों की मूर्तियां, जो मिट्टी या प्लास्टर की बनाकर रंगी जाती थीं, बाहरी आलों पर रख दी गई। इसके अतिरिक्त मूर्तियों को बनाने के लिए पत्थर तथा लकड़ी का भी प्रयोग होनेलगा। उत्तरी वाई काल में शाक्यमुनि एवं मैत्रेय की मूर्ति का स्थान मुख्य आला था। कभी-कभी शाक्यमुनि के साथ प्रभूतरत्न को भी स्थान दिया जाने लगा। मूर्तियां पद्मासन में भारतीय परम्परा के अनुसार बनाई गई तथा कभी एक घुटने को उठाकर अथवा पैरों को नीचे गिराकर उनका निर्माण किया गया। दो प्रकार से संघाटी का प्रयोग हुआ। एक में शरीर के दोनों कन्धों को इससे ढंक दिया गया और उनके कोने एक दूसरे से बीच में अलग-अलग दिखाए गए। दूसरे में संघाटी से केवल बांया कन्धा ही ढंका है और कपड़े का एक कोना दाहिने कन्धे पर भी है। बाद में चीनी कलाकारों ने अपने ढंग से बुद्ध की मूर्ति का निर्माण किया तथा उनकी मुखाकृति एवं वस्त्र पूर्णतया चीनी ढंग से प्रस्तुत किए गए।

चित्रकला के रूप में तुन–हुआंग की कला साधारण थी। चट्टानों के खुरखुरे स्तर पर मिट्टी का लेप भूसा और पशुओं के बालों को मिलाकर किया जाता था और इसे मुलायम बनाने के बाद उस पर चाक तथा गोंद का लेपन होता था। इसमें टेम्परा के लिये उचित रंग भी मिला दिया जाता था। उस पर फिर चित्र की रेखाएं कोयले से खींची जाती थीं। कभी-कभी कागज पर बने रेखा चित्रों को कूटकर इन पर उतारा जाता था। लाल, नीले, काले, हरे रंगों का स्थानीय पदार्थों से कूटकर प्रयोग होता था। उत्तरी वाई काल के चित्रों में भारतीय प्रभाव प्रधान है। भारतीय विषय, प्रतिमा, लक्षण

17

तथा अप्सराओं एवं अन्य स्वर्गीय वादवृन्दकों तथा गायकों को इस काल में चित्रित किया गया है। भारतीय प्रभाव यहां अफगानिस्तान तथा तारिम थाले के मार्ग से मध्य एशिया के प्राचीन स्थानों में पहुँचा जहां उनमें ईरानी कलात्मक परम्पराओं अथवा शैली के सन्दर्भ में चित्रण किया गया। वहां से यह कला नवीन रूप में तुन–हुआंग पहुँची और उस पर स्थानीय कलाकारों ने अपना अपना प्रभाव डाला। इसमें स्वतंत्र रूप से उन्होंने अपने काल्पनिक विचारों एवं चीनी तथ्यों का कलाकृतियों को नवीन रूप देने में उपयोग किया। इस प्रकार इनको एक प्रकार से मूल स्वरूप दिया गया यद्यपि कला बौद्ध धर्म एवं बुद्ध जी के जीवन काल तथा पूर्व जन्मों से ही मुख्यतया सम्बन्धित थी। इन प्रभावों, निरूपणों एवं नवीनीकरण से चित्रों की बनावट में विभिन्नता प्रतीत होती है। बुद्धजी के विशाल चित्र में बोधिसत्व एवं शिष्य एवं स्वर्गीय व्यक्तियों को छोटा रूप देकर दिखाया है। तुन-हुआंग के चित्रकारों ने बामियान तथा किज़िल में गायन-वादन दिखाते हुए चित्र वल्लरी (Frieze) को भी अपनाया। साथ ही सूर्य और चन्द्र का भी चित्रण किया गया। इनके अतिरिक्त वास्तुकला के भी कई अंगों को पश्चिमी जगत से लिया गया। बुद्धजी के जीवन एवं पूर्व जीवन की कथाओं को भी चित्रित करते समय कलाकारों ने उनमें नवीन स्फूर्ति डालने का प्रयास किया। चीनी वास्तुकला को भी इसमें स्थान दिया जिसमें बाहर की ओर बढ़ती हुई छतें (over- hanging roofs) थीं। जातक कथा चित्रण करते समय प्राकृतिक भू-दृश्यों (landscape) को भी समुचित स्थान दिया गया। पहाड़ों, पेड़ों के अतिरिक्त पशुओं, पक्षियों एवं चीनी सर्प-पशु (ड्रैगन) को भी चित्रों में स्थान मिला। सम्पूर्ण दीवारों में भारतीय शैलीमें बुद्ध जी की मूर्तियां बैठी हुई दिखाई गई है। बाद में सुई काल के चित्र बहुत ही सुन्दर रूप से बनाये गये हैं। तकनीकी तथा रंगों के प्रयोग एवं आकृति प्रदर्शन की दृष्टि से यह कला प्रगति का संकेत करते हैं। एक नवीन भारतीय प्रभाव हस्त मुद्राओं तथा सिंघासन के पृष्ठ भाग को सिंह तथा मकर द्वारा अलंकृत करने से प्रतीत होता है। कुछ ईरानी सासानी प्रभाव भी मोती की भांति मेडालियनों को अलंकृत करने से प्रतीत होता है। चीनी प्रभाव भी प्राकृतिक भू-दृश्यों एवं भवनों से प्रतीत होता है। मंजुश्री (वेन-शू) तथा विमलकीर्ति (वाई-यों) के बीच संघर्ष भी चित्रण है। तांग काल में तुन-हुआंग की चित्रकला अपनी चरम सीमा

पर पहुँच गई थी। भित्तचित्र बड़े आकार के बनाए जाने लगे और रंगों का बहुतायत एवं मिलावट के साथ प्रयोग होने लगा। बुद्ध और बोधिसत्वों की प्रतिमाओं के चित्रण में पुरुष रूप को प्रधानता दी जाने लगी तथा तात्विक स्वरूप (metaphysical form) में चित्रण हुआ। सातवीं शताब्दी से जातक कथाएं चित्रित करना बन्द हो गया और उसके स्थान पर 'सधर्मपुण्डरीक' पर आधारित स्वर्ग के चित्र बनने लगे। प्रायः अमिताभ का स्वर्ग, जो सुखावती से सम्बन्धित है, चित्रों में दिखाई पड़ता है। प्रमुख व्यक्ति के चारों ओर बोधिसत्व, अन्य देवता एवं वाद्य वृन्दक दिखाए गए हैं। स्थाप्य कला से सम्बन्धित प्रासाद, आंगन तथा कमल सरोवर इत्यादि भी सुन्दरता एवं समन्वय के साथ चित्रित किए गए हैं। उत्तरी तांग काल से कला की प्रगति कम होने लगी। तिब्बती अधिकार के समय में यह बहुत कम रही और इसके बाद भी 9वीं शताब्दी के द्वितीय भाग में पुनः आरम्भ हो गई। यहां के चित्रकार सी-शिएन-फो-तुंग (Hsi-chien-fo-tung) जो यहां से कोई 20 मील की दूरी पर था, में जाकर चित्र बनाने लगे। भित्तचित्रों के अतिरिक्त तुन-हुआंग में रेशम, सन के वस्त्र, एवं कागज पर भी चित्र बनाए गए। यह आठवीं से दसवीं शताब्दी तक के काल में बने। इनमें से कुछ बहुत सुन्दर हैं पर अधिकतर साधारण हैं। इनमें महायान मंत्र से सम्बन्धित बुद्ध, बोधिसत्व एवं लोकपालों का चित्रण हुआ। इनमें से कुछ तो बोधिसत्व क्षितिगर्भ तथा कुछ और अवलोकितेश्वर से सम्बन्धित है। कई चित्रों में कुछ तांत्रिक चिन्ह (सिम्बल्स) भी हैं जो नेपाली-तिब्बती प्रभाव का प्रतीक है। भारतीय कला शुद्ध रूप में केवल कुछ ही चित्रों से ज्ञात होती है और वह भी नेपाली मालूम पड़ती है। कुछ चित्र पूर्णतया चीनी कला से सम्बन्धित है। इन दोनों के अन्तर्गत जो चित्र हैं वे स्थानीय कला की देन है जिसका सम्बन्ध चीनी तुर्किस्तान के अन्य कलाकेन्द्रों से रहा होगा। कुल 10 नेपाली चित्र हैं जिनमें एक बोधिसत्व अथवा अन्य देवता का चित्रण किया गया है।

तुन-हुआंग में एक सौ से अधिक गुहों में ईसवी की पांचवीं से तेरहवीं शताब्दी तक के भित्तचित्र बने हुए थे जिस समय पिलिओ ने इनका फोटो कैमरा से चित्र लिया था। पुरानी गुहों में नं० 110 में अन्य चित्रों के अतिरिक्त एक में शेरुक जातक की कथा दिखाई गई है। इस कथा में बुद्ध जी अपने एक पूर्व जन्म में सोने के कुरंग (गैज़ेल) थे और उन्होंने एक मनुष्य

को गंगा में डूबने से बचाया था पर उस मनुष्य ने इसका प्रतिकार उस सोने के पक्षी का पता वाराणसी के राजा को बता दिया जो इसकी खोज में था। राजा को जब इस कथा का विवरण मिला तो वह उस दुष्ट व्यक्ति को मारने पर आतुर हुआ पर कुरंग ने उसे बचा लिया। एक वल्लरी (फ्रीज) में यह कथा क्रम से चित्रित है और विभिन्न अंश एक ही चित्र के भाग प्रतीत होते हैं। चित्रण में कलाकार ने कथा को विधिवत एवं संतुलन के साथ प्रस्तुत किया है। पात्रों को केवल आवश्यक परिस्थिति में ही दिखाया गया है। कथा का कोई अंश छूटा नहीं है। यह चित्र कथा बाएं से दाहिनी ओर के क्रम से प्रस्तुत है जैसा कि चीनी रेशम पर बने चित्रों (स्क्रोलस) में भी है। मुखाकृति कूचा के चित्रों की भांति है। इसके विपरीत 'इव्याघ्री जातक' की कथा, जो गुहा नं0 135 में चित्रित है, दाहिने से बाईं ओर क्रम से दिखाई गई है।

बाहिरी भाग में रेशमी कपड़ों पर बने चित्रों को टांग दिया जाता था। इसका उद्देश्य चट्टान के खुरखुरे भाग को ढंकना तथा स्थान की शोभा बढ़ाना था। तुरफान में इसी प्रकार के पट चित्र बनाए जाते थे। यहां के दो सुन्दर पट चित्रों पर एक में धतृराष्ट और दूसरे में क्षीतिगर्भ को बड़े सुन्दर ढंग से चित्रण किया है। कुछ बड़े कौशेयचित्र भित्तचित्रों को लेकर ही बनाए गए हैं। तांग काल में चीनी चित्रकारों ने बुद्ध जी तथा बौद्ध कला के चित्रों में भारतीय प्रतिभा लक्षणों को पूर्णरूप से अपनाया। एक वृहत् कौशेय चित्र में बहुत से बुद्ध एवं बोधिसत्वों की प्रतिभाओं का चित्रण किया गया है। चीनी कलाकारों ने भारतीय बौद्ध प्रतिभा लक्षणों को अपनाकर अपने ढंग से प्रस्तुत किया और इस प्रकार हिन्द-चीनी शैली का जन्म हुआ। इस शैली की समानता प्रारम्भिक जापानी चित्रकला से भी की जाती है। इस प्रकार मध्य एशिया की कला में प्रारम्भिक काल में गंधार कला का प्रमुख अनुदान था और इसको चीनी कलाकारों ने अपनाया पर उनकी अपनी शैली ने बौद्ध कृतियों को उन्हीं प्रतिभा लक्षणों के आधार पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया और फिर यह कला चीन से जापान भी गई। तुन-हुआंग में बौद्ध कला कृतियों के अतिरिक्त कुछ लौकिक एवं असांप्रदायिक चित्र भी मिले हैं। इनमें से तांग काल के पहले का एक चित्र, जो इस समय ब्रिटिश संग्रहालय में है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। कदाचित् इसे कु-कै-ची द्वारा चित्रण किया गया था और इसका शीर्षक है 'प्रासाद में शिक्षिका की तारणा'। स्त्रियों को मध्य भाग में सुभव्य एवं

राजकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अन्तराल स्थान (स्पेशिज) में पात्रों को चुने ढंग से ऐसा प्रस्तुत किया गया है कि जगह खाली न पड़ी रहे तथा रंगों के प्रयोग भी कुशलता से किये गए हैं।

उपरोक्त प्राक्कथन के बाद तुंग-हुआंग के प्रमुख चित्रों में से कुछ का उल्लेख आवश्यक है। पिलियों द्वारा लाए चित्र अब पेरिस के म्यूजे गिमे में है और स्टाइन द्वारा संचित कलानिधि भारतीय राष्ट्र संग्रहालय में है। बुद्ध जी के जीवन से सम्बन्धित बहुत से चित्र हैं जो गन्धार कला कर आधारित हैं यद्यपि उनपर वेशभूषा एवं आकृति के आधार पर पूर्णतया चीनी प्रभाव है। माया का स्वप्न, गौतम का जन्म, बोधिसत्व का स्नान, सप्तपाद, लेखन प्रतियोगिता, मल्लयुद्ध प्रतियोगिता, शौर्यता का परिचय, प्रासाद का जीवन तथा त्याग, कण्ठक और चन्दक को विदाई, केशों को काटना, कठिन तप, ज्ञान प्राप्ति एवं प्रथम शिक्षा इत्यादि विषय कई चित्रों में दिखाए गए हैं। इनके अतिरिक्त गृह त्याग से पहले जिन चार परिस्थितियों ने सिद्धार्थ को संसार ही दुख का कारण है मानने पर बाध्य किया था वे भी पहली बार तुन-हुआंग में चित्रित है। गंधार कला में यह नहीं मिलती है। बुद्धावस्था, रुग्णावस्था तथा मृत्यु के उपरान्त शव की अन्त्येष्टि के लिये ले जाते हुए दृश्य भी यहां चित्रित हैं।[33] जातकों में दीपांकर जातक चित्रित है। पेरिस के संग्रहालय में रखे चित्र में तप करते समय मार नामक राक्षस का आक्रमण दिखाया गया है। केन्द्र में गौतम ध्याना-वस्था में बैठे हैं। उनका बांया कंधा ढका हुआ है। दाहिना हाथ भूमि स्पर्श मुद्रा में है। मार अपने साथियों एवं कन्याओं के साथ उनको अपने तप से डिगाना चाहता था। गौतम ने भूमि को साक्षी करके मार के इस प्रयास को विफल कर दिया।

बोधिसत्वों में अवलोकितेश्वर, मैत्रेय, क्षितिगर्भ एवं मेषज्यगुरु का चित्रण है तथा इनके मंडल भी चित्रित हैं इन वृत-चक्र के केन्द्रीय भाग से बुद्ध के स्थान पर बोधिसत्व है और इनके चारों ओर वृत्ताकार रूप में अन्य देवगणों का चित्रण है। कभी कभी यह अकेले भी हैं। एक चित्र में अवलोकितेश्वर की शक्ति तारा को एक बहते हुए कमल पर बैठे दिखाया गया है। अवलोकितेश्वर बहुत से चित्रों में अकेले हैं पर कभी वह अपने गणों के साथ भी दिखाए गए हैं। इस दया प्रदान करने वाले बोधिसत्व का तुन-हुआंग में वही स्थान था जो चीन तथा जापान के बौद्धों के हृदय में क्वान-चिन अथवा क्वानोन का

था। 99 चित्रों में वह दर्षित है तथा कौशेय (रेशम), कपड़े एवं कागज पर बने चित्रों में भी उनको दिखाया गया है। उन्हें कई भुजाओं तथा कई शीशों के रूप में भी चित्रित किया गया है और वह कमल अथवा अमृत की बोतल हाथ में लिए हैं। रेशमी कपड़े पर बने चित्रों में वह पद्मासन में बैठे हैं तथा उन्हें भारतीय एवं चीनी शैली में चित्रित किया है जो वेशभूषा एवं आभा से पहचानी जा सकती है। उनके साथ में बहुत से गण भी रहते हैं तथा मंडल चित्रों में यह विशेष रूप से चित्रित हैं। पेरिस के म्यूजे गिमे संग्रहालय में रखे एक चित्र की निर्माण तिथि 981 ई० है। इस चित्र में बीच में अवलोकितेश्वर हैं और उनके मुकुट में अमिताभ या भविष्य में आने वाले बुद्ध का चित्रण है। बहुत से देवगणों के अतिरिक्त दाहिने किनारे पर कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति बैठा है। कहा जाता है कि अवलोकितेश्वर के चित्रों में उनके देव परिवार में शिव को माहेश्वर के रूप में नन्दी पर आरूढ़ एवं महाकाल के रूप में भी चित्रित किया गया है। एक अन्य चित्र में इसी बोधिसत्व की लीलाएं दिखाई गई हैं जो सधर्मपुण्डरीक पर आधारित हैं। यह चित्र भी पेरिस के संग्रहालय में है।[34]

भारतीय कला का तुन-हुआंग पर प्रभाव दो अन्य चित्रों से प्रतीत होता है जो इस समय पेरिस के म्यूजे गिमे संग्रहालय में हैं। इसमें एक चित्र बोधिसत्व क्षितिगर्भ का है और दूसरा लोकपाल धृतराष्ट्र का है। क्षितिगर्भ प्रमुख बोधि-सत्वों में से एक है और उनको नरक में आत्माओं का निवारणकर्त्ता कहा गया है। अकलोकितेश्वर की भांति यह भी सबसे लोकप्रिय थे। भिक्षु के रूप में इन्हें चित्रित किया गया है और अपने दंड से वह नरक के द्वार खोलते हैं तथा चमकती मणि मुक्ताओं से वहां प्रकाश करते हैं। क्षितिगर्भ के मण्डलों के चित्र में इन्हें नरकीय आत्माओं के रक्षक के रूप में दिखाया है जहां उनके हाथ दस न्यायाधीश एवं गण हैं। पेरिस संग्रहालय वाले चित्र में ऊपर के भाग में स्वर्ग का दृश्य है जहां बुद्ध जी बैठे हैं। सांसारिक वातावरण से ऊपर जाने के लिए तीन पुल हैं जो कदाचित् ईरानी आत्माओं के पुल की भांति है। नीचे क्षितिगर्भ है जिनके छह डुपट्टों से छह छोटे-छोटे व्यक्ति भागते दिखाए गये हैं। क्षितिगर्भ के नेत्र एवं वस्त्र चीनी शैली से भिन्न हैं। एक सुनहरा शेर तथा निचले भाग में न्यायाधीशों की आकृति और उनकी मौलि (टोपियां) चिचित्र हैं। इस चित्र से मध्य एशियाई ईरानी एवं भारतीय प्रभाव

प्रतीत होता है। लोकपाल धृतराष्ट्र किसी कंचुक——राक्षक की पीठ——पर खड़े हैं। शरीर पर विभिन्न प्रकार एवं रंग के कपड़े पहिने हैं और उनका लम्बा डुपट्टा जिसकी परते सुन्दर ढंग से दिखाई गई हैं, दाहिने कन्धे से नीचे मुड़कर बांये हाथ के ऊपर से गया है। मुखाकृति एवं पहिनावे से यह कोई तुर्की-ईरानी अश्वारोही लगता है। तुन-हुआंग चित्रों से कूचा और खोतान के साथ सम्पर्क का भी संकेत होता है। पूर्ण रूप से चीनी कलाकारों द्वारा बने एक ही शैली के चित्रों में कहीं कहीं पर गन्धार एवं ईरानी और यूनानी प्रभाव दिखाई पड़ता है। अन्य लोकपालों में वैश्रवण उत्तर दिशा के, विरुढक दक्षिण के, और विरुपाक्ष पश्चिम के संरक्षक माने गए हैं। वैश्रवण इन लोक-पालों में सबसे प्रमुख हैं और उनकी समानता कुबेर-धनदेवता से की गई है। दन्दान-उलिक से कुबेर की एक चूने मिट्टी की प्रतिमा भी मिली। इन लोक-पालों को चतुर्भहाराज कहा गया है और इनके बहुत से कागज के चित्र मिले हैं। एक चित्र में वैश्रवण का पैर एक सुन्दर कन्या के हाथों पर है जो किसी कमल से निकलती दिखाई गई है। लड़की की मुखावति ईरानी है तथा खोतान के चित्र एवं शिल्प कलाओं में इसी प्रकार की आकृति मिलती है। इनके अति-रिक्त बौद्ध स्वर्गों के चित्र भी तुन-हुआंग की कला में मिलते हैं। सुखावती में बुद्ध अमिताभ को दिखाया है जहां धार्मिक व्यक्तियों की आत्माएं रहती हैं। इस प्रकार के सुखावती चित्र एक खोतानी चित्रकार वाई-चिह्-पो-चि-न (Wei-chih-po-chih-ne) ने सुई वंश की पूर्वी राजधानी में बनाए।[35] 10वीं शताब्दी के एक बड़े चित्र के ऊपरी भाग में अमिताभ तथा अवलोकितेश्वर, दो अन्य बोधिसत्व एवं कुछ शिष्य हैं।

तुन-हुआंग की चित्रकला पर मुख्य रूप से चीनी प्रभाव है। इसमें चीनी कलाकारों एवं हान शासकों का भी हाथ था। विषय के अतिरिक्त भारतीय प्रभाव कहीं-कहीं मुखाकृति एवं वेशभूषा से प्रतीत होता है तथा मध्य एशियाई प्रभाव भी कहीं-कहीं मिलता ह। इनसे यह प्रतीत होता है कि गंधार कला एवं इससे प्रभावित और निकटवर्ती ईरानी कला ने भी मध्य एशिया के कला केन्द्रों तथा तुन-हुआंग तक अपना प्रभाव डाला। ईरान पर अरब लोगों के अधिकार तथा सासानी साम्राज्य के पतन के कारण यहां के बहुत से कलाकार कूचा तथा तांग कालीन चीन की राजधानी चंगान तक गए और इसीलिए वहां की कला पर ईरानी प्रभाव कहीं-कहीं पर प्रतीत होता है। यह प्रभाव

पेंजीकेन्ट (पश्छिमी तुर्किस्तान-ताजिकिस्तान) से प्राप्त कुछ चित्रों में अधिकतर मिलता है जो इस समय लेलिनग्राड में है।[36] एक चित्र में रुस्तम अपनी सेना के आगे-आगे देव के विरुद्ध जाता दिखाया गया है। दूसरे चित्र में उसका घोड़ा छलांग मार रहा है। एक स्त्री दूर से कुछ संकेत कर रही है। एक अन्य चित्र में दो व्यक्ति चौपड़ या कोई अन्य खेल खेल रहे हैं। एक का विजय से प्रसन्न मुख है और वह अपनी जीत पर हाथ उठाये हैं। दूसरा उसे ठहरने के लिए कह रहा है। पीछे दो स्त्रियां हैं। यह कोई प्रासाद से सम्बन्धित चित्र है। यहां की कला की समानता कूचा की कला से की गई है, पर बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कोई विशेष चित्र नहीं मिलते हैं और यह कला लौकिक प्रतीत होती है।

काष्ट शिल्प-कला--

मध्य एशिया के कला केन्द्र अपने काष्ठ शिल्प एवं उनपर अंकित चित्रों के लिए भी प्रसिद्ध था जिनकी बहुत सी कृतियां बर्लिन के संग्रहालय में है तथा उनपर विस्तृत रूप से शोध कार्य भी हुआ है।[37] काष्ट कला कृतियां अधिकतर किज़िल से प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त तुमशुक, शोरचुक, कुमतुरा, मुरतुक, खोचो तथा तोयोक से काष्ट कला कृतियां मिलीं जिनके आधार पर मध्य एशिया की इस कला पर प्रकाश डाला जा सकता है। इन कृतियों में सबसे अधिक बुद्ध की प्रतिमाएं हैं और इसके बाद बोधिसत्व और लोकपाल की मूर्तियां हैं। कुछ अन्य देवी देवता तथा गायकों की कृतियां है जिनको या तो लकड़ी की पट्टी में काट कर बनाया गया है या उनको पट्टियों पर चित्रित किया गया है। बर्लिन के संग्रहालय में तुरफान में प्राप्त हुआ काष्ट कला का सबसे बड़ा और अनुपम संग्रह है। दूसरे में सबसे प्राचीनकाष्ट कृतियां तुमशुक तथा किज़िल से प्राप्त हुई और उनकी तिथि ईसवी की पांचवीं शताब्दी है। काष्ट पर शिलपकार छेनी तथा छोटी हथौड़ी से लकड़ी के टुकड़ों को काटकर अपनी कृति बनाता है। इनके अतिरिक्त लकड़ी का अन्य सामान जैसे कुर्सी या सिंहासन के पाये इत्यादि भी बनाए जाते है। यहां पर हम केवल उन आकृतियों का ही उल्लेख करेंगे जिनका बौद्ध धम से सम्बन्ध है। देवी देवताओं एवं उपासकों के अतिरिक्त भिक्षु, उपासक, नृतक और एक ब्राह्मण का चित्र भी मिलता है। इस सम्बन्ध में इन काठ की पट्टियों पर चित्रों का सूक्ष्म

विवरण ही दे सकेंगे। बुद्ध की असामान्य कृतियों को बड़े सुन्दर ढंग से दिखाया गया है। किज़िल से प्राप्त एक दृश्य में बुद्ध के दो शीश दिखाए गए हैं। उनके चार हाथ हैं पर पैर केवल दो ही हैं। उनकी वेशभूषा में संघाटी तथा उत्तरासंघ चित्रित है। दो शीशों से बुद्ध एवं बोधिसत्व का संकेत है। इस प्रकार की मूर्ति गन्धार में भी प्राप्त हुई तथा योतकन में भी मिली है। शिल्प कला में तो आगे पीछे करके दो सिरों को दिखाया है पर इस चित्र में दोनों ही सामने हैं। किज़िल से प्राप्त एक पट पर दीपांकर जातक की कथा चित्रित है। दीपांकर भूमि पर अपना सर रखे हैं और हाथ अंजलि मुद्रा में है। वह कुत्ता पहिने हैं। वैरोचन को भी कई काष्ट चित्रों में चित्रित किया गया है। कूचा तथा तुरफान से प्राप्त काष्ट चित्रों में विरुधक, विरुपाक्ष तथा धृतराष्ट्र नामक लोकपालों का भी चित्रण किया है। लौकिक तथा अलंकृत काष्ट पदार्थों एवं चित्रों का यहां उल्लेख उपयुक्त न होगा क्योंकि विषय केवल बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है। हां, अलंकृत काष्ट के कटाव में पुष्पों का प्रयोग किया गया है। इन काष्ट कला कृतियों में गन्धार कला का प्रभाव सम्पूण रूप से है जो बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मुखाकृति, पहनावे तथा मुद्राओं से लगता था। मौलि या सर की टोपी या पगड़ी भी भारतीय ढंग की है जो गन्धार कला में कई प्रकार से चित्रित की गई है। स्थानीय कलाकार अपनी कृतियों के निर्माण में पीछे नहीं रह गए। उन्होंने अपनी रुचि को केश विनियास में लगाया। बुद्ध की पद्मासन अवस्था में बैठी एवं खड़ी हुई लकड़ी की मूर्ति का निर्माण हुआ तथा वह चित्रित भी की गई। लौकिक चित्रो में एक कलाकार वीणा बजा रहा है और उसी पर उसके नेत्र गड़े दिखाए गए हैं। एक काष्ट पट्टिका पर एक नर्तकी नृत्य करते दिखाई गई है। वह एक चक्र में नाच रही है। इनके अतिरिक्त लोकपालों का भी चित्रण है। पकी मिट्टी के खिलौने एवं बड़ी मूर्तियां और बड़े दृश्य भी पकी मिट्टी पर बने मिले हैं। तुमशुक से प्राप्त एक बड़ा दृश्य पक्की मिट्टी का बना हुआ है।यह फुन्दुकिस्ताक (अफग़ानिस्तान) की कला पर आधारित है। पहनावा बिल्कुल गन्धार की भांति है। अकेली मूर्तियों में शान्त भाव तथा संयम (ग्रेस) की भावना दिखाई गई है। यहां से बहुत से अलंकार चिन्हों (मोटिव्स) को मध्य एशिया की कला में अपनाया गया।

मध्य एशिया की लगभग एक सहस्त्र वर्ष की कला कृतियों के सर्वेक्षण से

बहुत सी बातों का पता चलता है। सर्व प्रथम कला कृतियां पूर्ण तया धार्मिक हैं यद्यपि कुछ को लौकिक स्थान भी मिला। यह न तो एक ही काल की है और न एक ही केन्द्र की देन है। कला केन्द्र प्राय: व्यापारिक मार्ग पर स्थित स्थानों से सम्बद्ध थे और इसीलिए क्षेत्रीय कलाकारों को वैदेशिक सम्पर्क से बहुत कुछ सीखने का अवकाश लगा और उन्होंने प्रचलित कलापरम्पराओं को अपनाया। कलाकृतियों की प्राचीनता का मापदंड गन्धार प्रभाव एवं भारतीय मात्रा थी। जितना गन्धार प्रभाव अधिक होगा उतना ही प्राचीन उसका काल भी होगा। गन्धार कला ने पूर्णतया अनुदान दिया और स्थानीय कलाकारों ने गन्धार की प्रतिलिपि बनाने का प्रयास किया। इस सन्दर्भ में स्थानीयप्रभाव भी निखर आया। कला में बुद्ध जी की जीवन लीला के अतिरिक्तमहायान मत के अन्तगत बोधिसत्वों का निरूपण चित्रण हुआ। महायान मत संकीर्ण न था। इस बौद्ध विचारधारा में और मतों के विचारों को भी अपनाया गया। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर का उद्देश्य अपना निर्वाण प्राप्ति न था वरन् सांसारिक मनुष्यों का कल्याण था। बोधिसत्व क्षितिगर्भ का ध्येय नरकीय आत्माओं को उनके कर्म के आधार पर मुक्त करने का प्रयास करना था। इनके अतिरिक्त अमिताभ या भविष्य के बुद्ध का भी चित्रण किया गया है। लोकपालों को भी कला में स्थान दिया गया है। मध्य एशिया की कला में वास्तु तथा शिल्प के अतिरिक्त चित्रकला की प्रधानता है और कई केन्द्रों से चित्र मिले हैं। यहां की चित्रकला का अपना इतिहास है। मिरान की कला सबसे प्राचीनहै। इसमें भारतीय अंश तथा प्रभाव बहुतायत में है। दन्दान-उलिक भी इसी दक्षिण मार्ग पर है और चित्रकला के लिए यह भी प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त खोतान जो महायान मत का प्रसिद्ध केन्द्र था, कला की दृष्टिसे अपना अद्वितीय स्थान रखता है। सागडियाना या समरकन्द क्षेत्र का भी कला—मुख्यतयाचित्रकला क्षेत्र—में अनुदान रहा और ईरानी सासानी प्रभाव इसी का प्रतीक है।एक नवीं शताब्दी चीनी कला इतिहासकार चंग-चेन-चुवान का कथन है कि इस क्षेत्र का प्रभाव छठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध चित्रकार सांव-चुंग-ता द्वारा हुआ था जो सागडियाना से चीन गया था। खोतान की कला में भारतीय,सासानी, चीनी, सागडियन और कदाचित् घोरस्मी भावों का समन्वय मिलता है और यहां के कलाकारों ने चीन में जाकर भी ख्याति प्राप्त की।

उत्तरी व्यापारिक मार्ग के विभिन्न कला केन्द्र कूचा एवं तुरफान की कृतियों

का अपना स्थान है। कूचा हीनयान का केन्द्र था। यहां पर चित्रकला कृतियां बहुतायत से मिली है तथा मूर्तियों का भी निर्माण हुआ। कूचा की कला को भी कई शैलियों एवं कालों में बांटा गया है। इसके साथ अन्य कलाकेन्द्रों की कृतियों का भी संक्षिप्त में सर्वेक्षण किया गया है। तुन-हुआंग मध्य एशिया की कला की दृष्टि से अन्तिम स्थान था और यह पूर्णतया चीनी साम्राज्य एवं कलाकारों के आधिपत्य में था। यहां पर तंत्रवाद का प्रभावअधिक पड़ा। कुछ समय तक तिब्बतियों का मध्य एशिया के इस क्षेत्र पर अधिकार होने के कारण तंत्रवाद ने यहां भी जोर पकड़ा। तुन-हुआंग में चट्टानों को काटकर गुफाएं बनाई गई पर उनके अन्दर बुद्ध तथा बोधिसत्वों की प्रतिमाओं को अलग से बनवा कर रखा गया। वे पत्थर की चट्टानों का अंग न थे। यहां की चित्र-कला पर चीनी प्रभाव बहुत पड़ा तथा तांग काल में यहां दीवारों पर तथा रेशमी कपड़े और कागजों पर बहुत से चित्र बने। तिब्बत की भांति यहां बोधिसत्वों के मण्डलों को भी चित्रित किया गया। यहीं से बौद्ध कलाकोरिया जापान भी पहुंची। शिल्प कला में मूर्तियों के निर्माण में मिट्टी तथा चूने का प्रयोग किया गया और इस सम्बन्ध में अफग़ानिस्तान के फून्दूकिस्तान का प्रभाव इन प्रतिमाओं में दिखाई पड़ता है।

काष्ट कला कृतियों में लकड़ी पर मूर्तियों को छेनी से काटकर बनाया गया एवं चित्र भी बने। यह मध्य एशिया के बहुत से केन्द्रों में पाये गये। इनके अतिरिक्त पक्की मिट्टी के खिलौने (टेराकोटा) भी मध्य एशिया में बनाए गये। सारांश में यह कहा जा सकता है कि वास्तव में भारतीय सांस्कृतिक कला जो बौद्ध धर्म से सम्बन्धित थी, मध्य एशिया के विभिन्न क्षेत्रों में विकसित हुई इसमें सभी का अनुदान था। स्थानीय शासकों के अतिरिवत उइगुर, चीनी तथा सासानियों ने भी इसके प्रवाह में अपना योगदान देकर इसके प्रवाह को बढ़ाया। यह पूण रूप से चौमुखी होकर विकसित हुई और यहीं से इसका प्रवाह उत्तर-पूर्व एवं दक्षिण पूव की ओर हुआ। चीनियों ने भी इसबौद्ध कला को अपना रूप दिया जिसमें उनकी शैली प्रधान थी। यह कलाकृतियां प्रकृति की गोद में सदा के लिए सोई रहतीं यदि पाश्चात्य अन्वेषण कर्त्ताओं एवं पुरातत्वविज्ञों ने इनको आकर जागृत रूप न दिया होता। प्रकृति ने भी अपने कर्त्तव्य का पालन कर इनकी विनाशकारी शक्तियों से रक्षा की अन्यथा यह सदैव के लिए लुप्त हो जातीं और मध्य एशिया केवल मरुस्थल रूप में ही सीमित रहता।

1--मध्य एशिया की कला का बौद्ध धर्म से मुख्यतया सम्बन्ध है। इस विशाल देश के विभिन्न कला केन्द्रों से अन्वेषण तथा उत्खनन के फलस्वरूप बहुत सी कलाकृतियां प्राप्त हुई जो पाश्चात्य देशों में, मुख्यतया जर्मनी, फ्रांस तथा इंग्लैंड के संग्रहालयों में, सुरक्षित है। आरल स्टाइन का संचित किया कला संग्रह, जिनमें मित्तचित्र भी हैं, भारतीय राजकीय संग्रहालय, नई दिल्ली में रखा है। कला के विभिन्न अंगों तथा क्षेत्रीय कला कृतियों पर बहुत से विद्वानों ने अनेकों ग्रन्थ लिखे। इनमें मुख्यतया बुसागली का 'पेन्टिंग्स आफ सेन्ट्रल एशिया (जेनेवा 1963) है। इसमें सभी केन्द्रों की चित्रकला पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला गया है। एन्डूज ने स्टाइन द्वारा लाए गये चित्रों का सूचीपत्र भी प्रकाशित किया है। इस कला का सारांश एन्डूज ने अपने एक भाषण में प्रस्तुत किया जो 'इन्डियन आर्ट्स एण्ड लेटर्स' (वाल्यूम 8 पृ० 1 से) में प्रकाशित हुआ। पेरिस के म्यूजे गिमे संग्रहालय में रखे मध्य एशियाई संग्रह की सूची हाकिन ने अपनी पुस्तक 'गाइड कैटालाग टू म्यूजे गिमे' (पेरिस 1623) में प्रकाशित की। स्टाइन के 'सेरेन्डिया'–५ भागों में सम्पूर्ण अन्वेषण कार्य का विवरण है तथा इन्हीं के 'एंशिएंट खोतान' में भी बहुत सा वृतान्त मिलेगा। काष्ट चित्र कला पर एक भारतीय महिला छाया भट्टाचार्य ने 'आर्ट आफ सेन्ट्रल एशिया' नामक पुस्तक प्रकाशित की (दिल्ली 1977)।

2--रावलेंड ने अपनी पुस्तक 'दी आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर आफ इन्डिया' में तुर्किस्तान में बौद्ध कला का एक अध्याय में संक्षेप रूप से विवरण किया है (पृ० 112–117)। इसमें अन्य विद्वानों के विचारों का भी उल्लेख है।

3--बुसागली ने मिरान की चित्रकला को प्रारम्भिक युग का माना है (पृ० 19 से)। रावलेंड ने भी इनका संक्षेप में उल्लेख किया है (पृ० 113)। कुमारस्वामी ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ इन्डियन एण्ड इन्डोनेशिन आर्ट' में भी मध्य एशिया की कला का संक्षिप्त विवरण दिया है।

4--मिरान के चित्रों में खरोष्ठी लेखों का उल्लेख स्टाइन ने अपने 'सेरेन्डिया' पृ० 516, तथा 528 से आगे किया है। विश्वन्तर जातक दृश्य में एक हाथी के पैर के नीचे लिखे लेख में है। चित्रकार का नाम तिता--यूनानी टाइटस दिया है। इस लेख के अक्षर ईसवी की तृतीय-चतुर्थ शताब्दी

के हैं। वुसागली ने भी स्टाइन के मत का समर्थन करते लिखा है कि इस चित्रकला की भी यही तिथि होगी तथा इसके बाद ही मिरान को छोड़ दिया गया था (पेन्टिंग्स आफ सेन्ट्रल एशिया, पृ० 21)।

5---वुसागली : उ. उ. प० 18।

6---यही. प० 23।

7---यही, पृ० 22।

8---वुसागली---उ. उ. पृ० 54।

9---यही, पृ० 60।

10---यही. पृ० 66।

11---देखिए : 'एनसाइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड आर्ट' वाल्यूम 1, प्लेट 319।

12---वुसागली : उ. उ पृ० 56।

13---यही, पृ० 57।

14---यही, पृ० 59।

15---कूचा तथा निकटवर्ती क्षेत्रों की कला का समीक्षण हामविस के लेख, जो 'इन्साइक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड आर्ट---वाल्यूम 1' में छपा है, के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त वुसागली ने भी अपनी मध्य एशिया की चित्रकला की पुस्तक में इसका विवेचन किया है। चित्रों का वर्णन भी इन्हीं दो स्रोतों के आधार पर है।

16---वुसागली---उ. उ. पृ० 68।

17---यही, प० 72।

18---यही, पृ० 73।

19---यही, पृ० 74।

20---यही, पृ० 75।

21---देखिए : वैकोफर 'दि आर्ट आफ इंडियन एशिया' पृ० 201-204 जिनमें दो चित्र (प्लेट 612 तथा 613) विशेष रूप से इस विषय पर प्रकाश डालते हैं। वैकोफर के अनुसार इनपर गन्धार और भारतीय प्रभाव के अतिरिक्त पर्सियन-सासानी प्रभाव भी प्रतीत होता है। इनके साथ ही मुखाकृति से चीनी प्रभाव प्रत्यक्ष है।

22---वुसागली : उ. उ. प० 88।

23---यही, पृ० 89।

24--यही, पृ० 91।

25--बुसागली ने अपनी पुस्तक में तुरफान की कला का विस्तृत रूप से एक अध्याय में विवेचन किया है। (पृ० 95 से)।

26--बुसागली : उ. उ. पृ० 97।

27--यही, पृ० 92।

28--यही, पृ० 99।

29--यही, पृ० 110।

30--यही, पृ० 103।

31--तुन-हुआंग की गुहा चित्रों पर बहुत से पाश्चात्य विद्वानों ने लिखा है। सबसे विस्तृत तथा विशाल ग्रन्थ पिलियो नामक फ्रांसीसी अन्वेषणकर्त्ता एवं इतिहासकार का है जिसने 6 भागों में 'ले ग्रोटेस् डे टुएन-हुआंग' प्रकाशित किया (पेरिस 1920-24)। आरल स्टाइन ने भी लन्दन से 1921 में इस सन्दर्भ में 'एंशिएंट बुद्धिस्ट पेन्टिंग्स फ्राम दी केव-टेम्पुल्स आफ तुन-हुआंग' नामक शीर्षक से एक ग्रन्थ प्रकाशित किया। वैसिलग्रे ने भी 'बुद्धिस्त केव पेन्टिंग्स एट तुम-हुआंग' नामक पुस्तक लिखी (लन्दन 1959)। हाम्बिस ने इस कला का सर्वेक्षण अपने लेख में किया जो इन्साइक्लोपीडिया आफ वर्ल्डवार्टस्' में छपा है। यह वृतान्त हाम्बिस के लेख पर आधारित है तथा कुछ अन्य स्रोतों का भी आश्रय लिया गया है जिसमें आरल स्टाइन के ग्रन्थ 'सेरेन्डिया' में प्रकाशित दो लेख भी हैं जो परिशिष्टांग (ई) में छपे हैं। इनमें से एक लेख तुन-हुआंग की चित्र-कला पर लारेंस विनियों का है तथा दूसरा लेख फ्रांसीसी में रफेल पेट्रूचि का है जिसमें चित्रकला एवं मण्डलों का विस्तार से विवरण दिया गया है। (पृ० 1392-1431)।

32--'सेरेन्डिया' प्लेट (70)

33--यही--प्लेट

34--पेरिस के म्यूजे गिमे में रखे चित्रों का उल्लेख हाकिन ने अपनी पुस्तक 'गाइड कैटालाग टू म्यूजे गिमे' (पेरिस 1923) में किया है। देखिए अध्याय 2 पृ० 33 से।

35--देखिए : वुसागली. उ० उ. पृ० 66। इस खोतानी चित्रकार के वंश का

विवरण भी मिलता है। पो-चिह्-न चोनो राजधानी सुई वंश के अन्तिम चरण (587–617) में गया जहां उसका बड़ा सम्मान हुआ।

36--वुसागली ने पेंजीकेन्त की चित्रकला का एक सम्पूर्ण अध्याय में विवरण दिया है (पृ० 43 से)। यह कला साइडियाना से सम्बन्धित थी और इसपर ईरानी--सासानी प्रभाव है। वेलेनिटस्की ने अपनी पुस्तक 'सेन्ट्रल एशिया' में इसका उल्लेख किया है (पृ० 154 से)।

37--तुरफान से प्राप्त काष्ट कला कृतियों का संग्रह पश्छिम जर्मनी के बर्लिन संग्रहालय में है। इसका कलात्मक दृष्टि से छाया भट्टाचार्य ने अपनी पुस्तक 'आर्ट आफ सेन्ट्रल एशिया' (दिल्ली 1977) में उल्लेख किया है।

———

भाग 2

अध्याय 8

तिब्बत (बोद)--भारतीय अनुदान

कुनलुन और हिमालय के बीच में स्थित तिब्वत का पठार पूर्व में शीकांग (Sikang) और पश्चिम में कश्मीर से घिरा है। यह पठार पूर्वी एशिया की वृहत्तर नदियों ह्वांग-हो एवं मीकांग और सिन्धु तथा ब्रह्मपुत्र आदि का उद्गम स्थल है। 16,000 फीट की ऊंचाई पर स्थित यह देश जो 'संसार की छत' के नाम से प्रसिद्ध है अब चीनी गणराज्य का अंग बन गया है। इस देश का अपना इतिहास एवं संस्कृति है। प्रारम्भिक इतिहास अन्धकारमय है और यहां के निवासी, जो मंगोलो से मिलते हैं, अन्ध-विश्वासी थे जिनका धर्म कुछ अजूबी प्रक्रियाएं थीं जो भूत-प्रेत आदि में विश्वास तथा मृतक आत्माओं से सम्बन्धित थीं। उनका न तो कोई साहित्य था और न धार्मिक ग्रन्थ ही। वे लेखन कला से अनिभिज्ञ थे क्योंकि उनकी कोई लिपि ही नहीं थी। यहां के निवासी उदण्ड थे और मंगोलों की भांति खेमे में रहते थे जो काले याक के बालों से बुनकर बनाया जाता था तथा उसी की बटी रस्सी भूमि में खूटे लगाकर खेमों में बांधने का काम देती थी। यहां के निवासी अधिकतर चरवाहे रहे जो भेड़ों को पालते थे और उसी के ऊन का कपड़ा भी बनाते थे। कुछ स्थानों पर ही खेती होती थी क्योंकि वर्षा का सदैव ही अभाव रहा और इतनी ऊंचाई पर होने के कारण सिंचाई के भी साधन नहीं थे। जौ की रोटी, गुड़ तथा मखन का यह भोजन करते थे। यद्यपि देश भौगोलिक शृंखलाओं से बंधा रहा है पर इसका भारत और चीन तथा मध्य एशिया के अन्य देशों के साथ सम्पर्क और संघर्ष भी बराबर बना रहा। हां, भेद केवल इतना था कि भारतीय सम्पर्क ने तिब्बत को बौद्ध धर्म, ब्राह्मी लिपि तथा विद्वानों का अनुदान देकर सुहृद भावना से संचारित किया, पर चीन के साथ इसका बराबर संघर्ष रहा। कभी कभी तो तिब्बत का पलरा भारी रहता और उसने कूचा, तुरफान तथा वाह्य मंगोलिया तक के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया तथा इसकी सेनाएं चीनी राजधानी चंग-आन तक पहुंच गई। इसके विपरीत चीनी सेनाओं ने भी तिब्बत को कई बार घेरा और यहां की राजधानी ल्हासा को लूटा एवं जलाया। इस

संघर्ष के साथ साथ तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचार का श्रेय चीनी राजकुमारी एवं नेपाली राजकुमारी को है जिन्होंने यहां के शासक श्रोन त्सान-गाम-पो (सरल-उग्र-गम्भीर) नामक युवक से विवाह कर उसे बौद्ध धर्म का उपासक एवं संरक्षक बनाया। तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रवेश, इसके विकास एवं भारतीय विद्वानों के अनुदान की अपनी ही कहानी है जिसका वृतान्त विस्तृत रूप से आगे किया जायेगा। यहां पहले उसका इतिहास प्रस्तुत करना आवश्यक है।

प्रारम्भिक इतिहास[1]

तिब्बत के प्रारम्भिक इतिहास का ज्ञान बू-तां (Bu-tam) के अनुसार ई० पू० 416 से आरम्भ होता है जब नाह्-थीं-त्सन-पो (Nahr-thi-tsanpo) नामक तिब्बत के प्रथम शासक का जन्म कोशल के राज्य प्रसेनजित के यहां हुआ था।[2] कोशल सम्राट का यह पांचवां पुत्र था। इसके पैदा होने पर इसके आकार एवं शंख के ऐसे ऊपर नीचे के दांतों को अमंगल सूचक मानकर इसे गंगा नदी में एक तांबे के पात्र में रख कर बहा दिया गया। एक कृषक ने इसे निकाल कर पालन-पोषण किया। बालक के बड़े होने पर कृषक ने उसे सम्पूर्ण घटना से अवगत कराया। बालक ने अपने दत्तक कृषक का घर छोड़ दिया और वह हिमालय चला गया। थोड़े समय बाद वह तिब्बत पहुंचा जहां के निवासियों ने उसे दिव्य पुरुष मानकर बड़ा स्वागत किया तथा अपनी राजधानी ले गए जहां उसका नामकरण हुआ। उसे नाह्-थीं-त्सन-पो नाम दिया गया और वहीं एक तिब्बती स्त्री नम-मुग-मुग से विवाह कर वह एक विशाल प्रासाद में रह कर राज्य करने लगा। बहुत दिनों तक न्यायपूर्वक शासन करने के बाद उसकी मृत्यु हो गई और तब उसका पुत्र मुग-थीं-त्सन-पो गद्दी पर बैठा। इस प्रकार यह राजवंश तिब्बत में राज्य करता रहा और 'नभग्यि-थि' नामक उपाधि से उन्हें सुशोभित किया गया। आठवें शासक दि-गुम-त्सन-पो (Di-gum-tsan-po) के मंत्री लो-नाम ने उसके वरुद्ध उपद्रव कर उसे मार डाला और स्वयं शासक बन बैठा। उसने दिवंगत शासक की एक रानी से विवाह कर लिया। पूर्व सम्राट् की सम्राग्री अपने तीन कुमारों के साथ बहां चली गई और फिर उसने यर-ल्ह-शम्पो (yar-tha-san-po) की सहायता से उस मंत्री, जिसने राज्य छीन लिया था, को मरवा डाला। पूर्व शासक के तीन पुत्रों को पुन: आमंत्रित किया गया और बड़े पुत्र च्य-थि-त्सन-पो (Chya-

thi-tsan-po) को शासक घोषित किया गया । उसके समय में बो-मत तिब्बत में फैला हुआ था । यद्यपि इन तिब्बती शासकों में भारतीय रक्त था पर उन्होंने तिब्बत को ही अपना देश मान लिया और उसका भारत के साथ कोई भी सम्पर्क नहीं रहा । राजकुमारों की पत्नियां साधारण परिवार की न होकर कोई स्वतंत्र निकटवर्ती राज्यवंशीय थीं । इस प्रकार तिब्बत की शासकी परम्परा कायम रही । ईसवी के 441 में प्रसिद्ध तिब्बती शासक ल्ह-थो-थोरी-नान-त्सन (Lha-tho-thori-nan-tsan) का जन्म हुआ और 21 वर्ष की आयु में वह सिंहासन पर बैठा तथा 80 वर्ष की आयु में उसकी 521 में मृत्यु हो गई । उस समय आकाश से युम्बु-लगान प्रासाद, जो ल्हासा के निकट था, पर एक बक्स गिरा जिसे खोलने पर तीन धार्मिक ग्रन्थ एवं कुछ अन्य पदार्थ निकले । यह थे—दोदे-स्समतोग् (Dodo-ssamatog—सूत्रान्त पिटक), 'सेर-क्यि-छोरतेन' (एक सोने की देवस्थान प्रतिमा), पन-कोन-छयग्य-छेन-पो (Pan-kon-chayagya-chhen-po) जो हस्तरेखा एवं गूढ़शास्त्र (myticism) से सम्बन्धित ग्रन्थ था और चिन्तामणि नोरपो फोरप (Chintamani-norpo-phorpo) एक चिन्तामणि तथा एक प्याला । ऊपर आकाश से यह भविष्य-वाणी हुई कि इनको पांचवीं पीढ़ी का शासक ही खोले । अतः यह सब बन्द कर रख दिए गए । यह पांचवां शासक नेत्रहीन हुआ और इनको खोलते ही उसकी नेत्र ज्योति आ गई । उसने होल-गोन-स्सान (Hol-gon-ssan) से विवाह किया जिससे उसका उत्तराधिकारी नम-रि-श्रोन-त्सन (Nam-ri-sron-tsan) जन्मा । इसके सिंहासन पर बैठने के बाद तिब्बतियों का सम्पर्क बाहरी जगत से हुआ और चीन से सर्वप्रथम उनको गणित एवं भिषज की जानकारी प्राप्त हुई । इसका राज्य काल देश में सम्पन्नता का युग था । नम-रि-श्रोन-त्सन की मृत्यु 630 में हुई और ब्रि-थोन-कर (Bri-than-kar) से उत्पन्न उसका पुत्र प्रसिद्ध व्यक्ति श्रोन-त्सन-नाम-पो सिंहासन पर बैठा और उस समय से तिब्बत के इतिहास का नया चरण आरम्भ होता है ।

सम्राट ओन-त्सान-गाम-पो एवं उसके वंशज[3]

श्रोन-त्सान-नाम-पो (Sron-tsan-gam-po) का जन्म 617 में हुआ था क्योंकि सिंहासन पर बैठने के समय वह 13 वर्ष का था । कुछ तिब्बती इतिहासकार उसकी जन्म तिथि 600–617 के बीच में रखते हैं ।[4] कहा जाता है कि इसके मस्तक पर बुद्ध अमिताभ का सूचक चिन्ह था । यह भी कहा

जाता है कि इस समय पहाड़ों की गुहाओ और चट्टानों में स्वत: चेनेरेस्सिग या अवलोकितेश्वर तथा तारा, हयग्रीव और दूसरे बौद्ध देवताओं की प्रतिमाएं बनाई गई और गुण मंत्र ओंम-मणि-पद्मे-हुंग' अंकित हो गया। शासक ने स्वयं मूर्तियों की जाकर पूजा की तथा पहाड़ी पर नौ मंजिल का प्रासाद बनवाया। यद्यपि तिब्बत में कोई अपनी लिपि न थी पर शासक स्वयं कई भाषाओं का ज्ञाता था और उन्हीं के द्वारा भारतीय और चीनी दूतों के साथ विचार-विनिमय करता था। संस्कृत, पल्प (नेवारी) एवं चीनी का उसे अच्छा ज्ञान था। तिब्बत में लिपि की आवश्यकता को ध्यान में रखकर उसने संभोट को 16 और साथियों सहित भारत भेजा। उनको आदेश दिया गया कि वे संस्कृत भाषा का अध्ययन करके भारतीय बौद्ध साहित्य के मूल ग्रन्थों को पढ़े तथा संस्कृत के लिए प्रयोगित वर्णमाला को तिब्बती (वोद) के लिए उपयुक्त एवं उपयोगी बनाने की दिशा में काम करें। इनको इस काय में व्यय के लिए सोना दिया गया। संभोट ने संस्कृत भाषा एवं आर्य देश में प्रचलित लिपि का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। पंडित देवविद् सिंह से उसने संस्कृत भाषा की कलाप, चन्द्र और सारस्वत व्याकरणों का अध्ययन किया तथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित सूत्र एवं कारिका के 21 ग्रन्थों का पूण रूप से अध्ययन किया। तिब्बत लौटने पर मंजुश्री बोधिसत्व की आराधना, तिब्बती वर्णमाला एवं लिपि का संचार हुआ। शासक ने आदेश दिया कि कुशाग्र बुद्धि वाले तिब्बती संस्कृत भाषा का अध्ययन करें और बौद्ध धर्म के ग्रन्थों को पढ़े। इससे बौद्ध धर्म के प्रसारण में बहुत ही सहायता मिली। उसने 16 नैतिक शिक्षा सम्बन्धी सूत्रों को भी लिखवा कर जनता तक पहुँचानेका प्रयास किया। वू-तों के वृतान्त के आधार पर उसका विवाह उसके बौद्धधर्म में प्रवेश एवं संभोट की वापसी के बाद हुआ था। इसने दक्षिण भारत के समुद्री किनारे से स्वत: निर्मित चनेरेस्सिग (बोधिसत्व अवलोकितेश्वर) की 11 मुखों की मूर्ति प्राप्त की जो नागसार चन्दन की बनी थी। नेपाली राजकुमारी जो वहां के शासक ज्योतिवर्मन् की पुत्री थी, अपने विवाह के बाद अक्षोम्य और मैत्रेय की मूर्तियाँ, तारा की एक चन्दन की मूर्ति, रत्नदेव मणि तथा वैदूर्य की एक थाली अपने साथ लाई। चीनी राजकुमारी हुन-शिन-कुन-जू जो चीन के सिंह शासक (थाई-शुंग) शेंगे-त्सन-पो की पुत्री थी, अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध थी और उसके लिए बहुत से राज-

कुमार उत्सुक थे। तिब्बती अमात्य गार ने बड़ी चतुरता और बुद्धिमानी से चीनी सम्राट् को इस विवाह के लिए सहमत करा लिया। वह भी अपने साथ बुद्ध की एक बड़ी प्रतिमा एवं बहुत से धार्मिक ग्रन्थ एवं सोना चाँदी लाई। इन दोनों पत्नियों ने तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रसारण में पूर्ण रूप से अनुदान दिया और उन्हें श्वेत तथा नील तारा कहा गया है।

श्रोन-त्सान-गाम-पो ने 108 बौद्ध मंन्दिरों का निर्माण कराया तथा दो विशाल मन्दिर रिमोच्छे तथा ल्हासा पुल बनवाये। 639 में ल्हासा को राजधानी बनाया गया। उसने भारत से पण्डित कुसर एवं शंकर ब्राह्मण को, नेपाल से शील मंजु को, चीन से ह्वा-शान-महा -त्से को आमंत्रित किया और तिब्बत विद्वान संभोट, ला-लुन, दोजेंपल के साथ मिलकर संस्कृत और चीनी बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद कराने की इच्छा प्रगट की। चीनी तथा नैपाली सम्राज्ञियों से कोई सन्तान न होने के कारण उसने दो अन्य राजकुमारियों से विवाह किया और उनसे दो पुत्र गुन–रि–गुन–त्सन तथा मन–श्रोन–मन–त्सान उत्पन्न हुए। गुन–रि को 3 वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर सम्राट् ने अपना उत्तराधिकारी घोषित करके सिंहासन त्याग दिया पर राजकुमार 18 वष की आयु में दिवंगत को प्राप्त हो गया और श्रोण–त्सान को पुनः शासन का भार उठाना पड़ा। इस समय वह केवल बौद्ध धार्मिक कार्य में ही लगा रहा। वह बहुत आयु तक जीवित रहा और उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका दूसरा पुत्र मन–श्रोण–मन–त्सान तिब्बत का शासक हुआ। उसके राज्य के प्रारम्भिक काल में चीन ने तिब्बत पर आक्रमण किया पर चीनियों की हार हुई। इसके बाद गार के सेनापतित्व में तिब्बत की एक लाख सेना ने चीन पर धावा बोल दिया पर यह बुरी तरह हारे। फिर चीन ने पुनः तिब्बत पर आक्रमण किया और ल्हासा के प्रासाद को जला दिया। वह यहाँ से शाक्य कुमार की सोने की प्रतिमा भी वापस ले गए जो चीनी राजकुमारी अपने साथ लाई थी। पर थोड़ी दूर जाने के बाद उन्हें यह अक्षोभ्य मूर्ति छोड़ देनी पड़ी क्योंकि यह बहुत भारी हो चली थी।

वंशज

श्रोण-त्सान-गाम-पो के बाद उसका पुत्र मन–श्रोण और उसके बाद दु–श्रोण तिब्बत के सिंहासन पर बैठे। इसके बाद उसका पुत्र मे-अग-त्क्षोम

यहाँ का शासक हुआ। इसने बौद्ध धर्म के प्रसारण में सहयोग दिया। उसन दो भारतीय विद्वान बुद्ध गुह्य और बुद्ध शान्ति को आमंत्रित किया। यह दोनों उस समय कैलाश के निकट रह रहे थे पर वे ल्हासा नहीं गए। दूतों ने उनसे महायान सूत्रान्त को कण्ठस्थ कर लिया था जिसे पाँच भागों में तिब्बती भाषा में उद्धृत किया गया और प्रत्येक के लिए एक-एक मन्दिर का निर्माण हुआ। उसने चीन से भी ग्रन्थ मंगवाए और उनका तिब्बती में अनुवाद हुआ। ली-युल अथवा खोतान से भी बौद्ध भिक्षु आमंत्रित किए गए। उन्होंने तिब्बत आकर भिक्षु संघ बनाने का प्रयास किया पर यह सफल न हो सके। इसका पुत्र जन्त्स-ल्ह-पो अपनी सुन्दरता के लिए प्रसिद्ध था और उसका विवाह चीनी सम्राट वाई-जुन की पुत्री के साथ होना तय हुआ। इसी बीच में एक अन्य तिब्बती सरदार ने राजकुमार का बध कर दिया क्योंकि वह अपनी लड़की का विवाह उससे करना चाहता था। चीनी राजकुमारी विवाह के लिए तिब्बत की ओर चल चुकी थी और वह अपने साथ अक्षोभ् की मूर्ति भी ला रही थी जो चीनी मार्ग में छोड़ गए थे। इस राजकुमारी को दुखद समाचार तिब्बत पहुँचने पर मिला और थोड़े समय बाद तिब्बती शासक ने स्वयं प्रस्ताव करके उसके साथ विवाह कर लिया। उससे थि-श्रोण-दे-त्सन नामक पुत्र हुआ जिसे बुद्धि और विद्या के देवता मंजुश्री का अवतार माना जाता है।

थि–श्रोण-दे-त्सन का जन्म 730 में हुआ था और 13 वर्ष की अवस्था में वह सिंहासन पर बैठा। उसके समय में शासन में दो गुट बन गए थे। एक बौद्धों का था और दूसरा अधार्मिक व्यक्तियों का था। तिब्बती शासक ने बौद्धों को प्रोत्साहन दिया। उसने उड़ियान से दो भारतीय विद्वान–संतरक्षित और पद्मसंभाव को आमंत्रित किया। शासन के अनुदान से पद्मसंभव ने वहाँ एक विशाल विहार बनवाया तथा दोनों विद्वानों ने बहुत से सूत्रों एवं तंत्रों का तिब्बती में अनुवाद किया। इसी समय चीन से एक ह्याशान महायानी तिब्बत आया और यहाँ के लोगों में अपनी विचारधारा फैलाने लगा। उसका खण्डन करने के लिए तिब्बती शासक ने भारत से कमलशील को आमंत्रित किया। इस भारतीय विद्वान ने चीनी दार्शनिक को वाद-विवाद संघर्ष में पराजित किया। इसके फलस्वरूप, थि-श्रोण ने बौद्ध धर्म विरोधियों को दबाया। उसने उचित न्याय व्यवस्था के लिए नियमों को निश्चित रूप दिया और इनका पालन करना अनिवार्य था। इस शासक ने तिब्बतियों के

नैतिक उत्थान का प्रयास किया। 46 वर्ष राज्य करने के बाद 59 वर्ष की आयु में उसका देहान्त हुआ और उसके बाद उसका बड़ा पुत्र मुनि-त्सान-पो तिब्बत का शासक हुआ। इसकी धर्म में बड़ी रुचि थी और उसके समय में विहारों को बहुत दान मिला। लगभग दो वर्ष तक राज्य करने के बाद इसकी मां ने इसको विष दे दिया क्योंकि वह अपने दूसरे पुत्र मुरुग-त्सान-पो को चाहती थी। पर उस पुत्र का शासक मनाया जाना अमंगलसूचक था, इसलिए सबसे छोटे आठ वर्षीय पुत्र मुसिग-त्सान-पो को राजा बनाया गया। उसने पद्मसंभव के साथ धार्मिक बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया था। इसका राज्यकाल बौद्ध धर्म के हित में अच्छा था। बहुत से संस्कृत के बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद हुआ और एक वृहत् मन्दिर का निर्माण हुआ। इसने बहुत समय तक राज्य किया और फिर इसका सबसे छोटा पुत्र रल्पचन (Ralpa-chan) सिंहासन पर बैठा। कहा जाता है कि उसके पहले थोड़े समय तक बड़े दो पुत्रों ने भी राज्य किया पर बौद्ध अमात्यों ने उन्हें कुछ ही वर्ष रहने दिया।

रल्पचन[5]

रल्पचन (846–60) तिब्बत का एक विख्यात शासक था। सिंहासन पर बैठते ही उसने एक नौ खण्ड ऊंचा मन्दिर बनवाया जिसमें नीचे के तीन खंड पत्थर के, बीच के तीन ईंटों के और ऊपरी तीन लकड़ी के बने थे। ऊपर के खण्डों में धार्मिक ग्रन्थ एवं मूर्तियाँ और मन्दिरों के माडेल रखे थे, बीच में पण्डितों एवं अनुवादकों का स्थान था और नीचे प्रशासनिक अधिकारी काम करते थे। उसने मगध, उज्जयिनी, नेपाल तथा चीन से बौद्ध ग्रन्थों को भगाने का प्रयास किया और भारत से बहुत से संस्कृत के विद्वान भी आमंत्रित किये गये। जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, शैलेन्द्रबोधि, धनशील और बोधिमित्र यहाँ अनुवाद कार्य के लिए आये और उनकी सहायता के लिए कुछ पहले से आये भारतीय विद्वानों में रत्नरक्षित, मंजुश्रीवर्मन धर्मरक्षित, जिनसेन, रत्नशील, जयरक्षित तथा स्थानीय विद्वान कवापल-त्सेग (Kawapal tseg), चोदो-ग्यल-त्सन (Chodo-gyal-tshan) इत्यादि उनकी सहायता के लिए थे। इन्होंने पुराने ग्रन्थों का संशोधन किया, नये ग्रन्थों का अनुवाद किया और अधूरे अनुवाद किए ग्रन्थों को पूरा किया। इसके साथ ही उन्होंने

क्लिष्ट भाषा को सरल रूप दिया। प्रशासनिक दृष्टिकोण से तिब्बत के इस शासक ने बहुत से सुधार किए जैसे निर्धारित मापदण्ड की व्यवस्था करना था। भिक्षुओं की जीवनचर्या के सम्बन्ध में भारतीय अनुशासन नियम लागू किए गए तथा प्रत्येक भिक्षु के लिए पाँच कृषकों से प्राप्त कर निर्धारित कर दिया गया। इस शासक के समय में चीन के साथ भी संघर्ष हुआ और इसमें तिब्बती सेना को सफलता मिलने लगी। इन दो बौद्ध युद्ध में नर संहार रोकने के लिए कुछ चीनी बौद्धों ने सफल प्रयास किया और अन्त में संन्धि होकर सीमा निर्धारित कर दी गई। ल्हासा में एक विशाल पत्थर पर ग्य-ग्यल प्रसाद के निकट तथा गुंगु-मेरु पर यह सन्धि पत्र अंकित करा दिया गया। इस न्यायशील एवं पराक्रमी शासक का अन्त इसी के भाई लन्दर्भ के षड्यंत्र से हुआ। दो दुष्ट व्यक्तियों ने इसका वध कर दिया और 908– 1014 के समय में लन्दर्म तिब्बत का शासक बना।

लन्दर्म और उसके बाद का इतिहास

तिब्बत के इतिहास में यही सबसे दुष्ट राजा था जिसने अपने भाई का वध कराया तथा बौद्धों का संहार किया। उसने यह आरोप लगाया कि तिब्बत के कष्टों का कारण बौद्ध धर्म का वहाँ प्रवेश एवं चीनी राजकुमारी हुनशिन-कुन्जु द्वारा चीन से तिब्बत में लाई गई शाक्य मुनि की मूर्ति ही थी। उसके बौद्ध धर्म के विरुद्ध प्रचार से तिब्बत से बहुत से पण्डित और लोचव वहाँ से भाग निकले। जो वहाँ पर रह गए उनको लूटा एवं बुरी तरह सताया गया। उसने बौद्ध मन्दिरों को तोड़ा, ग्रन्थों को नष्ट किया और बहुतों को पानी में बहा दिया तथा अक्षोभ और शाक्य मुनि के मन्दिरों को भी नहीं छोड़ा पर ऐसा करते समय इससे कहा गया कि उसके इस कार्य से तिब्बत में महामारी फैलेगी। इस तरह वे तो बच गए पर उसने मैत्रेय की मूर्ति को हंस कर तोड़ डाला। इसका अन्त ल्हलुन-पाल-डोर्जि (Lahalun-pal dorji) द्वारा हुआ जिसने एक तीर पीछे से मार कर उसका वध कर दिया। यह तिब्बत का अन्तिम राजवंशीय शासक था और उसके बाद से तिब्बत का मध्य युग का इतिहास आरम्भ होता है। तिब्बत का रत्पचन के दो पुत्रों– होड्स्रु (Hodsrun) और युमतेन (Yum-ten) में बंटवारा हो गया जिन्हें क्रमशः पश्चिमी और पूर्वी भाग मिला। होड्श्रुन की मृत्यु 980 में हुई और इसके बाद का इतिहास केवल शासकों के नामों तक ही सीमित है।

तिब्बत में लन्दर्म के अत्याचार के बाद कोई भारतीय विद्वान वहाँ नहीं गया। 1013 ई0 से इस देश में बौद्ध धर्म की पुनः जागृति हुई। राजकीय भिक्षु येषे-होड़ (Yese-hod) ने मगध से पंडित धर्मपाल को बुलाया जो अपने तीन शिष्यों के साथ वहाँ पहुँचा और शासक ने पुनः बौद्ध धर्म, कला एवं विनय की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। एक और पंडित सुभूतिश्री शान्ति को भी आमंत्रित किया गया और उसने 'शेरचिन' (प्रज्ञापारमिता) का सम्पूर्ण अनुवाद किया। राजकीय वंशीय कुमारों ने भी बौद्ध धर्म के ग्रन्थों का अध्ययन किया। च्यान-छुव-होड (Chyan-Chhva-hod) ने भारत में कई दूत विद्वानों को आमंत्रित करने के लिए भेजा जिन्होंने अतीश (दीपांकर) की ख्याति सुन रखी थी। उनकी सूचना के आधार पर नग्त्शो लोचव (Nagtsho (Lochava) और उसके साथी बहुत सा सोना लेकर विक्रमशिला आए। वहाँ के विद्वान अतीश को उन्होंने तिब्बत में बौद्ध धर्म के विकास, विस्तार एवं प्रगति से अवगत कराया और इसके पुरुनरुत्थान केलिए, अतीश को वहाँ चलने का आग्रह किया पर वे सहमत न हुए। अतः इन तिब्बती विद्वानों ने सेवा भाव का मार्ग पकड़ा। सभी लोचव उसके शिष्य हो गए और उपासक के रूप में उसकी सेवा करने लगे। उनके बहुत आग्रह एवं सेवा के फलस्वरूप भारतीय विद्वान् 1042 में तिब्बत गया और 1055 तक रहा। उसकी कार्य-कृतियों एवं जीवन पर पृथक् रूप से आगे विचार किया जायेगा। इसके बाद के समय में बहुत से तिब्बती अनुवादक भी हुए जिनमें रसानकार लोचव, रव लोचव, नन लोचव, लोदन इत्यादि का नाम मिलता है जिन्होंने 12 वीं शताब्दी के अन्त तक बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। नवें शासक तग्प-दे के समय में मैत्रेय बुद्ध (बोधिसत्व) की एक विशाल मूर्ति का अनावरण हुआ। इसके निर्माण में 15 लाख रुपये व्यय हुए थे। उसका पुत्र असोदे (Asode) की भी बौद्ध धर्म में बड़ी निष्ठा थी और वह प्रतिवर्ष बोधगया में वज्रासन के लिए भेंट भेजा करता था। पौत्र अननमल (Ananmal) ने कंजुर को सुनहरे पत्रों पर लिखवाया और उसके पुत्र ने ल्हासा के प्रसिद्ध बौद्ध मन्दिर पर सुन्दर मंडप बनवाया। अननमल के प्रपौत्र ने तो बौद्ध धर्म में शाक्य लामों से दीक्षा ली और फिर यह शासक हुआ।

तिब्बत का इसके बाद का इतिहास अन्धकार मय है। 13 वीं शताब्दी

में सम्पूर्ण तिब्बत चिंगेज खां के अधिकार में चला गया। इसके पौत्र गोदन और गोचुगन ने शाक्य पंडितों को अपने यहाँ बुलाया। इनको बाद में चीन के मंगोल शासक कुबले खान ने भी मान्यता प्रदान की। सम्राट को बौद्ध धर्म का सत्य उपदेश देने के लिए फग फ (Phag pa) की नियुक्ति हुई और इस सेवा के लिए उनको तिब्बत, खम और अम्दो के क्षेत्र प्रदान कर दिए गए। उस समय से शाक्य लामा तिब्बत के शासक हो गए। इनका आधिपत्य 1270–1340 ई० तक चला। वास्तव में फग प-जिसका चीन के सम्राट् के साथ बराबर सम्पर्क बना रहा, को छोड़कर अन्य शाक्य लामा राजकीय संरक्षकों (Regents) के हाथ की कठपुतली बने रहे। 70 वर्ष के राज्य काल के बाद शाक्य लामों का वंश समाप्त हो गया और पारस्परिक संघर्ष के कारण तिब्बत चीन के आभिपत्य में चला गया। इसके बाद का इतिहास भारतीय संस्कृति एवं विद्वानों के वहाँ आमंत्रण के सन्दर्भ में उल्लेखनीय नहीं है। 1340–1635 तक यह चीन के संरक्षण एवं आधिपत्य में रहा। 1645 में चे-गुसरी-खान ने तिब्बत पर आक्रमण कर इस पर अधिकार कर लिया। उसके बाद उसने इसे दलाई लामा को सौंप दिया और वह ही इसके शासक बने। दलाई लामा की परम्परा 1959 तक रही और फिर यह चीनी आधिपत्य में चला गया और उसी का एक अंग बन गया।

तिब्बती बौद्ध धर्म और भारतीय विद्वान[6]

तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रवेश के विषय में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। कहा जाता है कि बौद्ध ग्रन्थों का एक बक्सा ला-थों-थोरि-न्यन शल (Lha-tho-thori-nan-shal) के समय में आकाश से प्रसाद की छत-पर गिरा। इस शासक को सामन्त भद्र का अवतार माना जाता था। इन ग्रन्थों का अध्ययन कोई नहीं कर सकता था। पाँचवीं पीढ़ी में श्रोण-त्सान गाम-पो ने संभोट को भारत भेजा था जहाँ से वह ब्राह्मी लिपि लाया जिसे तिब्बती भाषा का लेखन माध्यम बनाया गया। तिब्बती शासक ने चीन से अक्षोभ्य की मूर्ति और नेपाल से शाक्य मुनि की मूर्ति मंगवाकर एक विशाल मन्दिर का निर्माण कर उनको स्थापित किया। संभोट और उसके सहयोगियों ने संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद भी आरम्भ किया। थि-श्रोण-

त्सान, जिसे मंजुघोष का अवतार माना जाता है, के समय में सन्त रक्षित और पंडित पद्मसंभव तथा कुछ अन्य भारतीय बौद्ध विद्वान एवं दार्शनिक तिब्बत में आमंत्रित किए गए। प्रथम सात बौद्ध भिक्षुओं में वैरोचन प्रमुख थे और उन्हीं के द्वारा पीले वस्त्रों वाले भिक्षुओं का सम्प्रदाय बढ़ने लगा। इन तिब्बती भिक्षुओं को लोचव नाम दिया गया और वे दो या इससे अधिक भाषाओं के ज्ञाता थे। इनमें लुई-वान-पो (Lui-wan-po); सगोर वैरोचन रिन्छेन छोग (Rinchchen- Chhog), येशे-वान-पो (Yese wanpoकचोग-शान (Kachog Shan) इत्यादि विद्वानों ने सूत्र, तंत्र तथा अन्य 'ध्यान' से सम्बन्धित ग्रन्थों का संस्कृत से तिब्बती में अनुवाद किया। सन्तरक्षित ने अपने शिष्यों को विनय से माध्यमिक दशन तक सम्पूण बौद्ध सूत्र एवं दशनों से व्याख्या कर अवगत कराया। पद्मसंभव और उसके सहयोगियों ने केवल कुछ ही मेधावी शिष्यों को तंत्रों में शिक्षा दी। पद्म संभव के जीवन का लौकिक वृतान्त पद-म-थन-यिग नामक तिब्बती ग्रन्थ में मिलता है जिसके आधार पर इसके जन्म, शिक्षा, तिब्बत में धर्म स्थापक एवं साहित्यिक कृतियों का विवरण् दिया जा सकता है[7]।

पद्म संभव–पद्माकर

पद्माकर अथवा पद्म संभव जो उस समय (8वीं शताब्दी) में धर्म एवं गुह्य विचारधाराओं तथा बौद्ध 'धारणी' में पारंगत था, उड़ियान (जो बाद में स्वात और काफिरिस्तान क्षेत्र हुआ) का रहने वाला था। उसकी शिक्षा नालन्दा में हुई थी। 747 में उसके सम्बन्धी सन्त वैरोचन जो उस समय तिब्बत में राज पुरोहित था, के आग्रह पर उसे आमंत्रित किया गया और वह तिब्बत गया। यहाँ पर ब्रह्मपुत्र के बायें किनारे पर सम-यास नामक स्थान पर उसने 749 में प्रथम विहार का निर्माण करवाया। इसके निर्माण का श्रेय तिब्बती शासक थि-श्रोण-दे-त्सान को है। यह मगध के ओदन्तपुर विहार के समान बना था। गुरु पद्मसंभव तथा शान्तिरक्षित के सहयोग से यहाँ लामों की धार्मिक संस्था बनाई गई। सन्तरक्षित इस विहार का प्रथम प्रधानाचार्य बनाया गया और वह इस पद पर 30 वर्ष तक आसीन रहा। उसे आचार्य बोधिसत्व भी कहा जाता था। प्रथम 'लामा'; जिसके अर्थ संस्कृत में 'उत्तर' है, का पद शान्तरक्षित के बाद 'पल-वंस' (Pal-bans) नामक एक तिब्बती को मिला यद्यपि प्रथम बौद्ध भिक्षु

ब्य-ख्रि-ग्जिस (Bya-khri-gzis) था । पद्मसंभव के तिब्बती प्रवासकाल में एक चीनी जिसका नाम ह्वशान (Hwashan) था तिब्बत आया और उसने एक नवीन विचारधारा प्रस्तुत की । उसके अनुसार मनुष्य अच्छाई और बुराई दोनों प्रकार के कार्यों से बंधता है । अतः चाहे सोने की शृंखला (जंजीर) हो अथवा लोहे की, मनुष्य बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता है । यह तभी हो सकता है जब वह अपने विचारों पर नियंत्रण रखे । इस प्रकार उसकी विचारधारा से बहुत से भारतीय पंडितों जैसे सन्तरक्षित इत्यादि को धक्का पहुंचा । अपने तर्क से चीनी साधु ने सबको हरा दिया । सन्तरक्षित और अन्य भारतीय दार्शनिकों का प्रभाव घटने लगा । उस चीनी से लोहा लेने के लिए तिब्बती शासक को कमलशील को भारत से बुलाना पड़ा जिसने ह्वशान के प्रचार का खंडन किया तथा चीन ग्रन्थ लिखे । भारतीय चिन्तन, कर्म और दर्शन को पुनः यथेष्ट स्थान प्राप्त हुआ ।

पद्मसंभव ने तिब्बत में बौद्ध धर्म एवं साहित्य के प्रसारण में बहुत अनुदान दिया तथा वहां पर बौद्धिक प्रगति को बढ़ावा दिया । यद्यपि वह तंत्रवाद में विश्वास रखता था और इसके अन्तर्गत बहुत से बौद्ध देवी देवताओं की उपासना होती थी पर इससे उसका बौद्धिक महत्व कम नहीं होता है । उसके पहले भी बसुबन्धु और असंग इसी विचारधारा के अनुयायी थे । पद्मसंभव ने कोई बड़ा धार्मिक ग्रन्थ नहीं लिखा पर वह साधना से सम्बन्धित कई पुस्तिकाओं का रचयिता था । इनके द्वारा ब्राह्मण मंत्रों की भांति बौद्ध धारिणी के उच्चारण से बौद्ध देवताओं को प्रसन्न किया जा सकता था । पद्माकर ने बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का संस्कृत से तिब्बती में अनुवाद कार्य प्रारम्भ करवा कर तिब्बत में साहित्यिक और बौद्धिक चेतना जागृति कर दी । उसके प्रथम सात बौद्ध शिष्यों में तीन वयस्क थे तथा चार युवक थे । उनमें से एक द्पल-वंजस् 13 वर्ष बाद उसी विहार का प्रधानाचार्य बना और अपने अध्ययन के सन्दर्भ में भारत भी आया था । तिब्बत के कई और मेधावी युवक संस्कृत और बौद्ध धर्म की शिक्षा के लिए भारत आये तथा बहुत से भारतीय बौद्ध विद्वान भी यहां से तिब्बत गये जहां उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रसारण एवं ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य किया । एक भारतीय भिक्षु बुद्ध गुप्त ने तिब्बत के शासक को इसी सन्दर्भ में एक पत्र भी लिखा था जिसका उल्लेख तिब्बती तन्-ग्युर (Tan-gyur) में मिलता है । इससे यह प्रतीत होता है कि आठवीं शताब्दी के मध्य भाग में तिब्बत में बौद्ध धर्म की प्रगति होने लगी थी और इस काय मे पद्मसंभव या पद्माकर का बड़ा हाथ था । तिब्बत में बौद्ध

ग्रन्थों का अनुवाद भी सच्चाई के साथ हुआ और अनुवाद मूल का ही स्वरूप रहे। इसीलिए उनका बड़ा महत्व है। जो मूल संस्कृत ग्रन्थ नष्ट हो गए हैं उनके अनुवादित रूप का ही आश्रय लेना पड़ता है। इस सन्दर्भ में संस्कृत-तिब्बत कोश भी बने जिनका अपना स्थान है।

तिब्बत में पद्मसंभव को गुरु या महागुरु की उपाधि से विभूषित किया गया है और उसकी प्रतिमाओं में इसके व्यक्तित्व को उभारा है। उसने तिब्बत को चीन के चेय-येन या मंत्रयान मत को जो तिब्बत में उसके आने से पहले तेजी से फैलने लगा था, बढ़ने से रोका। अमोघ नामक भिक्षु ने इसे चीन में फैलाया था और इसके साथ मृतक संस्कार चीन में जुड़े थे। तिब्बत में इसके साथ राक्षसों और निशाचरों की उपासना जोड़ दी गई। पद्मसंभव तिब्बत में अपना कार्य समापन करके वहां से गुप्त रूप से कहीं चले गए। तिब्बत में राक्षसों एवं दूषित आत्माओं के प्रति जो विश्वास की भावना प्रचलित थी उसे पद्मसंभव ने हटाने का प्रयास किया और नये देवी-देवताओं की पूजा एवं तंत्रवाद जिसमें जप (धारिणी) पर बल दिया गया है, का सूत्र तिब्बतियों के सामने रखा। इस देश में बौद्धिक विकास का भी प्रयास किया गया और संस्कृत से बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद कार्य में भारतीय विद्वानों के अतिरिक्त तिब्बती बौद्ध विद्वानों का भी सहयोग लिया गया। उन्हें वहीं विहारों में शिक्षा दी गई तथा भारत में भी उच्च शिक्षा प्राप्ति के लिए बहुत से मेधावी लोचव आए। यहां से स्वदेश लौटने पर इन्होंने बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद का कार्य किया जो मूल से पूर्णतया मिलते हैं। पद्मसंभव द्वारा स्थापित किया विहार एक शिक्षा केन्द्र बन गया और यहीं लामों संघ का प्रमुख केन्द्र भी रहा। यहां के विश्वसनीय एवं विद्वान अनुवादकों में कश्मीर का वैरोचन भी था।

कमलशील[8] एवं अन्य बौद्ध विद्वान

संघरक्षित, पद्मसंभव और कमलशील वास्तव में महायान मत के माध्यमिक विचार के विद्वान थे जिन्होंने तिब्बत में आठवीं शताब्दी से बौद्ध धर्म के प्रसारण एवं ग्रन्थों के अनुवादन में बड़ा कार्य किया। संघरक्षित एक वृहत् दार्शनिक ग्रन्थ 'तत्व संग्रह' का रचयिता था जिसमें उसने स्वतांत्रिक योगाचार मत के दृष्टि-कोण से तत्कालीन बौद्ध एवं अन्य दार्शनिक विचारधाराओं की समालोचना की है। वह स्वयं तो उन विद्वानों का नाम नहीं देता है जिनकी उसने आलोचना की है पर उसके शिष्य कमलशील, जिसने इसकी व्याख्या की है, ने उन बौद्ध विद्वानों

का नाम भी दिया है । वे थे वसुमित्र, धर्मत्रात, घोषक, बुद्धदेव, संघभद्र, वसुबन्धु, दिग्नाग और धर्मकीर्ति । इनके अतिरिक्त इसी श्रेणी में लोकचित, जैनदर्शन, सांख्य, न्याय और मीमांसा के विद्वानों को भी उसने रखा है। संघरक्षित ने 'मध्यमकालंकार-कारिका' पर भी अपनी टिप्पणी की और यह ग्रन्थ केवल तिब्बती अनुवाद में ही प्राप्य है । जैसाकि पहले कहा जा चुका है, संघरक्षित नालन्दा से तिब्बत आया था जहां 749 में उसने प्रथम बौद्ध विहार की स्थापना की थी । 13 वर्ष बाद 762 में तिब्रत में उसका देहावसान हुआ । लामा मत का संस्थापक पद्मसंभव उसका बहनोई तथा सहयोगी था । शान्तरक्षित के शिष्य कमलशील ने भी तिब्बत में ह्वशान नामक चीनी दार्शनिक के झूठे प्रचार का खंडन कर बौद्ध धर्म, उसके कल्पों एवं दर्शन को पुनर्स्थापित किया । इस सन्दर्भ में उसने ध्यान विज्ञान पर तीन पुस्तकें भी लिखीं । गुरु एवं शिष्य द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म 'माध्यमिक स्वतंत्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

इसके बाद रलपचन के समय बौद्ध धर्म के प्रसारण एवं ग्रन्थों के अनुवादन के लिए पंडित जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, शैलेन्द्रबोधि, दानशील और बोधिसत्व नामक विद्वान तिब्रत में आमंत्रित किए गए और उन्होंने बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया । इस कार्य में रत्नरक्षित, मंजुश्री वर्म, धर्मरक्षित, जिनसेन, रत्नेन्द्रशील, जयरक्षित एवं तिब्बती विद्वान कवापल-त्सेग, चोडो-ग्यल-त्सन इत्यादि ने भी सहयोग दिया । यद्यपि कुछ और पंडित भी तिब्बत गए जिनका सम्बन्ध योगाचार्य मत से था पर संघरक्षित और कमलशील द्वारा प्रचारित माध्यमिक मत की ही तिब्बत में मान्यता थी । प्रशासन की ओर से भी इन्हें प्रोत्साहन मिलता था और शासक ने तो यह भी घोषणा की कि यदि कोई चीनी दार्शनिक ह्वशान की विचारधाराओं से सहमत होगा तो उसे मृत्यु का दंड दिया जायेगा । इस प्रकार का प्रारम्भिक बौद्ध धर्म लन्दर्म के शासन काल के पहले था । यह तिब्बती शासक स्वयं बौद्ध धर्म का शत्रु था और उसने उसे तिब्बत से उखाड़ने का बड़ा प्रयास किया ।

बौद्ध धर्म का द्वितीय चरण

लन्दर्म के अत्याचार से बहुत से बौद्ध भिक्षु अम्दो देश चले गए जहां वे लामा गोन-प-रब-सल (Gon-pa-rab-sal) के शिष्य हो गए । इनके अतिरिक्त और भी तिब्रती वहां गए तथा वहां के लामा के शिष्य हो गए । लन्दर्म की मृत्यु के

बाद उसी अम्दो देश, जो कदाचित् तिब्बत का ही उत्तरी भाग होगा, से बौद्ध धर्म की ज्योति तिब्बत में पुनः प्रज्वलित हुई और यह सभी दिशाओं में विकसित होने लगा। इसका श्रेय दो अम्दो लामों को था। उन्होंने भारत से पुनः सहायता लेने का निश्चय किया। लह-लामा येशे-होड़ के समय में प्रसिद्ध लोचव-रिनच्येन-स्सन-पो भारत में भारतीय बौद्ध साहित्य एवं दर्शन का अध्ययन करने आया। वह बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध प्रवर्तक एवं विद्वान था। येशे-होड़ राजवंशीय था और वह पश्चिमी तिब्बत का राज्यपाल था। तंत्रवाद के बौद्ध धर्म में प्रवेश से वह व्याकुल हुआ और उसने तिब्बती युवक लामों को भारत में अध्ययन के लिए भेजा एवं यहां से भी विद्वान आमंत्रित किए। मगध का एक विद्वान भिक्षु धर्मपाल, जो उस समय नेपाल में था, उसका बौद्ध धर्म का शिक्षक बना। येशे-होड़ का अन्त गरलोग के शासक द्वारा हुआ जो बौद्ध धर्म का शत्रु था। उसने इसे काशगर में बन्द कर दिया था जहां इसकी मृत्यु हो गई।

अतीश

11वीं शताब्दी के आरम्भ से बहुत से भारतीय विद्वान तिब्बत में आने लगे। इस समय बंगाल (मगध), कश्मीर तथा नेपाल में बहुत से बौद्ध मत हो गए थे और उनके शिक्षक तिब्बत आने को तैयार थे। इन विद्वानों में सबसे प्रसिद्ध अतीश (950–1953) दीपांकर था।[9] यह बंगाल का रहने वाला था। और इसकी शिक्षा सुवर्णद्वीप तथा भारत में हुई थी। ओदन्तपुरी नामक बौद्ध विहार में उसने दीक्षा ली थी। उसके पश्चात् वह विक्रमशिला विद्यालय का कुलपति था। उसके जीवन काल, तथा तिब्बत में आमंत्रित होने का बड़ा रोचक वृतान्त मिलता है। दीपांकर श्रीयज्ञ, जिसे अतीश का नाम भी दिया गया है, ने तिब्बत के धार्मिक सुधार आन्दोलन में बड़ा अनुदान दिया। तिब्बती साहित्य के अनुसार इसका जन्म 980 में गौड़ के राजकीय परिवार में विक्रमणिपुर नामक स्थान में हुआ था। बचपन में इसका नाम चन्द्रगर्भ था। इसके पिता का नाम कल्याणश्री और माता का प्रभावती था। जब यह छोटा था तो पांच वर्ष की अवस्था में प्रसिद्ध आचार्य जेतरि से इसने पांच छोटे विज्ञान विषयों का अध्ययन किया था। हीनयान और महायान मतों की प्रमुख साहित्यिक रचनाओं को भी इसने अच्छी तरह पढ़ा था। राहुलगुप्त से कृष्णगिरि विहार (कदाचित् कन्हरी-महाराष्ट्र) में इसने 'ध्यान विज्ञान' (मेडीटेटिव साइंस) का अध्ययन किया और इसका नामकरण गुणज्ञान-वज्र हुआ। 19 वर्ष की अवस्था में ओदन्तपुरी के महाविहार में महासांघिक आचार्य शीलरक्षित

18

से इसने दीक्षा ली और इसका नाम दीपांकर श्रीज्ञान पड़ा। 31 वर्ष की आयु में वह पूर्ण रूप से भिक्षु बन गया। सुवर्णद्वीप (जावा तथा अन्य द्वीपों) के बौद्ध विहारों के प्रधानाचार्य चन्द्रकीर्ति के साथ बौद्ध धर्म का गूढ़ अध्ययन हेतु वह कई महीनों की यात्रा करके इस द्वीप (जावा) पहुंचा। 12 वर्ष तक वहां अध्ययन करके वह ताम्रद्वीप (लंका) होकर मगध लौटा। वहां के शासक महीपाल ने उसे विक्रमशिला के महाविहार में आमंत्रित किया। बाद में महीपाल के पुत्र नयपाल के आग्रह पर वह इसी विक्रमशिला में प्रधानाचार्य बना। स्थाविर रत्नाकर उस समय उसी विद्यालय का अध्यक्ष था।

11वीं शताब्दी के मध्य काल में लह्-लामा येशे-ह्वोड़ तिब्बत का शासक था। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था। उस समय तंत्रवाद एवं बोन् धार्मिक रहस्यमयी क्रियाओं ने बौद्ध धर्म में कुरीतियां एवं अन्धविश्वास पैदा कर दिया था। इनको दूर करने के लिए उसने प्रसिद्ध लोचव रिनच्छेद-जन-पो (Rinchen-Zan-po) एवं लेग्स-पहि-शेरव (Leqspahi-serab) को भारतीय विद्वानों को आमंत्रित करने के लिए भारत भेजा। यह दोनों प्रशासनिक अधिकारी विक्रमशिला विहार गए और उन्होंने दीपांकर की ख्याति सुनी पर इस बार उसे तिब्बत आमंत्रित करने का वह साहस न कर सके और अपने देश वापस चले गए। तिब्बती शासक ने फिर दूसरा तिब्बती शिष्ट मंडल रग्य-त्सोन-ग्रू-सेग (Rgya-tsan-gru-senge) की अध्यक्षता में दीपांकर को आमंत्रित करने के लिए बहुमूल्य उपहारों सहित भेजा पर इस बार भी भारतीय विद्वान ने वहां जाना अस्वीकार कर दिया और इस बार भी तिब्बती मंडल को असफल होकर लौटना पड़ा। तिब्बत में उस समय एक दुर्घटना हो गई और शासक की कारागार में मृत्यु हो गई जिसका उल्लेख पहले ही हो चुका है। इसके बाद एक और तिब्बती मंडल भूतपूर्व शासक का पत्र लेकर दीपांकर के पास विक्रमशिला आया। इसका नेता त्शुल-खिम-ग्यलव था जो विनय धर नाम से भी प्रसिद्ध था तथा भारत में दो वर्ष तक उसने बौद्ध साहित्य का अध्ययन किया था। वहां पर उसका गुरु ग्या-त्सोन-सेगं भी था। यह दोनों दीपांकर से समय समय पर मिले। तिब्बती शासक की मृत्यु को सुनकर दीपांकर ने तिब्बत जाना सिद्धान्त रूप में स्वीकार करलिया। उस समय उसे कुछ साहित्यिक कार्य भी समाप्त करना था। वहां से अध्यक्ष रत्नाकर दीपांकर के तिब्बत जाने में सहमत नहीं थे क्योंकि विक्रमशिला में कोई अन्य आचार्य भिक्षुओं पर नियंत्रण नहीं रख सकता था। अन्त में अध्यक्ष रत्नाकर दीपांकरके

तिब्बत जाने पर सहमत हो गए पर यह आदेश दिया कि वह तीन वर्ष के अन्दर में लौट आए क्योंकि अतीश (दीपांकर) के बिना भारतीय बौद्ध जगत में अंधकार रहेगा। उस समय उत्तरी भारत पर तुरुष्कर (मुसलमान) आक्रमण कर रहे थे।

विनयधर, ग्य-त्सोन, पंडित भूमिगर्भ तथा अपने शिष्य पश्चिमी भारत के शासक भूमि संघ के साथ दीपांकर अतीश ने तिब्बत के लिए प्रस्थान किया। कहा जाता है कि मार्ग में दीपांकर के विरुद्ध कुछ व्यक्तियों ने रोष प्रगट कर उनकी हत्या करने का प्रयास किया पर इस बौद्ध विद्वानके व्यक्तित्व को देखकर उन्होंने अपनी कुत्सित भावनाओं को त्याग दिया और वे चले गए। नेपाल में दीपांकर की चन्दन की चौकी को भी लूटने का 25वें स्थानीय शासक ने प्रयास किया पर वह भी असफल रहा। आर्य स्वयम्भु के मन्दिर में अर्चना कर दीपांकर ने आगे का प्रस्थान किया। इसी समय ज्वर से ग्य-स्तोन की मृत्यु हो गई और इससे बौद्ध विद्वान को बड़ा दुःख हुआ क्योंकि यही तिब्बती द्विभाषीय विद्वान उसके संदेश को तिब्बती में अनुवाद कर जनता तक पहुंचा सकता था। नेपाल का शासक अनन्तकीर्ति उसे पल्पा (पल्पाईथान) नामक स्थान में मिला था और उसके पुत्र पद्मप्रभु को दीपांकर ने दीक्षा देकर भिक्षु बना लिया और वह भी उनके साथ तिब्बत गया। दीपांकर ने नेपाल में कन विहार की स्थापना की। तिब्बती सीमा पर प्रशासन की ओर से उसका स्वागत किया गया। एक सप्ताह तक मानसरोवर तट पर ठहरने के बाद दीपांकर और उसके साथी थोलिंग विहार पहुंचे जहां उनका भव्य स्वागत किया गया। वह तिब्बत में एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त गए और सर्वप्रथम ब्रोम-तोन उसका शिष्य हुआ। तिब्बती बौद्ध मत में तांत्रिक एवं वैदेशिक तथ्यों का जो प्रवेश हो चुका है, उसको दीपांकर ने हटाया। अपने 13 वर्ष के तिब्बत में प्रयास काल में दीपांकर ने बौद्ध धर्म से सम्बन्धित कई ग्रन्थ लिखे जिसमें सबसे प्रमुख 'बोधि-पथ-प्रदीप' था। कहा जाता है कि उसने 200 पुस्तकें लिखीं। 73 वर्ष की आयु प्राप्त कर 1053 में उसकी मृत्यु हो गई। अतीश दीपांकर ने तिब्बत में 60 वर्षीय काल चक्र भी चलाया जिसके आधार पर समय का निर्धारण हो सके। इस सम्बन्ध में उसने उत्तरी भारत में सम्मल नामक स्थान से जुन नामक विद्वान को बुलाया गया। बौद्ध धर्म की मान रक्षा हेतु उसने तिब्बत में एक विशाल संगिति भी बुलाई और बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद कार्य

में भी बड़ी प्रगति हुई। इसमें तिब्बती लोचव-रसानकार, बरलोचव, ज्ञानलोचव, इत्यादि तथा भारतीय विद्वानों ने भी सहयोग दिया।

अन्य विद्वान

अगली शताब्दी में भी बहुत से विद्वानों ने यहां अनुवाद का कार्य किया। इनमें मर्प, मिलगोन-पो तथा प्रसिद्ध भारतीय विद्वान कश्मीर का शाक्य श्री था। इनके अतिरिक्त और बहुत से भारतीय विद्वान तिब्बत गए। शाक्यश्री ने बहुत से सूत्रों एवं शास्त्रों का अनुवाद किया। उसने दोम-ग्युन नामक एक सांस्कारिक शपथ लेने की प्रथा का भी प्रचलन किया। तिब्बत में भारतीय बौद्ध मतों की भांति बौद्ध धर्म के कई मत हो गए जैसे शाक्य-प, ओनान-प-, शान-प और दिगुन्-प, जो स्थानीय नामों के आधार पर बौद्ध दार्शनिक केन्द्र थे। इनके अतिरिक्त कुछ विद्वानों के नाम पर बौद्ध मत थे जैसे कर्म-प, बुलूग-प और कुछ क्रियाओं के आधार पर थे जैसे कह्‌दम-प, द्‌शोग-छेन-प, छयग-छेन-प और शि-च्ये-प। यह सब बौद्ध मत दो प्रमुख श्रेणियों के अन्तर्गत थे--एक तो प्राचीन बौद्ध मत और दूसरा जेलुग-प अथवा संशोधित मत। इन दोनों के मध्य कुछ सिद्धान्तिक मतभेद थे। पंडित स्मृति के आगमन से पहले के तंत्रों का अनुवाद का नाम 'सन-नग-ञिनम' और बाद के तंत्रों के अनुवाद का नाम 'सन-नग-सर्म' पड़ा। 'मंजुश्री मूल कल्प' के अनुवाद को दूसरी श्रेणी में रखा जाता है। आगे के तिब्बती बौद्ध विद्वानों ने 'दोग्मी मातृ तंत्रों' का प्रचलन किया था तथा रिन-च्छेन-रसान-पो ने प्रज्ञा-पारमिता, मातृ तथा पितृ तंत्रों और योगतंत्रों को तिब्बती बौद्धों तक पहुंचाया। प्रसिद्ध तांत्रिक मर्प ने पितृ तंत्र के आधार पर 'गुप्त समाज' मातृ तंत्र के अनुसार महामाया कल्प एवं वज्रहर्ष और शम्भर कल्पों से तिब्बती बौद्धों को अवगत कराया। इस प्रकार तिब्बत में तांत्रिक बौद्ध मत का प्रवेश और प्रसारण हुआ। तिब्बत में जिन भारतीय बौद्ध पंडितों ने तंत्रवाद के प्रसारण में अपना अनुदान दिया उनके नाम थे— धर्मकीर्ति, विमलमित्र, बुद्ध गुप्त, शान्तिगर्भ इत्यादि। धमकीर्ति तथा अन्य विद्वानों ने बौद्ध तंत्रवाद के आधार पर अपने विश्वसनीय शिष्यों को गुप्त विद्या की शिक्षा दी।

भारतीय बौद्ध विद्वानों को तिब्बत में केवल आदर सत्कार ही नहीं मिला, उन्हें अवतार तक मान लिया गया जिनका कार्य बौद्ध धर्म का प्रसारण एवं रक्षा करना था। इन-पन्छेन-रिन्पोछे अथवा तसी लामा के जीवन एवं कार्य

कृतियों का विवरण हमें उन पंडितों के वृतान्त से मिलता है जो तिब्बत गए थे। स्थाविर सुभूति श्रावस्ती एक धनिक परिवार का था जिसे बुद्ध जी ने दीक्षा दी थी तथा अपनी विद्वता के कारण वह अरहत पद प्राप्त कर सका था। बुद्ध जी के कथनानुसार विद्वत समाज में वह वृहस्पति था। जब गृध्रकूट पर्वत पर बुद्ध जी प्रज्ञा-पारमिता का आदेश दे रहे थे तो सुभूति ने प्रश्नकर्त्ता एवं शंका निर्धारक का कार्य किया था। वह महायान मत में बोधिसत्व स्थान प्राप्त कर बुद्ध शाक्य सिंह का प्रमुख शिष्य था। मंजुश्री कीर्ति सम्भल के राजवंश में पैदा हुआ था। उसका पिता देव-इन्द्र को बोधिसत्व शून्यगर्भ का अवतार माना गया था। इसने कालचक्र सिद्धान्त को चलाया था। लेग्-दन-ज्यद (Leg-dan-Jyad) पूर्वी भारत में राजवंशीय कुल में जन्मा था। उसने नागार्जुन तथा अन्य विद्वानों द्वारा संचारित बौद्ध विचारधारा का अध्ययन किया और बाद में नागार्जुन के 'मूलप्रज्ञा' पर 'प्रज्ञादीप' नाम से एक व्याख्या लिखी। वह 'माध्यमिक स्वतंत्र' सम्प्रदाय का संस्थापक था। अभ्यांकर गुप्त[10] पूर्वी भारत में गौड़ का निवासी था और नवीं शताब्दी में उसने मगध में पांच विज्ञानों का अध्ययन कर पंडित पद प्राप्त किया। यहीं पर उसने बौद्ध धर्म में दीक्षा ली। रामपाल नामक बंगाल के शासक ने अभ्यांकर गुप्त एवं बौद्ध धर्म का बड़ा आदर किया। विक्रमशिला विहार में उस समय 3000 बौद्ध भिक्षु तथा वज्रासन में कोई 1000 भिक्षु रहते थे। विक्रमशिला विहार में इसने 'बुद्ध कपाल तंत्र' पर व्याख्या लिखी तथा नालन्दा विहार में उसने 'श्री-नाथ-काय-योनि-तरपण-विधि-क्रम' की रचना की। इनके अतिरिक्त उसकी 'वज्रावली-नाम-मण्डलो-पाचिका' में प्रज्ञाश्री पंडित ने संशोधन किया था तथा बुद्धकीर्ति में उसके 'संपुर तंत्र गज' का तिब्बती में अनुवाद किया था। इसका एक अन्य ग्रन्थ 'काल चक्रावतार' था जिसकी रचना 1125 में हुई थी। इनके अतिरिक्त उसने बहुत से मूल रूप से बौद्ध ग्रन्थ लिखे तथा बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का भी तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। उसने अपने ग्रन्थ अभिषेकाप्रकरण' का भी तिब्बती में अनुवाद किया था। ओदन्तपुरी विहार का यह प्रधानाचार्य था। इसके तिब्बत में प्रवास काल का कहीं विस्तृत रूप से वृतान्त नहीं मिलता है।

लामा मत[11]

तिब्बत का बौद्ध धर्म लामा मत के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भारतीय बौद्ध धर्म जो स्वतः मूल बौद्ध धर्म एवं हिन्दू धर्म का मिश्रण है, के साथ-साथ

तिब्बती स्थानीय कल्पों एवं अन्धविश्वासों का मिश्रण है। इनका सम्बन्ध राक्षसों की यथार्थता तथा देवताओं की मनुष्य के रूप में उत्पत्ति है। राक्षसों से मनुष्य की रक्षा के लिए धार्मिक तथा मनोजव (जादू) की क्रियाओं एवं कल्पों की जानकारी आवश्यक है। इन राक्षसों का मनुष्य के भक्षक के रूप में कपालों में खून पीते हुए तथा जनसमुदाय को पैरों से कुचलते हुए वीभत्स रूप में दिखाया है। इनके विपरीत देवताओं और साधुओं को शान्त अवस्था में दिखाया है। शान्तचित्त एवं करुणाकर देवता भी कभी कभी वीभत्स रूप धारण कर लेते हैं। इसीलिए अवलोकितेश्वर तथा तारा को भी रौद्र रूप में दिखाया है। देवता और जनता के बीच लामा मध्यस्थ का काम करते हैं। पद्मसंभव द्वारा जो बौद्ध धर्म तिब्बत में आया उसे मन्त्रयान भी कहते हैं। इस विद्वान की शिक्षा के अन्तर्गत स्थानीय देवताओं एवं धार्मिक विचारधाराओं को अपनाना था। 'धारणी' तथा 'मण्डलों'—साधारण भाषा में जादू-टोना—के प्रयोग से राक्षसों को वस में करके सिद्धि प्राप्त हो सकती है। इससे मनुष्य देवता के स्वरूप को ही नहीं प्राप्त कर सकता है वरन् स्वयं देवता भी हो सकता है। अमिताभ की उपासना एवं उनके स्वर्ग में विश्वास होना अनिवार्य है। कल्पों एवं आहूतियों—मांस की नहीं—द्वारा आत्माओं की शान्ति हो सकती है। पद्म-संभव ने दिवंगत आत्माओं एवं जीवित गुरुओं की आराधना और पूजा पर भी बल दिया। कहा जाता है कि उत्तरी भारत, तिब्बत और मध्य एशिया में बाद में 84 महासिद्धों की उपासना अनिवार्य हो गई थी। 11वीं शताब्दी में अतीश एवं अन्य भारतीय बौद्ध विद्वानों ने तिब्बत में वज्रायन अथवा काल चक्र का प्रचलन किया। वास्तव में इसे मंजुश्री कीर्ति ने 'काल चक्र तंत्र' नामक ग्रन्थ लिखकर मान्यता प्रदान की थी। यह समय के चक्र को किंवदन्ती के अनुसार बुद्ध जी ने धान्य कटक (उड़ीसा) में प्रकाशित किया था और संमल के राजा सुचन्द्र ने इसे किसी दैवि शक्ति से सीख लिया था। इसका ग्रन्थ रूप में प्रकाशन 965 में हो सका। काल चक्र विष्णु के सुदर्शन की भांति भूतात्विक (कास्मिक) चक्र है जिसमें 6 डन्डे (स्पोक्) लगे हैं। तिब्बती वृतान्तों के अनुसार इसका प्रवेश सबसे पहले नालन्दा में तिसलु अथवा चिलु नामक एक पंडित द्वारा हुआ था और नालन्दा के प्रधानाचार्य नरोत्तम ने इसे स्वीकार कर लिया था। एक अन्य व्यक्ति सिद्धपितों को भी इसका श्रेय दिया जाता है। मंजुश्री कीर्ति का संमल के साथ सम्बन्ध कदाचित् इसका कल्की अवतार का

संकेत करता है । इस सन्दर्भ में कालचक्र को आदि बुद्ध भी माना गया है जिससे अन्य बुद्ध निकले । इसके अन्तर्गत लामों ने एक सर्वोच्च देवता को नहीं मान्यता दी वरन् आदि बुद्ध की समानता अपने मत के अधीष्ट से की, जैसे सामन्तभद्र को ही आदि बुद्ध माना गया है । प्रमुख बुद्ध और बोधिसत्वों के साथ उनकी देवी शक्तियों को सम्बन्धित किया गया जिससे श्रृष्टि सृजन की भावना प्रतीत होती है । वेडेल के मतानुसार, 10वीं शताब्दी के कालचक्र--मृत्युचक्र--ने राक्षसों के प्रति नई जागृति उत्पन्न कर दी । इसमें इन राक्षसों, जिनमें वज्र-भैरव, संवर, हाग्रीव तथा गुह्यकाल प्रमुख थे—को मंत्रों-तंत्रों द्वारा प्रसन्न किया जा सकता है जिससे अन्य छोटे राक्षसों का डर न रहे । कुछ को धर्मपाल या धर्मरक्षक भी कहा गया है तथा उनका कार्य विभिन्न विहारों की रक्षा करना था । इन राक्षसों का प्रवेश महायान मत से सम्बन्धित अन्य देशों में प्रचलित बौद्ध धर्म में भी हो गया जैसे चीन, कोरिया, मंगोलिया और जापान में भी यह किसी न किसी रूप में मान्य है । तिब्बत के लामा मत के अन्तर्ग धर्म को राष्ट्र के ऊपर रख कर प्रधान लामा को ही शासक का रूप दिया है ।

लामा मत ने सम्पूर्ण भारतीय बुद्धों एवं बोधिसत्वों को अपना लिया तथा इनके साथ कुछ स्थानीय देवताओं को भी इसी श्रेणी में स्थान दिया । विभिन्न सूत्रों और तंत्रों द्वारा निर्धारित मान्यताओं को उसी रूप में नहीं लिया गया । बुद्धों में सबसे अधिक अमिताभ, शाक्य तथा भैषज्य गुरु को मान्यता दी गई तथा बोधिसत्वों में अवलोकितेश्वर, मैत्रेय और मंजुश्री को आदर स्थान प्राप्त हुआ । इनके अतिरिक्त तंत्रवाद बौद्ध धर्म का अंग बन गया और मंत्रतंत्र से आत्माओं को बुलाने का प्रयास किया गया और उनसे मिलन की भी संभावना बनी । देवताओं के साथ देवियों को भी यथेष्ट स्थान दिया गया और कुछ की तो स्वतंत्र रूप में पूजा की जाने लगी । इन देवताओं को भी शान्त एवं रौद्र रूप में दिखाया गया । धर्मपाल या धर्मरक्षक के रूप में अन्य राक्षसी विभूतियों की उपासना की गई । इनमें कुछ तो एक प्रकार से इष्ट देवता का रूप बन गए । प्रत्येक लामा का जीवन काल के लिए एक इष्ट देवता रहता था । इन ध्यानी बुद्धों को इसी श्रेणी में रखा है और इनमें वज्रसत्व, वज्रधर और अमिताय् प्रमुख थे । इसके अतिरिक्त कुछ संरक्षित (tutelary) देवताओं को भी स्थान मिला । यह अपनी शक्तियों सहित किन्हीं परिस्थितियों के समय

उपासना के पात्र थे और उनको रौद्र रूप में ही दिखाया जाता था। महाकाल, संवर, हेवज्र, बुद्धकपाल तथा यमान्तक को इस श्रेणी में रखा गया है। कुछ अन्य देवताओं में हय-ग्रीव या अश्वशीश वाला देवता, यम, महाकाल, लह-भो (देवी), चम-श्रण (कदाचित् कार्तिकेय का तिब्बती स्वरूप) तथा त्संगरूप-द्करपो (श्वेत ब्रह्म) हैं। इनके अतिरिक्त आठ अन्य वीभत्स चेहरे वाले व्यक्ति भी नाटकों के पात्र रहते हैं जिनसे लंग-दर-म नामक बौद्ध धर्म विरोधी शासक पर विजय का संकेत है। लामा मत के ग्रन्थों में और बहुत से भारतीय देवताओं का उल्लेख है जैसे ब्रह्मा, तैंतीस देवता एवं चारों दिशाओं के रक्षक लोकपाल इत्यादि।

तिब्बती बौद्ध धर्म की देवियों में तारा का प्रमुख स्थान है और इनका सम्बन्ध अवलोकितेश्वर से है। पर शान्तचित्त वाली इस देवी को भी तंत्रों में रौद्र रूप प्रदान कर काली की ही भांति प्रदर्शित किया गया है। एक सूची में 21 ताराओं का उल्लेख है जिनमें से प्रत्येक का नाम याद रखना हर बौद्ध के लिए अनिवार्य था। हरी तारा तिब्बत में प्रमुख थी जैसे मंगोलो में श्वेत तारा की आराधना की जाती थी। भृकुटी, ऊष्णीष विजया, पर्णशवरी, गंधारी, पिशाची, सर्वशवराणाम भगवती इत्यादि अन्य नाम भी थे। इसके अतिरिक्त मरीची को पृथक् रूप से दिखाया गया है। तिब्बत में लामा बौद्ध मत से सम्बन्धित हाथ में घूमता हुआ चक्र और प्रसिद्ध मंत्र 'ओं मणि पद्मे हुं' भी है। इसके विषय में कहना कठिन है कि इस घूमते चक्र और अंकित मंत्र का क्या तात्पर्य था पर यह हो सकता है कि तिब्बतियों के लिए यही सरल भक्ति भाव से उपासना का साधन था।

लामा मत में भी कई शाखाएं हो गई थीं जिनका आधार सिद्धान्त न होकर लामों का निजी संगठन था। हर मत का अपने विहार तथा संगठन था और हो सकता है कि उनके विभिन्न कंजुर या ग्रन्थ रहे हों। तिब्बत में बौद्ध धर्म के इतिहास के तीन अध्याय हैं : पद्मसंभव द्वारा स्थापित बौद्ध धर्म, अतीश द्वारा लगभग 1040 में संशोधित बौद्ध धर्म और लगभग 1400 के त्सोंग-ख-प द्वारा पुनः संशोधित बौद्ध धर्म। पद्मसंभव सम्प्रदाय में उदययन (उड़ियान) जहां से वह आया था, का सम्प्रदाय सबसे प्राचीन है तथा हिमालय और पूर्वी तिब्बत में अभी भी पाया जाता है। यह लोग पद्मसंभव की विशेष रूप से पूजा करते हैं। अतीश द्वारा संशोधित बौद्ध मत से सम्बन्धित कदम्प सम्प्रदाय है पर

इसको त्सोंग-ख-प द्वारा पुनः संशोधित करने के कारण इसका स्वतंत्र रूप नहीं रहा है। 1071 में एक शाक्य कुमार द्वारा स्थापित शाक्य मत भी इसी का अंग है और इस सम्प्रदाय के प्रधानाचार्यों ने 1270 से 1340 तक तिब्बत पर शासन भी किया था। तारानाथ नामक तिब्बती इतिहासकार भी इसी की एक शाखा का सदस्य था और 1600 में मंगोलिया में उर्ग विहार की उसने स्थापना की थी पर उसकी मृत्यु के बाद गेल-पे या पीले सम्प्रदाय ने इस पर बल प्रयोग से अधिकार कर लिया था। कर-ग्यू-प सम्प्रदाय की स्थापना मिलराय नामक व्यक्ति ने की थी। यह प्राचीन प्रक्रियाओं में विश्वास कर उनका पालन करते थे। मूल रूप से गेल-प या पीले सम्प्रदाय वाले लामा दूसरों से भिन्न थे। यह पीली टोपी पहिनते थे तथा त्सोंग-ख-प की अराधना करते थे। यह ब्रह्मचर्य व्रत का भी पालन करते थे और ल्हासा के अतिरिक्त चार और स्थानों में इनके विहार थे। तिब्बत और मंगोल के लामों मत में कोई भिन्नता नहीं है और मंगोली लामा भी तिब्बती में बुद्ध की अराधना करते हैं। हां, थोड़ा यह अन्तर अवश्य है कि तिब्बती भारतीय नामों का कदाचित् ही उच्चारण करते होंगे पर मंगोल संस्कृत शब्दों का अधिक प्रयोग करते हैं।

तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रसारण में भारतीय बौद्ध विद्वोनों का बड़ा हाथ रहा। अन्धविश्वासी, भूतप्रेत में आस्था रखने वाले इन साधारण प्रकृति के तिब्बतियों में ज्ञान का अभाव था पर आस्था में कमी नहीं थी। भौगोलिक शृंखलाओं के कारण यह बहुत समय तक निकटवर्ती देशों के सम्पर्क में नहीं आ सका। इस देश में बौद्ध धर्म के प्रवेश का श्रेय तो उन चीनी और नेपाली राजकुमारियों को है जिन्होंने प्रसिद्ध शासक श्रोंग-त्सान-गाम-पो से विवाह करके इसे तथागत का धर्म अपनाने पर बाध्य किया। तिब्बती शासक ने भारत में एक शिष्ट मंडल भेजा और ब्राह्मी लिपि का प्रयोग तिब्बत में आरम्भ हुआ। भारत से बौद्ध विद्वान तिब्बत के लिए आमंत्रित किए गए जिनमें सर्वप्रथम संघरक्षित और उसके बाद उसी के बहनोई पद्मसंभव ने वहां जाकर बौद्ध धर्म के लिये विहारों का निर्माण कराया और चुने हुए शिष्यों को शिक्षा दीक्षा दी। भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद आरम्भ हो गया जिसका श्रेय इन विद्वानों तथा इनके सहयोगियों को था जिनमें से कुछ तिब्बती भी थे। पद्म-संभव का वहां विशेष रूप से सत्कार हुआ और उसीके नाम पर एक लामा मत भी आगे चलकर प्रचलित हुआ। मंजुश्री का अवतार मानकर उनकी पूजा

भी होने लगी। चीनी बौद्ध भी तिब्बत को अपने प्रभाव में रखना चाहते थे और इसीलिए एक चीनी दार्शनिक ह्वशान ने यहां आकर नई विचारधारा का प्रचार किया जिसका प्रभाव वहां की जनता पर इतना पड़ने लगा कि भारत से कमलशील को आमंत्रित करना पड़ा। उसने आकर इसे वाकद्वन्द एवं तर्क से परास्त किया और फिर पुनः भारतीय पंडितों का प्रभाव तिब्बत में बढ़ने लगा। रलपचन के समय में ग्रन्थों के अनुवाद के लिए पंडित जिनमित्र, सुरेन्द्र-बोधि, शैलेन्द्रबोधि, दानशील तथा बोधिमित्र को आमंत्रित किया गया। इसके बाद कुछ समय तक बौद्ध धर्म की प्रगति रुक गई और लन्दर्भ के विरोधी दृष्टिकोण के कारण बहुत से बौद्धों को तिब्बत छोड़ना पड़ा।

11वीं शताब्दी से पुनः भारतीय विद्वान तिब्बत में आमंत्रित किये जाने लगे। अतीश दीपांकर इस युग का सबसे प्रसिद्ध विद्वान था जिसे विक्रमशिला से बुलाने के लिए कई बार प्रयास किया गया। अन्त में विनयधर ग्य-त्सोन, पंडित भूमिगर्भ तथा पश्चिमी भारत के एक शासक भूमिसंघ नामक शिष्यों के साथ वह तिब्बत गया। वहां पर अपने 13 वर्ष के प्रवास काल में उसने बहुत से ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद करवाया। उसका एक अन्य कार्य वहां कालचक्र का प्रचलन था। उसके बाद ही बहुत से विद्वान मगध से तिब्बत गए जिनमें अभ्यांकर गुप्त का नाम प्रमुख है। इसने भी बहुत से ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद किया।

तिब्बत में लामा मत का अपना इतिहास है। इसमें भारतीय बौद्ध धर्म के साथ-साथ स्थानीय कल्पों एवं राक्षसीय आत्माओं को भी स्थान दिया गया है। तंत्रवाद का तिब्बत में बहुत पहले ही प्रवेश हो चुका था और यह भी इसी मत का अंग बन गया है। काल चक्र या मृत्यु चक्र ने राक्षसों के प्रति नई भावना जागृत कर दी। वज्र भैरव, हयग्रीव तथा गुह्यकाल इत्यादि को तंत्र-मंत्र से पूजा जाने लगा। कुछ को धर्मरक्षक या धर्मपाल के रूप में भी मान लिया गया और इनका कार्य विभिन्न विहारों की रक्षा करना था। लामा मत ने सम्पूर्ण भारतीय बुद्धों एवं बोधिसत्वों को भी अपना लिया। महाकाल, सेवर, हेवज्र, बुद्ध कपाल तथा यमान्तक को संरक्षित (tutelary) देवताओं की श्रेणी में रखा गया। सृजन शक्ति के रूप में जिन देवियों की उपासना की जाने लगीं उनमें तारा ही सबसे प्रमुख है तथा वे भी कोई 21 प्रकार की है। लामा मत की कई शाखाएं हो गई जिनका विभाजन सिद्धान्त से न होकर

लामों का निजी संगठन था। तिब्बत में बौद्ध धर्म के इतिहास के तीन चरण हैं--जिनका आरम्भ पद्मसंभव, अतीश दीपांकर तथा त्सोग-ख-प द्वारा ईसवी की आठवीं, ग्यारहवीं तथा चौदवीं शताब्दी में संशोधित एवं पुनः संशोधित के रूप में होता है। इन तीनों का अपना अनुदान है और उन्होंने अन्धकार के बाद पुनः धार्मिक क्षेत्र में जागृत उत्पन्न की। तिब्बत का बौद्ध धर्म बहुत ही प्रत्यास्थ (लचीला) था जिसमें सभी स्थानीय तथा भारतीय धार्मिक प्रवृत्तियों को यथाक्रम स्थान मिला। उनकी कुछ क्रियाएं तथा धार्मिक आचरण भी स्थानीय है। तिब्बत में बौद्ध ग्रन्थों का वहां की भाषा में अनुवाद हुआ तथा बहुत से ऐसे ग्रन्थ भी हैं जो केवल तिब्बती भाषा में ही सुरक्षित हैं। इस सन्दर्भ में इन तिब्बती ग्रन्थों का सूक्ष्म रूप से उल्लेख उचित है।

तिब्बती बौद्ध साहित्य[12]

तिब्बती बौद्ध ग्रन्थों को दो प्रमुख श्रेणियों में रखा गया है--'कंजुर' जिनमें बुद्ध जी के धार्मिक आदेश है और 'तंजुर' जो धर्म पर आख्यायिका है तथा प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिकों के ग्रन्थों के अनुवाद है। कंजुर 100 से 108 भागों में है और इसके अन्तर्गत 'विनय', प्रज्ञापारमिता', 'बुद्धावंतसक' रत्नकूट, सूत्र तथा तंत्र है। विनय में मूल सरवास्तिवाद विनय, जो 13 भागों में है, के अन्तर्गत 7 उपभाग हैं--विगयवस्तु, प्रातिमोक्षसूत्र, विनयविभंग, भिक्षुणी प्रतिमोक्ष सूत्र, भिक्षुणी विनयविभंग, विनयक्षुद्रकवस्तु और विनयोत्तर ग्रन्थ। यह नवीं शताब्दी के अनुवादित ग्रन्थ हैं। विनयवस्तु (भाग 1-4) तथा भिक्षुणी विमंग का अनुवाद सर्वज्ञदेव एवं कश्मीर के धर्माकिर ने विद्याकरप्रभ तथा एक अन्य तिब्बती के सहयोग से किया था। प्रतिमोक्षसूत्र विनयविभंग तथा भिक्षुणी प्रतिमोक्ष का अनुवाद कश्मीर के वैमाषिक जिनमित्र ने किया था। 21 भागों में 'प्रज्ञापारिमिता' का अनुवाद नवीं शताब्दी में जिनमित्र, प्रज्ञावर्मन्, विद्याकरसिंह, शैलेन्द्र बोधि, विमलमित्र, आनन्दश्री, मे-शेस्दे तथा कुछ अन्य तिब्बती विद्वानों के सहयोग से हुआ था। अवतंशक छः भागों में है और इसके अन्तर्गत गण्डव्यूह' भी अनुवादित है। 'रत्नकूट' में महायान मत के 49 सूत्रों का छह भागों का संग्रह है। इसमें बोधिसत्वपिटक' तथा भद्रमायाकार व्याकरण' है जिनका अनुवाद जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि तथा शैलेन्द्रबोधि ने किया था। अन्य महायान सूत्रों में 270 ग्रन्थों का 30 भागों में अनुवाद किया गया है। इनके अन्तर्गत 'ललित-

विस्तर', 'सुखावतीव्यूह', 'करण्डव्यूह', 'संधि निर्मोचन', महापरिनिर्वाण सूत्र', 'करुण-पुण्डरीक' तथा धारिणी से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थ है। प्राचीन अथवा पहले के बौद्ध मतों के ग्रन्थों में 'सद्धर्मस्मृत्युपस्थान', 'उदानवर्ग', कर्मविभंग', 'कर्मशतक', 'अवदानशतक' 'शार्टूलकर्णावदान' इत्यादि हैं। 'कर्मविभंग' मध्य एशिया—मुख्यतया खोतानी और कूची—में बौद्ध ग्रन्थों के संकलन का आधार बना। इनके अतिरिक्त 13 और ग्रन्थों का भी अनुवाद हुआ जिनमें 'धर्मचक्रप्रवर्तन', 'जातक निदान', 'पंचशिक्षा नुशंस' इत्यादि है। तंत्रों से सम्बन्धित भी 300 ग्रन्थों का अनुवाद हुआ जो 22 भागों में है। कालचक्र तथा वज्रयान, हेरुक, हेवज्र, डाक, शंवर से सम्बन्धित ग्रन्थों में 'अभिधानोत्तर सूत्र', 'महाकाल तंत्र', 'चण्डमहारोषण तंत्र' तथा 'गुह्य समाज' इत्यादि है। इनके अनुवाद में भारतीय विद्वानों में विद्याकरप्रभ, गयाधर, धर्मबोधि, दानरक्षित का नाम आता है।

तंजुर तिब्बती बौद्ध साहित्य 224 भागों में है और इसमें कोई 3626 ग्रन्थ हैं। यह मुख्यतया तीन भागों में है—स्तोत्र संग्रह, तंत्र व्याख्या तथा सूत्रों की व्याख्या। पहले में 64 ग्रन्थ हैं। इनमें असंग, वसुबन्ध तथा नागार्जुन के ग्रन्थों का अनुवाद है। नागार्जुन के ग्रन्थों में धर्मधातुस्तोत्र, चतुहस्तव, कामत्रय-स्तोत्र, प्रज्ञापारमिता स्तोत्र इत्यादि है। इनके अतिरिक्त मातृचेत, अश्वघोष तथा श्रीहर्ष के ग्रन्थों के भी अनुवाद हैं। तंत्र व्याख्या से सम्बद्ध 3055 ग्रन्थ 86 जिल्दों में हैं। इन तंत्रों में साधना प्राप्त करने की क्रियाओं का विवरण है। अन्य ग्रन्थों में माध्यमिक मत के नागार्जुन, आर्यदेव, भव्य, चन्द्रकीर्ति के ग्रन्थों पर व्याख्या के अतिरिक्त कश्मीर के जयानन्द का 'माध्यमकावतारका' है। शान्तिदेव की 'बोधिचर्चावतार' पर भी व्याख्या है। अन्य ग्रन्थों में नागमित्र, ज्ञानचन्द्र, श्रीगुप्त, अभ्यांकरगुप्त इत्यादि की रचनाएं हैं। नागार्जुन का 'भावना-क्रम', 'अश्वघोष के ग्रन्थ, तथा शान्तिदेव का 'शिक्षा समुच्चय' विशेषतया उल्लेख-नीय हैं। नागार्जुन का 'सुहृत्ट लेख', चन्द्र गोमिन का 'शिष्य लेख', मातृयेत का 'महाराज कनिष्क लेख' तथा 'मण्डलविधि' एवं नागार्जुन का 'भाव संक्रान्ति' नामक अन्य ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद हुआ। वसुबन्धु और मैत्रेयनाथ (असंग) के ग्रन्थ योगचार मत के सन्दर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वसुबधु का 'अभिधर्मकोश' भी तिब्बती में अनुवादित है। कुछ साहित्यिक ग्रन्थों एवं नाटकों का भी यहां की भाषा में अनुवाद हुआ, जैसे अश्वघोष का 'बुद्धचरित', हर्षदेव का 'नागानन्द', चन्द्रगोमिन का 'लोकानन्द'। खोतान के इतिहास का वृतान्त–

'ली-युल-ची' भी तिब्बती में प्राप्त है । कुछ अन्य ग्रन्थों में दिग्नाग का 'तर्क-शास्त्र', चन्द्रगोमिन का 'कातन्त्र' जिसका व्याकरण से सम्बन्ध है, संस्कृत में 'अमरकोश' व्याख्या सहित, दण्डिन का 'काव्यादर्श', 'छन्दोरत्नाकर', कालिदास का मेघदूत, भिषजज्ञान सम्बन्धी 'योगशतक', 'अष्टांग हृदय' और उस पर व्याख्या, 'महाव्यूपति'—संस्कृत-तिब्बती शब्दकोश, तिब्बती व्याकरण से सम्बन्धित 'संधि निर्मोचन सूत्र', 'प्रज्ञापारमिता', पशु चिकित्सा से सम्बन्धित 'शालिहोत्रीय' तथा पाणिनि की व्याकरण से सम्बन्धित 'सारस्वत व्याकरण' इत्यादि ग्रन्थ तिब्बती में उपलब्ध हैं ।

इन के अतिरिक्त और बहुत से ग्रन्थ हैं जिनके आधार पर तिब्बत में बौद्धधर्म का इतिहास लिखा जा सकता है । इस सम्बन्ध में तारानाथ का तिब्बत में बौद्ध धर्म नामक ग्रन्थ विशेषतया उल्लेखनीय है । इन ग्रन्थों के आधार पर तिब्बत में बौद्ध धर्म के विकास, वहां के विभिन्न बौद्ध मत, तिब्बत में आमंत्रित भारतीय विद्वान और उनके अनुदान इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला जा सकता है । ग्रन्थों के अनुवाद में भारतीय पंडित के साथ एक तिब्बती विद्वान लोचक भी रहता था । प्रत्येक संस्कृत शब्द तथा पुस्तकों एवं विद्वानों के नामों का भी तिब्बती में अनुवाद होता था । संभोट एवं उसके साथियों ने तिब्बत में जो धार्मिक-साहित्यिक ज्योति जलाई थी, वह कोई एक सहस्त्र वर्ष तक प्रजवलित रही । संभोट के समकालीनों में उसके शिष्य धर्मकोश, ब्राह्मण शंकर, चीनी ह्व-शान तथा नेपाली शीलमंजु थे । जितना भी भारतीय बौद्ध साहित्य तिब्बत पहुंच सकता था उस सम्पूर्ण का तिब्बती में अनुवाद हुआ । कालिदास के 'मेघदूत' का भी अनुवाद हुआ । पाणिनि के सूत्र तथा रामचन्द्र की व्याख्या का शब्दानुकूल तिब्बती में अनुवाद हुआ और वहां से यह ग्रन्थ मंगोलिया और मंचूरिया पहुंचा । तिब्बती बौद्धों ने धर्म के अतिरिक्त कला क्षेत्र में भी अपना अनुदान दिया । इन कला कृतियों के निर्माण में उनका दृष्टि-कोण स्थानीय परम्परा को लेकर बुद्ध, बोधिसत्व एवं अन्य देवी-देवताओं, जिनका तंत्रवाद से सम्बन्ध था, की विभूतियों के निर्माण एवं चित्रकला के माध्यम से उसे प्रदर्शन करना था । भारत के पाल राजाओं की कला एवं तत्कालीन कलाकारों ने भी इस दिशा में अपना अनुदान दिया था जिसका पृथक् रूप से कला से सम्बन्धित अध्याय में विचार किया जायेगा ।

———

1--तिब्बत की भौगोलिक स्थिति एवं इतिहास का संक्षिप्त विवरण 'इनसाक्लोपीडिया ब्रिटानिया' 1973--वाल्यूम 21 पृ० 1106 से उद्धृत है। अन्य पुस्तकों में भी इसका वर्णन है। देखिए: बेल: 'तिब्बत--पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट' (1924); पिलियो--'इस्ट्वाग आंसियां डु तिब्बत' (तिब्बत का प्राचीन इतिहास--फ्रांसीसी में)--1961। रिचर्डसन--'ए कल्चरल हिस्ट्री आफ तिब्बत (1969)। प्राचीन ऐतिहासिक वृतान्त शरतचन्द्र-दास के विस्तृत लेख 'कान्ट्रीब्यूशन्स आन दी रेलीजन, हिस्ट्री इवसेंट्रा आफ तिब्बत' जो 'जनरल आफ दी एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल' में 1881 में पृ० 186 से आगे तक पृष्ठों में छपा।

2--एक अन्य स्रोत के अनसार महाभारत के युद्ध के समय रूपति नामक एक कौरव योद्धा युद्ध के डर से तिब्बत की ओर भाग गया। उसने एक स्त्री का रूप धारण कर लिया और उसके साथ एक सहस्त्र सैनिक थे। उसने वहां 'पुग्युल' नामक राज्य की स्थापना की जिसका नाम बाद में 'बोद' पड़ गया। इसके वंश के इतिहास के बारे में कोई [अन्य जानकारी नहीं है (दास--जे. ए. एस. बी. 1881 पृ० 211)।

3--स्रोन-त्सान-गाम-पो के जीवन काल एवं कृतियों का विवरण दास के लेख के अतिरिक्त 'इन्साक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथिक्स (ई० आर० ई०) वाल्यूम 8-पृ० 702 व एवं 703 अ में उल्लिखित है। बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में इसके अनुदान का विवरण वाल्यूम 7 पृ० 784 में मिलेगा।

4--शरतचन्द्र दास के अनुसार इसकी जन्मतिथि 600 और 617 ई० के बीच में रखी जा सकती है। इसे चेन-रे-सिंग (अवलोकितेश्वर) का अवतार माना जाता है (जे० ए० एस० बी० 1881 पृ० 218 नोट)। वैडेल के अनुसार इसके देहान्त की तिथि 650 है (इन्साक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स (ई० आर० ई०) वाल्यूम 7, पृ० 784।

5--रल्पचन के बौद्ध धर्म के प्रति अनुदान का विवरण 'इन्साक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स' (ई० आर० ई०) वाल्यूम 7 पृ० 785 अ-786 व तक में मिलेगा। इलियट ने अपने 'हिन्दूजम एण्ड बुद्धिजम' में भी इसका उल्लेख किया है। शरतचन्द्र दास ने भी अपने लेख में इसका विस्तृत रूप से विवरण दिया है। (जे० ए० एस० बी० 1881 पृ० 227 से)।

6---तिब्बत में बौद्ध धर्म के विकास एवं भारतीय विद्वानों के अनुदान का विवरण शरतचन्द्र दास के लेख (जे० ए० एस० वी० 1881 एवं 1882) तथा उनकी पुस्तक 'इंडियन पंडित्स इन दी लेंड आफ स्नो' (1903) में मिलेगा। शरतचन्द्र दास के इस सन्दर्भ में दो अन्य लेख भी उल्लेखनीय है जो जे० ए० एस० वी० 1889 पृ० 40, 82 तथा जनरल आफ दी बुद्धिस्त टेक्स्ट सोसायटी 1893 में छपे। पद्मसंभव और दीपांकर अतीश का विवरण इन्साक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स में भी मिलेगा। इलियट की पुस्तक 'हिन्दूजम एण्ड बुद्धिजम' में भी इसका विवरण मिलेगा (पृ० 347 से)। इस सन्दर्भ में वैडेल की पुस्तक 'बुद्धिजम आफ तिब्बत' भी उल्लेखनीय है।

7--'इन्साक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स' वाल्यूम 9 पृ० 590-1 में इसके जीवन काल एवं कृतियों का विवरण मिलेगा। शरतचन्द्र दास की तिब्बत में भारतीय पंडितों के सन्दर्भ में लिखी पुस्तक में भी पद्मसंभव तथा अन्य भारतीय विद्वानों का विवरण मिलेगा।

8---कमलशील उस युग का वृहत लेखक एवं अनुवादक था। उसके लिखे १७ ग्रन्थ 'तंजुर' नामक तिब्बती बौद्ध ग्रन्थ संग्रह में सम्मिलित है। उसने 'रत्नकूट' के कुछ भाग का भी अनुवाद किया था। वास्तव में आठवीं शताब्दी का यह काल तिब्बत का 'आगस्तन युग' था (इलिएट---'हिन्दुजम एण्ड बुद्धिजम' पृ० 379)।

9---अतीश (अतीष) दीपांकर के जीवन काल एवं कृतियों और तिब्बती बौद्ध धर्म में अनुदान का विवरण शरतचन्द्रदास की तिब्बत में बौद्ध विद्वान से सम्बन्धित पुस्तक एवं अन्य लेखों, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है, तथा इन्साक्लोरीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स में भी मिलेगा। इलियट तथा वैडेल ने भी अपने ग्रन्थों में इनके कार्यों का उल्लेख किया है। एक भारतीय विद्वान ने अतीश के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी है।

10--इस विद्वान का विवरण शरतचन्द्र दास की पुस्तक एवं लेखों के अतिरिक्त इन्साक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स में मिलेगा। इसकी कृतियों का विवरण एन-एन० दास गुप्ता ने अपने एक लेख में किया है जो 'इंडियन कल्चर' में छपा था(वाल्यूम पृ०)। बंगाल के इन विद्वानों का

उल्लेख रमेशचन्द्र मजूमदार ने अपने ग्रन्थ हिस्ट्री आफ बंगाल में भी किया है ।

11---लामा मत का विस्तृत रूप से वृतान्त वैडेल की पुस्तक 'बुद्धिज़्म इन तिब्बत' में मिलेगा । इसके अतिरिक्त 'इन्सायक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स' तथा इलियट की 'हिन्दूज़्म और बुद्धिजम' में भी संक्षिप्त विवरण मिलेगा । शरतचन्द्र दास ने भी इस मत का बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में उल्लेख किया है ।

12---तिब्बती बौद्ध साहित्य का विवरण विन्टरनिट्ज की 'हिस्ट्री आफ इन्डियन लिटरेचर', वाल्यूम 2 में मिलेगा (1933) । संक्षेप में कुछ साहित्यिक रचनाओं का उल्लेख रघुवीर ने अपनी तिब्बत परिचय पुस्तक में भी दिया है । (नई दिल्ली 1960) ।

अध्याय 9

तिब्बती कला

तिब्बत की कला का भी धर्म की भांति मुख्यतया स्रोत भारत था यद्यपि इस पर चीनी प्रभाव भी पड़ा। इसने दोनों के अनुदानों को सहर्ष ग्रहण किया पर अपने अस्तित्व को नहीं खोया। कश्मीर तथा पाल एवं सेन कला पद्धतियों को तिब्बत ने अपने यहां सुरक्षित रखा जबकि अपने जन्म स्थान में वे लुप्त होने लगीं थी। इतना ही नहीं, यहां पर उन कलाओं की दिशाओं में प्रगति भी हुई। यहां की कला भी मुख्य रूप से धार्मिक तथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित थी। हां, इसके तिब्बत में पहुँचने से पहले वो धर्म था जिसके मानने वाले वों-पों कहलाते थे और उसपर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा। बौद्ध धर्म ने भी तिब्बत के स्थानीय विचारों तथा रूढ़िवादी परम्पराओं को अपने में मिला लिया। इस प्रकार तिब्बत की कला मूल रूप से बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है और भारतीय संस्कृति की ही देन है। स्थाप्य कला के दृष्टिकोण से तिब्बत के प्राचीन बौद्ध मन्दिर ही सबसे पुराने प्रतीक हैं जिनका निर्माण श्रोन-त्सांग-गां-पो के समय से हुआ था और इनके निर्माण में शासक की नेपाली तथा चीनी रानियों का हाथ था। इन मन्दिरों का भी समय समय पुनिर्माण कार्य हुआ जिससे इनके मूल स्वरूप के विषय में कुछ कहना कठिन है। एक अन्य मदिन्र व्सं-यस् का निर्माण क्रि-श्रोण-इदे-व्त्सन (Kri-Sron-Ide-btsan) (755–97) के समय में हुआ था जो कई बार अग्नि के प्रकोप से ध्वंसित हुआ पर प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इसके आकार (प्लान) का पता चल जाता है और यह ओदन्तपुरी के भारतीय मन्दिर पर आधारित था। इसके अतिरिक्त पश्चिमी तिब्बत में रिन-चेन-ब्जान-पो (Rin-Cen-bzan-po) में बहुत से धार्मिक स्थान ल्ह-कन (Lha-k' an) और विहार विद्यालय (ग्त्सुग-लग-कन) बनवाये। इसको गुगे के शासक ने बौद्ध धर्म तथा संस्कृत भाषा एवं धार्मिक साहित्य का अध्ययन करने और लौटने पर उस क्षेत्र में बौद्ध कला को प्रस्तुत एवं बढ़ावा देने के लिए भेजा था। इनमें से कुछ अभी भी मंगनंग में हैं। ल्ह-कन अपने आकार तथा सुनहरे मुलम्बे (gilded) की छत के लिए प्रसिद्ध

है। भारतीय स्तूप को तिब्बत में म्योद-र्तेन (mcod-rten) कहते हैं और इसका प्रवेश महायान मत के साथ तिब्बत में हुआ। इसके भी तिब्बत में कई उदाहरण हैं। इसमें किसी पवित्र व्यक्ति की अस्थियां भी रख दी जाती थीं और उस समय इसे ग्दुन-र्तेन् (gdun-rten) कहते थे। अस्थियों के अतिरिक्त कांस्य पात्र में धार्मिक ग्रन्थ जैसे प्रज्ञापारमिता का एक श्लोक में लिखकर रख दिया जाता था।

चित्र कला

तिब्बती कला वास्तव में चित्रकला (रि-मों) के लिए प्रसिद्ध है। यह चित्र भित्तियों (दीवारों), कपड़ों, रेशम तथा लकड़ियों पर बनाए जाते थे। इनका विषय बौद्ध धर्म से सम्बन्धित बुद्ध, बोधिसत्व तथा तांत्रिक मण्डलों का चित्रण था। कलाकारों को तंत्र शास्त्र का पूरा ज्ञान रखना पड़ता था अथवा लमों उनको इस सम्बन्ध में आदेश देता था। भित्तियों पर मंडलों का चित्रण करने के लिए कलाकार के लिए लमों का सहयोग लेना और भी आवश्यक था। कई विहारों में तो बहुत से लोचक ही कलाकार होते थे जो स्वतंत्र रूप से चित्रों को बना लेते थे। भित्तियों पर जो चित्र बनाए जाते थे उनका चित्रण करने से पहले दीवार पर मिट्टी और भूसे से सना मोटा प्लास्टर कर दिया जाता था और खूब चिकनी तह बनाकर चित्र की रूपरेखा खींच दी जाती थी। चित्र को विभिन्न रंगों से रंगने के बाद उस पर तैलिक पदार्थ को लेपन होता था जिससे चित्र पर चमक रहे।

तारानाथ के अनुसार तिब्बती कलाकारों ने भारतीय कलाकारों से इस दिशा में भी शिक्षा एवं आदेश प्राप्त किए थे। नालन्दा उस समय बौद्ध धर्म, शिक्षा एवं कला का प्रसिद्ध केन्द्र था और यहीं के कलाकारों ने तिब्बत को भी प्रेरणा दी। पाल शासक धर्मपाल के समय में धमिन और वितपालो नामक दो कलाकार विश्वविख्यात थे और वे दोनों चित्रकला एवं शिल्पकला में पारंगत थे। उनकी शिल्प कला 'पूर्वी पद्धति' की है। चित्रकला की दिशा में धमिन तो पूर्वी पद्धति को मानने वाला था पर वित्पालों को मध्य देश की कला ने प्रभावित किया था। तिब्बती चित्रों का विषय पूर्णतया धार्मिक रहा है। बुद्ध जी के जीवन की प्रमुख घटनाएं, जातक कथाएं, विभिन्न बोधिसत्व एवं भविष्य में होने वाले बुद्ध, तिब्बत में भारतीय विद्वान तथा उनके शिष्य और बौद्ध

देवी देवताओं आदि का चित्रण तिब्बती चित्रकारों ने बड़ी ही सरलता एवं सुन्दरता के साथ किया है। इन भित्तचित्रों के अतिरिक्त ग्रन्थों में भी चित्रों को स्थान दिया गया है। विहारों को भी चित्रों से अलंकृत किया गया। इन सभी चित्रों में भारतीय प्रभाव प्रमुख है। प्राकृतिक दृश्य चित्रण, बादल, पहाड़ और नदियों तथा पुष्प एवं वृक्षों का धार्मिक चित्रों में स्थान—चीनी प्रभाव का संकेत करता है। देवी-देवता, बुद्ध-बोधिसत्व और मध्य में बुद्ध की मूर्ति भारतीय परिपाटी के अन्तर्गत बनाई गई है। इसी प्रकार से भिक्षुओं के शारीरिक चित्रण एवं उनकी वेशभूषा पर भी भारतीय प्रभाव है जो सुनहरे अलंकृत रूप में भी दिखाई पड़ता है। मन्दिरों में आन्तरिक भित्त चित्रों के अतिरिक्त रेशमी कपड़ों पर बने चित्र भी टांगे जाते थे जिन्हें थंगन्क कहते हैं। एक मजबूत चिकने कपड़े पर चाक और गोंद का लेपन होता था और फिर उसपर एक चिकने पत्थर को अच्छी तरह से फेर दिया जाता था। एक धार्मिक चित्रकार उस पर रूपरेखा खींच देता था और फिर फूल, पत्ती, बादलों, पहाड़ों तथा उपासकों से पृष्ठभूमि को भर दिया जाता था। इनको विभिन्न रंगों से रंग कर चित्रण किया जाता था। यह भित्तचित्र परिपाटी उत्तरी-पश्चिमी भारत एवं मध्य भारत की चित्र कला पर आधारित थी जो 9वीं से 12वीं शताब्दी के काल में इन क्षेत्रों में विकसित रही होगी। अजन्ता की चित्रकला का युग तो ईसवी की छठवीं अथवा सातवीं शताब्दी तक ही है। हो सकता है कि मध्य एशिया की चित्रकला ने 9वीं शताब्दी में तिब्बत में प्रवेश किया हो पर बाद में भारतीय एवं नैपाली कला का ही तिब्बत की कला पर पूर्णतया प्रभाव रहा। 12वीं शताब्दी में भारत तथा मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के लुप्त होने के कारण तिब्बत कला ने स्वतंत्र रूप लिया और इसके विकास में चीनी कला का प्रभाव एवं कलाकारों का अनुदान भी था।

यद्यपि पाल एवं सेन कला पद्धति का तिब्बती कला के विकास में बड़ा हाथ था पर भारत के अन्य क्षेत्र मुख्यतया कश्मीर और मध्य एशिया एवं चीन के कलाकारों ने भी इसे प्रोत्साहित किया। कश्मीर के अतिरिक्त मध्य एशिया, स्वात, नेपाल और चीन से यहां कलाकार आए। मन्दिरों के चित्रों में कहीं कहीं कलाकारों की शैषिक शैली का भी उल्लेख है जैसे ईवांग के मन्दिरों में कुछ कृतियां ली-लुग्स् पद्धति और अन्य र्‌ग्य-लुग्स पद्धति की बनी बताई गई है। ली से खोतान का संकेत है और रंग्य से 'र्‌ग्यनग' अथवा

'चीन' तथा रे ग्य-गर' (भारत) का संकेत हो सकता है। अन्य कृतियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कलाकार का संकेत भारत ही से था। यह ईवांग मन्दिर कोई 13वीं शताब्दी का है। मंगनग (Mangnang)—पश्चिमी तिब्बत—में मिले कुछ चित्र या तो मूल है अथवा यह कश्मीर में 12वीं शताब्दी की चित्र शैली का अनुकरण है। लद्दाक में ल्हकन के चित्र भी कश्मीर शैली पर आधारित है पर यह उतरार्द्धकाल के हैं। कश्मीर शैली का प्रभाव सम्पूर्ण तिब्बत पर फैला था पर नेपाली कला के प्रवेश से यह निम्न हो गया। चित्रों को कई अंकों में चित्रित किया जाता था और प्रत्येक अंक का चित्र स्वतंत्र रूप से अपनी कहानी कहने में पर्याप्त था। सस-स्क्य-प (Ssa-skya-pa) के आगमन एवं शक्ति गठन से युवान चीन का प्रभाव बढ़ने लगा। उन्होंने पाल के साथ भी सम्बन्ध स्थापित रखे तथा मूल संस्कृत ग्रन्थों से पुस्तकालयों को सुशोभित किया। उन्होंने कुछ राजकीय कलाकारों (ti-shih) की भी नियुक्तियां कीं और मंगोल वंश से भी सम्पर्क बनाए रखा। चीन के साथ भी सांस्कृतिक आदान-प्रदान हुआ और यहां से बहुत से कलाकार वहां गए। बु-स्तोन लेखक के विहार में चित्रकला पर चीनी प्रभाव दिखाई पड़ता है क्योंकि चीन और मंगोलिया से कलाकार बुलाए गए थे। इस पर तिब्बत में विभिन्न कला शैलियों का पदार्पण होकर समन्वय भी हुआ और किसी शैली का प्रसरण उस देश के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क पर ही आधारित था। इन सब अन्तर्राष्ट्रीय प्रभावों के होते हुए भी तिब्बत में स्वतंत्र शैली का भी विकास हुआ। धार्मिक कला होने के नाते यह शैली भारतीय प्रतिमा लक्षण पर ही आधारित थी जिनका अनुवाद तिब्बती भाषा में हो चुका था।

तिब्बती चित्र पूर्णतया अलंकृत एवं सम्पन्न है। बुद्ध, बोधिसत्व तथा अन्य देवी देवताओं को कभी भी अकेला नहीं चित्रित किया गया है। सभी चित्रों में इनकी प्रधानता है तथा सुनहरे और अन्य रंगों से यह अलंकृत किए गए हैं। यदि किसी देवता को शान्त रूप से चित्रित करना है तो वह श्वेत वस्त्रों एवं इसी रंग में दिखाया गया है, पर क्रोध एवं वीभत्स रूप दिखाने के लिए लाल या गहरे नीले रंग का प्रयोग किया गया है। बोधिसत्वों को कई वर्गों में रखा है। कलाकार केवल निर्धारित रंगों का ही प्रयोग कर सकती था जिससे भाव प्रदर्शन हो सके पर वेशभूषा एवं अलंकरण में वह स्वतंत्र था। तिब्बती जीवन एवं भौगोलिक वांग्मय का भी चित्रण किया जाता था। भिक्षु

यात्रियों द्वारा जुलूस में निकलना, हरे भरे खेतों के बीच एक छोटा सफेद घर। दौड़ते हुए घोड़े, पहाड़ों तथा उनपर मंडराते हुए बादल इत्यादि को कलाकार बड़ी सुगमता एवं सुन्दरता से चित्रण कर देता था। प्राचीन चित्रों में भी कोई स्थान रिक्त नहीं रखा जाता था पर इसमें केवल मूर्तियों, मनुष्य की आकृतियों एवं धार्मिक चिन्हों (Symbols) से ही भर दिया जाता था और रंगों में भी समानता रहती थी, यद्यपि लाल रंग को प्रधानता दी जाती थी। इन चित्रों में कलाकार की अपनी विचारधारा से उत्पन्न कृतियों का स्थान नहीं था, पर चीनी प्रभाव के कारण प्राकृतिक दृश्यों को भी स्थान मिला। थंकों पर बने चित्रों के नीचे कहीं पर भी कलाकारों का नाम नहीं है पर भित्त-चित्रों के नीचे कहीं कहीं पर उनका नाम मिल जाता है। कभी-कभी उन लामों का भी नाम मिलता है जिन्होंने इनको बनाने में अपना अनुदान दिया जो केवल रूपरेखा देने तक ही सीमित था। चित्रकारों में सभी बौद्ध भिक्षु नहीं थे। कुछ तो साधारण वर्ग के थे जिनका यह पैतृक व्यवसाय था। रूपरेखा बनाने के लिए लकड़ी के सांचे भी रहते थे जिनकी सहायता से स्थानीय कलाकार चित्र बना लेते थे और चित्रों में समानता भी रहती थी। पुस्तकों में भी चित्रों को स्थान दिया जाता था। बुद्ध एवं बोधिसत्व और देवताओं के चित्र पृथक् पृष्ट पर और बौद्ध विद्वानों के चित्र पिछले पृष्ठ पर बनाये जाते थे। अक्षरों को सुनहरे अथवा चांदी के रंग से लिखा जाता था।

तिब्बती कला पर भारतीय और कदाचित् चीनी और ईरानी प्रभाव भी पड़ा पर इसकी कुछ विशेषताएं भी है[2]। कहा जाता है कि तसपरंग (पश्चिमी तिब्बत) के भित्तचित्रों पर अजन्ता कला का प्रभाव है और उत्तर पश्चिम के तन्गुर क्षेत्र में चीनी ईरानी तथा भारतीय प्रभावों का समन्वय है। बाद में मुख्य रूप से भारतीय प्रभाव ही रह गया जो रंगों, ब्रुश के प्रयोग तथा विषय तक सीमित था और चीनी प्रभाव, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्राकृतिक दृश्यों और विचित्र कल्पनाओं के चित्रण तक था। भित्तचित्रों के अतिरिक्त बड़े 'थंग-कस' नामक चित्र गाढ़े कपड़े या रेशम पर बनाए जाते थे जिनको लपेट कर एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाया जाता था। इन्हें धार्मिक अवसरों या संगितियों में भी दिखाया जाता था। यह कई गज़ लम्बे होते थे और तिब्बती कलाकार कोई 10 इंच और 8 इंच के वर्ग क्षेत्र में 100 चित्रों को बना देता था जो छोटे होते हुए भी पहचाने जा सकते थे। इन चित्रों में देवताओं

और महापुरुषों का प्रमुख रूप से चित्रण होता था और उसके चारों ओर उसके जीवन का वृतान्त तथा छोटे देवताओं को दिखाया जाता था। इनके अतिरिक्त तिब्बती कला में मण्डलों का प्रमुख स्थान है। मण्डल से महापुरुष के क्षेत्र का संकेत है। कुछ प्रमुख विहारों का भी चित्रण किया गया है। कुछ महत्वपूर्ण चित्रों में संसार चक्र को दिखाया गया है। इनमें सकेन्द्रवृत्त (Concentric circles) है। इनमें से सबसे छोटे केन्द्रित वृत्त में सर्प, सुअर तथा मुर्गी को दिखाया है जिससे क्रोध, अज्ञान तथा कामुकता का संकेत है। बड़े वृत को षट् भागों में बांटा गया है। पुरुष और पशु को भूमि क्षेत्र में दिखाया है और भूमि के नीचे उन पैशाचिक आत्माओं को रक्खा है जो भूख प्यास से तड़पते रहते हैं और तंग मुख से आग उगलते हैं। नरक में रहने वाले इन व्यक्तियों को यातनाओं के आधार पर 20 वर्गों में बांटा गया है। इनके अतिरिक्त स्वर्ग में देवता तथा असुर हैं और यह असुर देवताओं के साथ बराबर संघर्ष करते रहते हैं। इनके ऊपर के क्षेत्र में बहुत से देवता हैं। यह सब संकेतिक रंगों में चित्रित हैं। तीसरे वृत में 12 मूर्तियां हैं जिनसे हेतु (Causes) और परिणाम का संकेत है।

तिब्बती चित्रकला में एक अन्य प्रकार के चित्र त्सोग-शिन (Tsog-shin) कहलाते हैं। इनसे सम्पूर्ण लामा देवताओं का संकेत है। इनको षट् भागों में बांटा है तथा प्रत्येक के अंक भी निर्धारित हैं। इनकी गिनती इस प्रकार है—बुद्ध 48, बोधिसत्व 12, देवियां 9, रक्षक देवता 42, धर्मरक्षक तथा वीभत्स रूप वाले 27 छोटे देवता, एवं चारों दिशाओं के रक्षक 4। यह चित्र भी संकेन्द्रवृत्ति में है। केन्द्र में प्रमुख देवता हैं और उनके दाहिने बायें देवियां हैं। इन चित्रों को लामा कलाकारों द्वारा अथवा उनके निर्देशन में बनाया जाता है। चित्रों में अवलोकितेश्वर को प्रधानता दी गई है।

तिब्बत की प्राचीन चित्रकला में समयानुसार कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और वर्तमान चित्रण प्रणाली उसी आधार पर है। चित्र बनाने के लिए गाढ़े वस्त्र को एक ढांचे (फ्रेम) में कस दिया जाता है। फिर उस पर एक भाग गोंद और सात भाग खड़िया का हल्का गरम पानी मिलाकर तैयार किया घोल पोत दिया जाता है और सूखने दिया जाता है। इसके बाद चिकने पत्थर को पानी डालकर उस पर फेरा जाता है और उसे फिर सूखने दिया जाता है। इस समय प्रयोगिक रंगों को रंगीन पत्थर, खनिज तथा वनस्पति से तैयार

कर रख लिया जाता है । रंगीन खनिज पदार्थों में नीला और हरा ल्हासा, तथा पीला खम प्रान्त से उपलब्ध हो जाता है, लाल रंग पारे का जारेच (Oxide of mercury) से बनाया जाता है तथा सिन्दूर रंग भारत अथवा चीन से आयात होता है । सुनहरा रंग सेमे के रूप में नेपाल से आता है । वनस्पति से बनाए गए रंगों में काला रंग चीड़ के कोयले अथवा काजल और नीला भारत से आता है । खनिज को कूट कर पानी, गोंद, लाख तथा फिट-करी के साथ मिलाकर रंग बनाए जाते हैं । वनस्पति को उबाल कर फिर गोंद मिलाकर रंग बनाते हैं । ब्रुश के लिए चीड़ के छोटे मजबूत डन्ठलों को खोखला कर उसमें बकरी या खरगोश के बालों को भर देते हैं । वृताकार परिधि बनाने तथा ठीक माप के लिए दो लकड़ियों को जोड़कर कर्कर (Comdass) बनाया जाता है । शुभ मुहूर्त में लामा कलाकार चित्रण का कार्य आरम्भ करता है । इस प्रकार तिब्बत की चित्रकला प्राचीन परिपाटी के आधार पर आज भी जीवित है । चित्र बन जाने के बाद उसको रेशमी वस्त्र से ढंककर ऊपर नीचे गोल लकड़ी के रूलर में कस दिया जाता है जिससे चित्र में किसी प्रकार की सिकुड़न न आने पावे और चित्र को सरलता से लपेटा जा सके । इस प्रकार के अनेकों थंग-चित्र बनाए गए जो लामा मत से सम्बन्धित है और उनमें बुद्ध, बोधिसत्व तथा अन्य बौद्ध देवी-देवताओं, लोकपाल तथा स्थानीय देवताओं और संसार चक्र तथा देवताओं के मंडलों को ज्यामिति के अनुसार चित्रण किया गया है । प्राचीन तिब्वती कला की यही सबसे बड़ी देन है ।

शिल्प कृतियां[3]

तिब्बती शिल्पकृतियां मुख्यतया कांसे या अष्टधातु की हैं और कुछ मिट्टी की बनी मूर्तियों पर सोने का पानी फेर दिया जाता था । इस कला के विकास में भी तिब्बत को अन्य देशों से अनुदान लेना पड़ा । किंवदन्तियों के अनुसार तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रवेश के साथ-साथ मूर्तियां भी विदेशों—भारत, नेपाल तथा चीन—से आई । सर्वप्रथम श्रोण-त्सान-गाम-पो के समय में उसकी चीनी राजकुमारी पत्नी अपने साथ एक बुद्ध की मूर्ति लाई । कहा जाता है कि यह भारतीय कलाकारों की देन थी और इसे विश्वकर्मा की कृति माना जाता है । तारा की मूर्ति नेपाल से उसी शासक की नेपाली राजकुमारी पत्नी लाई थी और ल्हासा के रामोछे मन्दिर में यह स्थापित की गई । बु-स्तोन के मतानुसार

अवलोकितेश्वर की मूर्ति दक्षिण भारत से तिब्बत लाई गई थी। इस प्रकार तिब्बत में विभिन्न देशों तथा भारत के भी विभिन्न क्षेत्रों से शिल्पकृतियां तिब्बत पहुंचीं और इन्होंने भारतीय परम्पराओं एवं स्थानीय परिपाटियों के अन्तर्गत वहां की कला को प्रभावित किया। कश्मीर से लेकर बंगाल तथा दक्षिण पश्चिम और दक्षिण भारत की शिल्पकला ने तिब्बत में अनुदान दिया। बौद्ध धर्म के प्रवेश के प्रारम्भिक काल में भारत से तथा कुछ अन्य क्षेत्रों से बौद्ध मूर्तियों का आयात हुआ। भारतीय बौद्ध विद्वान भी अपने साथ अपने इष्ट देवी अथवा देवता की मूर्ति ले गए जो उनके जीवन काल तक उन्हीं के साथ रही और उनके मरने के उपरान्त उसी विहार में उनको प्रतिष्ठित कर दिया गया। भारतीय विद्वान अतीश अपने साथ तारा की मूर्ति लाए थे जो नेतंग विहार में उनकी मृत्यु के पश्चात् स्थापित कर दी गई। कश्मीर से भी कलाकारों को बुलाया गया। द्वार फलकों पर बुद्ध के जीवन सम्बन्धी दृश्यों का चित्रण इन्हीं कश्मीरी कलाकारों ने किया था। मन्दिरों में कांसे या अष्ट धातु की मूर्तियां पाल कलाकारों की देन हैं। इस प्रकार धर्म की भांति कला ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। शक्य तथा ल्हासा में नेपाली कलाकारों ने प्रमुख रूप से अपना अनुदान दिया। तिब्बत में भी कुछ कला केन्द्र बन गए जहां पर मूर्तियां बनाई जाती थीं। पश्चिमी तिब्बत में लुक कला का केन्द्र प्रसिद्ध था। इसके अतिरिक्त र्त नाग भी एक केन्द्र था जिसपर चीनी प्रभाव अधिक था। कलाकारों ने चित्रकला की भांति शिल्पकला क्षेत्र में भी मूर्ति विज्ञान का प्राश्रय लिया। भयानक देवताओं के चित्रण एवं शिल्पकला में तिब्बती कलाकार अधिक सफल रहे। तंत्रवाद से सम्बन्धित स्त्री-पुरुष की मूर्तियां एवं तंत्र देवी देवताओं की मूर्तियां भी बड़ी सरलता तथा सफलता से बनाई गई हैं। चित्रों की भांति मूर्तियों के निर्माण में नेपाली कलाकारों का बड़ा हाथ था और तिब्बती मण्डल चक्र, थंकों एवं चित्रकला की विशेषता है। मूर्तियों में महायान, वज्रयान, देवी देवताओं के चित्रण एवं शैल्पिक निर्माण में 'साधना' साहित्य ने कलाकारों को बड़ी प्रेरणा एवं सहायता दी। प्रतिमा लक्षण सम्बन्धी तिब्बती साहित्य बहुत विशाल है। जिन देवताओं एवं देवियों की कला कृतियां बनाई गई हैं उनमें अवलोकितेश्वर एवं तारा प्रमुख है और मंजुश्री को मिलाकर यह बौद्ध त्रिमूर्ति है जो तिब्बत की रक्षा करते हैं। इनके अतिरिक्त बौद्ध विद्वानों की भी मूर्तियां बनाई गई और उनको देवस्थान दिया गया।

रिन-पो-चे तथा पद्मसंभव की मूर्तियां बहुतायत से मिलती है। तिब्बती कलाकारों ने शिल्पकला में बड़ी उन्नति की। पत्थर के अतिरिक्त कांसे या अष्ट धातु, मिट्टी तथा पकी मिट्टी की भी मूर्तियां बनाई गई। 12वीं–13वीं शताब्दी के ल्हासा मन्दिर में दीवारों पर बुद्ध बोधिसत्वों की मूर्तियां सुन्दर वस्त्र पहने दिखाई गई हैं। कुछ कलाकारों के नाम ग्रन्थों में मिलते हैं पर इनके बार में अधिक जानकारी नहीं है। तिब्बती शिल्पकला को युग सम्बद्ध नहीं किया जा सकता है क्योंकि उनपर कोई तिथि नहीं दी होती है। तिब्बत में पत्थर की मूर्तियां बहुत ही कम हैं। तांबे और कांसे की बनी मूर्तियां सरलता से यहां लाई जा सकती थीं।

तिब्बती बौद्धमूर्तियां[4]

तिब्बती मूर्तियों में बौद्ध धर्म से सम्बन्धित बहुत सी बुद्ध, बोधिसत्व एवं अन्य देवी देवताओं की मूर्तियां मिली है जिनके सामूहिक रूप में उल्लेख उचित होगा। सर्वप्रथम आदि बुद्ध का उल्लेख किया जाय जिनको मूल लामा मताव-लम्बी सामन्त भद्र के नाम से तिब्बत में पूजा जाता था। चित्रों में इनको नीले रंग में दिखाया है। यह सदैव ही पद्मासन में बैठे दिखाए गए हैं और कभी आभूषण नहीं पहने हैं। 'लाल टोपी' वाले लामा एवं नेपाल के महायान मतावलम्बी इनको 'वज्रसत्व' नाम से पूजते हैं और 'पीली टोपी' वाले इन वज्रधर को सर्वोच्च मानते हैं। इनकी समानता जापान में अमिताभ और वैरोचन से की जाती है। नेपाल और तिब्बत में आदि बुद्ध अपनी शक्ति ज्ञानेश्वरी के साथ दिखाए गए हैं। आदि बुद्ध ऊष्णीश धारण किए हैं तथा बोधिसत्व की भांति आभूषित भी हैं। उनकी स्त्री आदिप्रज्ञा है। आदि बुद्धजी की वज्रधर (वज्रधारी) और वज्रसत्व रूप में मूर्तियां मिली है। इसमें पद्म पुष्प से एक त्रिशूल निकलता दिखाया गया है। वज्रसत्व प्रायः कमल पर पद्मासन में बैटे दिखाए गए हैं। उनके ऊष्णीश में अक्षोभ की मूर्ति है और वह ध्यानि बोधिसत्व के वस्त्र तथा आभूषण पहिने हैं। उनके दाहिने हाथ में वज्र हैं।

जिन बुद्धों की मूर्तियों का निर्माण किया गया है उनमें दीपांकर, काश्यप, गौतम, मैत्रेय (भविष्य में आने वाले बुद्ध) एवं भैषज्य बुद्ध है। यह पांचों मानुषि बुद्ध तिब्बत एवं नेपाल में लोकप्रिय थे। इन मानुषि बुद्धों ने अपने पूर्व जन्म में बोधिसत्व के रूप में बोधि ज्ञान प्राप्त कर लिया था और वह

सर्वोच्च 'बुद्धि' जो आदि बुद्ध का एक अंश है, की प्राप्ति के अधिकारी माने गए। तथागत का रूप पाने पर उनका पूर्वजन्म नहीं होगा। इन मानुषि बुद्धों को सदैव ही भिक्षु वस्त्र में चित्रित अथवा निरूपित किया गया है और वे कोई आभूषण नहीं पहने हैं। उनका दाहिना कन्धा अथवा वक्षस्थल खुला रहता है। कुछ उत्तरी भारतीय बौद्ध मत त्रिकाम से बुद्ध, धर्म और संघ को संकेतित करते हैं। बुद्ध से प्रजनन शक्ति, धर्म से रक्षित एवं प्रसरित शक्ति और संघ से उन दोनों का एकीकरण (ध्यानी बोधिसत्व) माना गया है। दीपांकर को शाक्य मुनि से पहले 24वें अथवा उत्तरी मत के अनुसार 52वें तथागत माना गया है। तिब्बत में इनको बौद्ध कला में स्थान मिला है। काश्यप को भी शाक्य मुनि से पहले रखा गया है और यह तीसरे मानुषि बुद्ध हैं। उनको सदैव ही सिंह सिंहासन पर दान मुद्रा में दिखाया जाता है। गौतम बुद्ध चतुर्थ मानुषि बुद्ध थे। इनकी जीवन कथा बौद्ध कला का मुख्य अंग रही है। इनको विभिन्न मुद्राओं में दिखाया गया है तथा इनसे सम्बन्धित गाथाओं का भी चित्रण है। पांचवें मानुषि बुद्ध मैत्रेय को धर्मचक्र वर (दान) तथा वितर्क मुद्राओं में कलश और चक्र के साथ चित्रित किया है। तुषित स्वर्ग में शाक्य मुनि ने इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाया था। कहा जाता है कि असंग को मैत्रेय ने ही तंत्र सिद्धान्त में दीक्षा दी थी और इसीलिए उन्हें तंत्रवाद का स्थापक भी कहा जाता है। मध्य एशिया में तो मैत्रेय का एक मन्दिर 469 ई० में तुरफान में बन गया था। तिब्बत में मैत्रेय को बुद्ध एवं बोधिसत्व के रूप में दिखाया गया है। बुद्ध के रूप में उनके बाल छोटे हैं तथा ऊष्णीय, ऊर्ण और लम्बे छिदे कान हैं। वह भिक्षु के वस्त्र पहने हैं और उनके हाथ धर्मचक्र प्रवर्तन मुद्रा में है। उन्हें पैर नीचे किये भी दिखाया गया है। इनके ऊष्णीष में एक स्तूप बना है तथा कमर में डुपट्टा बंधा है जिसका किनारा बाहों तक है। पद्मपानि बोधिसत्व के शीष में अमिताभ की एक छोटी सी मूर्ति है। अन्तिम काय बुद्ध अथवा 'निर्माण काय' की श्रेणी में 'मनल' या भेषज्य गुरु है। कहा जाता है कि 'मनल' उस समय के बुद्ध थे जब गौतम बोधिसत्व थे। तिब्बत में इन्हें बुद्ध अथवा बोधिसत्व रूप में दिखाया गया है। बुद्ध के रूप में उनको भिक्षु की आकृति दी गई है। ध्यानावस्था में उनके बाएं हाथ में भिषज् पात्र है और दाहिना हाथ वर मुद्रा में है जिसमें कोई फल है। बोधिसत्व के रूप में वह चित्रों में पांच पत्तियों की ऊष्णीस एवं आभूषण पहने हैं। आठवीं

शताब्दी में तिब्बत में सात भैषज्य शाक्य मुनि को घेरे दिखाए गए हैं।

ध्यानी बुद्धों की श्रेणी में वैरोचन, अक्षोभ्य रत्न संभव एवं अमिताभ तथा अमोघसिद्धि को रखा गया है। तिब्बती ग्रन्थ 'पद्म-तन-यिग' में अक्षोभ्य का नाम ध्यानी बुद्धों में नहीं है और उनके स्थान पर वज्रसत्व है। इस प्रकार वज्रसत्व और अक्षोभ्य की समानता है। प्रत्येक बुद्ध के साथ में शक्ति भी है जो चित्र में उसी का रंग लेती है। अपनी शक्ति के साथ उन्हें एक राज-कुमार के रूप में दिखाया जाता है तथा वे मुकुट भी धारण करते हैं। वैरोचन या प्रथम ध्यानि बुद्ध को आदिबुद्ध भी कहा गया है। तिब्बती महायान मताव-लम्बी बैरोचन को योगाचार्य मत का निर्माता नहीं मानते हैं यद्यपि चीनी तथा जापानी बौद्धों में यही धारणा थी। भारत में ईसवी की चौथी शताब्दी में असंग द्वारा इस मत को महायान के साथ जोड़ दिया गया था। इसके लिए इन्हें मैत्रेय से प्रेरणा मिली थी। सिद्धि के लिए तंत्र, धारणी, मंत्र और मुद्राओं का प्रयोग होता था जिसके आधार पर मनुष्य का वृहत शक्ति के साथ समन्वय हो सके। वैरोचन को सदा केन्द्र में ध्यान मुद्रा में दिखाया गया है। इनकी शक्ति वज्रधात्विश्वरी है और दोनों ही श्वेत रंग से चित्रित किए गए हैं। आध्यात्मिक और सांसारिक भावनाओं का समन्वय दोनों हाथों द्वारा किया गया है जिसे वज्रधातु और गर्भधातु कहा है। वैरोचन मंडल के केन्द्र में है और उन्हें सारे जीव प्राणी का स्रोत माना गया है। द्वितीय ध्यानिबुद्ध अक्षोभ्य को भी तिब्बती कला में दिखाया गया। इनकी शक्ति तारालोचना है जिनका रंग नीला है। यह गौतम बुद्ध के दूसरे रूप में वज्रासन के नाम से तिब्बत में प्रसिद्ध थे। तिब्बत में चतुर्थी ध्यानिबुद्ध अमिताभ को भी अपनी शक्ति पान्दारा के साथ चित्रित किया गया है। इनका रंग गुलाबी है। रत्नसंभव अधिक लोक-प्रिय नहीं थे। इनकी मूर्तियां नहीं मिलती है पर चित्रों में इन्हें दर्शित किया गया है। इनकी शक्ति मामाकी है तथा इनका रंग पीला है।

पांच ध्यानिबुद्धों के साथ पांच ध्यानी बोधिसत्व भी हैं जो आदि बुद्ध का ध्यान करते हैं। यह क्रमशः सामन्तभद्र, वज्रपाणि, रत्नपाणि, अवलोकितेश्वर और विश्वपाणि है। तिब्बत में जिन बोधिसत्वों को कला में स्थान दिया गया है वे मुख्यतया मैत्रेय, अवलोकितेश्वर और मंजुश्री हैं। मैत्रेय को आदि बुद्ध एवं ध्यानिबोधिसत्वों की श्रेणी में भी रखा गया है। इन दोनों में विभिन्नता का उल्लेख पहले ही हो चुका है। इनकी बुद्ध एवं बोधिसत्व रूप में पैर नीचे

कमल पर रख कर दिखाया गया है और दोनों में धर्म चक्रप्रवर्तन मुद्रामें है। भारतीय राजकुमार के रूप में यह आभूषण भी पहिने हैंऔर ऊष्णीश में एक स्तूपाकार आभूषण मुकुट है[5] । एक में वह सिंघासन पर आसीन है तथा प्रभा मण्डल (nimbus) में पाँच ध्यानिबुद्ध हैं । इनके अतिरिक्त अवलोकितेश्वर को भी तिब्बत कला में उच्च स्थान दिया गया। तिब्बत में सातवीं शताब्दी के मध्य काल से उनकी पूजा होने लगी और यह बहुत ही लोकप्रिय हुए । अवलोकितेश्वर की मंजुश्री तथा वज्रपाणि के साथ मिलकर बौद्ध त्रिमूर्ति के रूप में उपासना होती थी। आरम्भ की कला में उनको एक शीश तथा दो बाहुओं से दिखाया गया है पर कभी कभी उनके पाँच शीश भी दिखाए गये हैं। वह पद्मपाणि के रूप में अधिक लोकप्रिय थे। चित्रों में इनको वर मुद्रा में दिखाया गया है। अवलोकितेश्वर और मंजुश्री का समन्वय कर सिंहनाद लोकेश्वर के रूप में भी दिखाया गया है[6] ।

तिब्बती बौद्ध कला में तारा को प्रधानाता दी गई है और इनका सम्पर्क अवलोकितेश्वर से है। इनके दो रूप है– 'हरी' तारा और 'श्वेत' तारा। श्रोन-त्सान-गां-पो की दो पत्नियों, जो नेपाल तथा चीन की राज कुमारी थीं– को क्रमशः इन्हीं दो प्रकार की ताराओं का अवतार माना है। नेपाली तारा को एक भारतीय महिला की भांति बैठे हुए दिखाया गया है और उनके एक हाथ में कमल है। उनका बायाँ पैर नीचे झुका हुआ है। श्वेत तारा को पाँच नेत्रों वाली दिखाया है जिनमें मुख के अतिरिक्त हथेलियों, पैरों के तरल भाग तथा मस्तिष्क में भी एक नेत्र है। तिब्बत में तारा देवियों की संख्या क्रमशः बढ़ती गई। इनको दया एवं करुणा का स्वरूप माना है। पाँच ध्यानिबुद्धो के साथ पाँच ताराओं और उनके विभिन्न रंगों का विवरण मिलता है। अक्षोभ की नीले रंग की लोचना, रंग संभव की पीले रंग की मामकी, वेरोचन की सफेद रंग की वज्रधात्वीश्वरी, अमिताभ की गुलाबी रंग की पान्दारा और अमोघसिद्धि की हरे रंग की तारा है[7]। इस प्रकार इन पाँच ध्यानी बुद्धों के साथ उनकी पाँच शक्तियाँ तारों के रूप में जुड़ी हुई है। इनके अतिरिक्त मारीची (वज्रवाराही), ऊष्णीष-विजया सितातपत्रापरजिता नामक शक्तियों का भी तिब्बती कला में चित्रण एवं निरूपण है। बोधिसत्वों के अतिरिक्त धर्म रक्षकों, लोकपालों तथा महापुरुषों को भी कला में स्थान दिया गया है जैसे महाचक्र वज्रपाणि,

यमान्तक, हयग्रीव, यम, कहाकाल और वैश्रवण, विरुपाक्ष, विरुढ़क तथा धृतराष्ट्र नामक लोकपाल जिनको मध्य एशिया क्षेत्रीय कला में भी स्थान मिला है। भारत के आमंत्रित विद्यानों को भी महासिद्ध व्यक्तियों को श्रेणी में स्थान देकर उनकी मूर्तियाँ स्थापित की गई। इनमें पद्मसंभव का स्थान सबसे प्रमुख है। महासिद्धों की श्रेणी में योगिनियों तथा डाकनियो को भी रखा गया और वे चित्रों में दर्शित हैं[8]। यह सब लामा मत से सम्बन्धित हैं तथा तिब्बती बौद्ध धर्म में ग्रहण कर ली गई थी। इनमें बहुत से नाम भारतीय भी प्रतीत होते हैं और कुछ योगनियों के नाम भी हैं जैसे पुरुषों में दारिक, समुद्र, व्यालि, नाग-बोधि, सर्वभक्ष इत्यादि तथा योगनियों में कोकिली, लक्ष्मीकरा, मेखला, मणिभफद्रा इत्यादि। मध्य युग में तिब्बती कला में बड़ी प्रगति हुई पर यह स्थानीय अथवा "चीनी प्रभाव के फल-स्वरूप थी। भारतीय प्रभाव बंगाल के पाल एवं सेन युगीय कलाकारों के अनुदान के पश्चात् समाप्त हो चुका था[9]।

इस प्रकार तिब्बती बौद्ध कला में भारतीय अनुदान मूल रूप से मध्यकालीन भारत के पूर्वीय क्षेत्र तथा कश्मीर और उत्तरी पश्चिमी भारत द्वारा हुआ। यहाँ से धमिन तथा वितपालो नामक नालन्दा के कलाकारों के अतिरिक्त अन्य कलाकार भी तिब्बत में आमंत्रित किए गए और उन्होंने बौद्ध धर्म से सम्ब-न्धित शिल्प एवं चित्रकला में अपना अनुदान दिया। बुद्ध, बोधिसत्व, तारा; प्रज्ञापारमिता तथा अन्य बौद्ध देवी-देवताओं, स्थानीय सिद्ध पुरुषों एवं भार-तीय पद्मसंभव ऐसे विद्वानों की मूर्तियों का निर्माण हुआ हैं। थंकों पर भी चित्र बनाए गए। तिब्बती कलाकारों ने प्रारम्भिक रूप से मध्यकालीन भारतीय बौद्ध कला परिपाटी को अपनाया। भारतीय प्रभाव आकृति, स्वरूप तथा वेशभूषा से पूर्णतया प्रतीत होता है। स्त्रियों के चित्रण में भी भारतीय सौन्दर्य का आभास मिलता है। बाद में चीनी प्रभाव पृष्ठभूमि (Landscade) के चित्रण एवं आकृति और वेशभूषा में दिखाई पड़ने लगा। अन्त में तिब्बती कलाकारों ने इन दोनों के समन्वय से अपनी परिपाटी को जन्म दिया। मूर्तियाँ प्रायः मिट्टी में आटा मिलाकर बनाई जाती थीं और फिर उनको रंग दिया जाता था या सुनहरा पानी फेर दिया जाता था। सुन्दर मूर्तियाँ काँसे, ताँबे या अष्ट धातु की बनाई जाती थीं और उनमें मणियाँ लगाई जाती थीं। चित्रण प्रायः सूती कपड़े या रेशमी वस्त्र अथवा दीवारों पर तकनीकी

ढंग से किया जाता था। स्थाप्य कला में स्तूपों के निर्माण में प्रायः भारतीय परम्परा को अपनाया गया था पर प्राचीन स्तूपों एवं विहारों के बारे में जानकारी नहीं है। ग्यान-त्से के अवशेष से पता चलता है कि इसकी आकृति तथा ऊचाई और परिक्रमा के साधन बोरोबुदूर के विशाल स्तूप से मिलते जुलते हैं। इस प्रकार पाल स्थाप्य कला की लहर दक्षिण में एक ओर जावा पहुँची और उत्तर में तिब्बत पर इसने प्रभाव डाला। तिब्बती शिल्प तथा चित्रकला का विकास मध्य युग में हुआ और इसका प्रभाव तुन--हुआँग तक फैला था। कलाकृतियों और चित्रों का बड़ा संग्रह पाश्चात्य देशों में पेरिस के म्यूजे गिमे तथा लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में सुरक्षित है। तिब्बत में भी बहुत सी कला कृतियाँ तथा मन्दिरों में लगे थंग चित्र हैं जो बाद के समय के हैं। कलाकृतियों में लेख के अभाव के कारण तिथि निर्धारित करना कठिन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है केवल वेशभूषा एवं आकृति के आधार पर उनके निर्माण काल का संकेत मिलता है। कला के सन्दर्भ में पूजा सामग्री–घंटा, घूमते हुए चक्र को भी रखा जाता है। विशेष रूप से तिब्बती कला अपने मंडल थंक चित्रों के लिए प्रसिद्ध है जिनमें एक केन्द्रीय व्यक्ति के चारों ओर बहुत से संदर्भित देवी देवता एवं राक्षसों और संसार चक्र को चित्रित किया गया है। परिधि चक्र में साँसारिक [व्यक्तियों को उनके गुण एवं बुद्धि ज्ञान के अनुसार रखा गया है। भूमि के नीचे नरक का दृश्य है जहाँ के रहने वालों को 20 श्रणियों में बाँटा है। स्वर्ग का भी चित्रण है तथा असुरों और देवताओं का संघर्ष भी चित्रण है। तिब्बती कलाकारों ने ब्राह्मण देवताओं–इन्द्र, ब्रह्मा, गणेश– को भी अपना लिया था। इस प्रकार कला में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त स्थानीय शक्तियों एवं तंत्रवाद और ब्राह्मण मत विचारधाराओं को भी स्थान दिया गया। तिब्बती कला का प्रारंभिक रूप भारतीय बौद्ध कला से सम्बन्धित था, बाद में चीनी प्रभाव पड़ा और अन्त में समन्वित कला शैलियों को इसने स्थानीय रूप दिया। यह तिब्बती कला आज भी इस नवीन रूप में जीवित है।

1—तिब्बती कला का बहुत से विद्वानों ने अध्ययन किया है एवं इस पर ग्रन्थ भी लिखे हैं। 'इन्साक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड आर्ट, में टूची ने इसका विवरण दिया है (वाल्यूम 14 पृ० 61 से)। इस सन्दर्भ में अध्ययन सूची भी दी गई है। प्रस्तुत वृतान्त इस लेख के अतिरिक्त ए-गेटी की 'दी गाड्स आफ नार्दन बुद्धिज़म' पर आधारित है (आक्सफोर्ड 1928)। इसके अतिरिक्त हैकिन के 'कैटालाग टू स्कल्पचर आडियन ए. तिवेतन ओ म्यूजे गिमे' पेरिस 1931 से भी बहुत सी सामग्री ली गई है। कला इतिहास के सम्बन्ध में कुमारस्वामी की 'ए हिस्ट्री आफ इंडियन एण्ड इंडोनेशिन आर्ट', बैनजामिन रावलेड की 'दी आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर आफ इंडिया' तथा जिमर की 'दी आर्ट आफ इण्डियन एशिया' से भी सहायता ली गई है। टूची के उपरोक्त 'इन्साइक्लोपीडिया आफ आर्ट' में प्रकाशित लेखके अतिरिक्त उनका 'इन्डो-तिबेका' (4 भागों में रोम 1931–41) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। भारतीय कला पत्रिका मार्ग में भी 'तिब्बती कला पर एक विशेष अंक प्रकाशित हुआ है (वाल्यूम 16 नं० 4 सितम्बर 1963)। 'इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में भी तिब्बती कला का सूक्ष्म रूप में विवरण है (1913 वाल्यूम 21)।

2—इस सम्बन्ध में मार्ग में तिब्बती चित्रकला पर लिखा लेख विशेषतया उल्लेखनीय है (16–पृ० 19 से)। राहुल सांकृतरायन ने भी इसी पत्रिका अंक में तिब्बत की बौद्ध चित्रकला एवं तिब्बती चित्रकला की तकनीक पर दो लेख प्रकाशित किए हैं। यह तकनीकी विवरण प्रथम लेख पर आधारित है।

3—शिल्प कृतियों का विवरण टूची के लेख के अतिरिक्त हेकेन के पेरिस म्यूजे संग्रहालय में तिब्बती मूर्तियों के सन्दर्भ में लिखा गया है। इनके अतिरिक्त जिमर की कला की पुस्तक में भी कुछ कला कृतियों का विवरण है (प्लेट 612 एवं 613)।

4—तिब्बती साहित्यिक श्रोतों के आधार पर इन मूर्तियों का वर्गीकरण तथा प्रतिमा लक्षण और विवरण गेटी की पुस्तक 'दी गाड्स आफ नार्दन बुद्धिज़म' (आक्सफोर्ड 1928) में दिया है। मार्ग के विशेष तिब्बत कला अंक में भी इनका विस्तृत तथा क्रमिक रूप से एक चार्ट में उल्लेख है (पृ० 38 से)। यह विवरण गेटी की पुस्तक पर आधारित है।

5--देखिए : गेटी की पुस्तक में प्लेट 15, 14 तथा 23।

6--गेटी--प्लेट 24।

8--यही--पृ० 97।

9--देखिए : 'इन्साइक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स' 7 वृ० 785; पाल सेन कालीन बंगाल की कला का विस्तृत रूप से वृतान्त रमेशचन्द्र मजूमदार की पुस्तक 'हिस्ट्री आफ बंगाल', वाल्यूम 1 में भी मिलेगा (कलकत्ता 1971 पृ० 603 से) कुमारस्वामी ने भी अपनी भारतीय कला के इतिहास की पुस्तक में इसका सूक्ष्म विवरण दिया है (पृ० 105 से)।

अध्याय १०

अफगानिस्तान एवं पूवी ईरान

मध्य एशिया के दक्षिणी भाग में स्थित अफगानिस्तान तथा पूर्वी ईरान भी इस क्षेत्रीय संस्कृति का अंग रहे हैं। भौगोलिक दृष्टिकोण से मध्य एशिया की दक्षिणी-पश्चिमी सीमाएं इन दोनों देशों तक विस्तृत थीं। यह दोनों देश चीन से पश्चिम की ओर जाते हुए रेशम मार्ग पर होने के कारण अपना व्यापारिक महत्व भी रखते थे। मध्य एशियाई घुमन्तू लोगों ने भी यहां जाकर राजनैतिक क्रान्ति कर अपना अधिकार जमाया। ईरानियों ने भी दारयबुश के समय में अपनी राज्य सीमाएं अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया तक विस्तृत थीं और बाद में सिकन्दर (अलिकसुन्दर) ने भी इसको अपने आक्रमण का क्षेत्र बनाया। मध्य एशिया के यूची, कुषाण एवं हूणों ने अफगानिस्तान पर अधिकार कर लिया था और उनके बाद ईरानी सासानी शासकों ने अफगानिस्तान तथा मध्य एशिया के पश्चिमी भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित रखा। केदार कुषाणों ने भी अफगानिस्तान पर अपना अधिकार कुछ समय तक रखा। इस प्रकार राजनैतिक दृष्टिकोण से अफगानिस्तान, पूर्वी ईरान तथा मध्य एशिया का दक्षिणी-पश्चिमी भाग बहुत समय तक एक ही सूत्र में बंधा रहा। भारत का इन दोनों देशों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था और यहां से बौद्ध धर्म ने अफगानिस्तान में प्रवेश किया तथा वहां से मध्य एशिया और चीन की ओर इसका प्रसारण हुआ। इस प्रकार इन दोनों देशों में भारतीय-मध्य एशियाई तथा पाश्चात्य सांस्कृतियों का संगम था। भारत का अफगानिस्तान तथा ईरान के साथ पहले से ही घनिष्ट सम्पर्क और सम्बन्ध था जिसका उल्लेख केवल साहित्य में ही नहीं है, वरन् अफगानिस्तान के बौद्ध कला केन्द्र और अशोक के लेख इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। अफगानिस्तान तथा बलूचिस्तान में राज्य करने वाले प्राचीन शासकों पर भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव था जिसने उन क्षेत्रों में अपना दृढ़ स्थान बना लिया था। यहां पर मिले सिक्के, लेख, कलाकृतियां तथा धर्म और साहित्य भारतीय हैं और इस प्रकार यह भारत का अंग समझा जाता है। तालमी नामक पाश्चात्य भूगोलकार (ईसवी की दूसरी शताब्दी में) ने इसे भारत में ही रखा

है तथा ईसवी की प्रथम शताब्दी में छटाक्ष के इसीडोर के अनुसार एराकोसिया (कन्धान क्षेत्र) को पार्थियनों के अनुसार 'श्वेत भारत' कहा जाता था। ईरानी ग्रन्थों के अनुसार हिन्दू सभ्यता काबुल और सीस्तान में ईसा से दो शताब्दी पूर्व प्रवर्तमान थी और यह क्षेत्र श्वेत भारत के नाम से प्रसिद्ध थे तथा मुसलमानी आक्रमण काल तक इन प्रान्तों पर ईरानी की अपेक्षा भारतीय प्रभाव अधिक रहा। राजनैतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोणों से इन पर विस्तृत रूप से विचार करना आवश्यक है।

प्राचीन भारत और अफगास्तिान[1]

अफगानिस्तान नामक देश (गणराज्य, जिसका क्षेत्रफल 250, 775 वर्गमील तथा जनसंख्या 16,519,677 है) को प्राचीन मध्य एशिया का ही एक अंग माना गया है जिसके उत्तर में तुर्कमान, उजवेग तथा ताजिक रूसी गणराज्य हैं, पश्चिम में ईरान, दक्षिण पूर्व में पाकिस्तान तथा उत्तर पूर्व में चीनी गणराज्य का सिकियांग और कश्मीर का हुंजा इसको घेरे हुए हैं। भारत का अफगानिस्तान के साथ सम्बन्ध ऋग्वैदिक काल से ही प्रतीत होता है। ऋग्वेद में अफगानिस्तान की प्रमुख नदियों, स्वात (सुवास्तु), खुरम (क्रमु), गोमल (गोमती) का उल्लेख है तथा यहां के कुछ राज्यों अलिन, परन्त (परन्तुन) इत्यादि का विवरण भी है जिन्होंने दस राजाओं के युद्ध में भाग लिया था। इस प्रकार ऋग्वेदिक पृष्ठ भूमि में अफगानिस्तान भी सम्मिलित था। पुरातात्विक अन्वेषण एवं उत्खनन के आधार पर कन्धार के उत्तर पश्चिम में स्थित मुंदिगक और क्वेटा तथा हरप्पा में मिली मृत माण्डमों की समानता इन दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक सम्पर्क का संकेत करते हैं। ईसवी पूर्व छठवीं शताब्दी में अफगानिस्तान और उत्तरी पश्चिमी भारत का गन्धार प्रान्त (वर्तमान पाकिस्तान) साम्राज्य का अंग थे जैसा कि डेरियस (दारमवुश) के लेखों एवं हेरोडोटस की पुस्तक 'हिस्टारिका' से ज्ञात होता है। सिकन्दर के आक्रमण का भार भी पहले अफगानिस्तान को सहन करना पड़ा और यहीं से उसने आगे बढ़कर भारत में प्रवेश किया। उसके बाद सिल्यूकस के समय में अफगानिस्तान के भाग काबुल, कन्धार, हेरात और मकरान चन्द्रगुप्त मौर्य को दोनों के बीच सन्धि के फलस्वरूप मिले। मौर्य साम्राज्य पश्चिम में मध्य एशिया तक पहुँच गया और यह पश्चिमी भाग के अन्तर्गत तक्षशिला प्रान्त से प्रशासित होता था। मौर्य

शासक अशोक के समय में अफगानिस्तान पर हिन्द यूनानियों का अधिकार हो गया और डिमेस्ट्रियस (दत्तमित्र) तथा मिनेन्दर (मिलिन्द) ने अपना राज्य भारत में शाकल (स्यालकोट) तक विस्तृत कर लिया। यूनानियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया और इन्होंने गन्धार बौद्ध कला को जन्म दिया। यह कला लगभग पांच शत वर्ष (ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी से ईसवी की चौथी शताब्दी) तक विकसित रही। इसमें मुख्य केन्द्रों के अन्तर्गत वर्तमान पाकिस्तान का उत्तरी-पश्चिमी भाग जिसमें पेशावर तथा रावलपिण्डी है और अफगानिस्तान का पूर्व भाग, आता है। यह कला बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है और कलाकारों ने बुद्ध एवं बोधिसत्वों की मूर्तियां, स्तूप, छोटे स्तूप (वोतिव स्तूप), विहार तथा अन्य बहुत सी कृतियों का निर्माण किया जिनपर यूनानी तथा रोम का प्रभाव पड़ा। इसीलिए इसको यूनानी-बौद्ध रोमन बौद्ध कला के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

यूनानी, पार्थियन, शक, कुषाण एवं हूणों का अधिकार अफगानिस्तान एवं प्राचीन भारत के उत्तरी पश्चिमी भाग पर क्रमशः बना रहा। गुप्त शासक समुद्रगुप्त के लेख में भी यहां के देवपुत्र षाहिषाहुनुषाहि शासक का उल्लेख है जिससे कदाचित् कुषाण वंशजों का संकेत प्रतीत है। अफगानिस्तान के प्राचीन इतिहास में यूनानियों एवं कुषाण शासकों ने कला क्षेत्र में भारी अनुदान दिया जिसका प्रमाण आज भी मिलता है। यूनानियों ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था पर बैक्ट्रिया, कापिश तथा नगरहार के स्थानीय देवताओं में उनके अपने नगर देवताओं का समावेश हो चुका था। मध्य एशिया के कुषाणों ने गन्धार कला तथा अपने साम्राज्य के पूर्वी भाग की मथुरा कला को पूर्णतया प्रोत्साहन दिया। सुर्ख कोटल में उत्खनन[2] से कला की उत्तरी सीमा निर्धारित कर दी और दक्षिण में वामियान और काबुल क्षेत्र तक कुषाणों के समय की कला का विस्तुत क्षेत्र अफगानिस्तान था। वेगराम में रोमन-मिश्री तथा रोमन-सीथियायी शीशों के अतिरिक्त यूनानी कोस्यकला तथा भारतीय हाथी दांत की कृतियां मिलती है। अफगानिस्तान में भारतीय हाथी दांत कलाकारों ने अपना अनुदान किया। सासानियों के आक्रमण से अफगानिस्तान पर कुषाणों का राज्य समाप्त हो गया और बहुत से कला केन्द्र जला दिए गए। पर इसके बाद कुछ समय तक कुषाण-सासानी प्रभाव कला के क्षेत्र में सीमित रहा। सासानी आधिपत्य के फलस्वरूप बहुत सी तक्षशिला की भांति चूने-मिट्टी की (स्टको) बौद्ध

मूर्तियां बनीं । इसी काल में चित्रकला को भी प्रोत्साहन मिला । दुफ्तर-ह-नौशेरवान में ईरानी-शासानी प्रभाव तथा प्रेरणा पर आधारित कुछ चित्र दीवारों पर बनाए गए । इनमें से कुछ वामियान में भी ईरानी-बौद्ध कला को लेकर निर्मित हुए । वामियान के सी नम्बर के विहार में कुछ बौद्ध चित्र हैं । फुन्दुकिस्तान की चित्रकला एवं शिल्पकला पर भारतीय प्रभाव है और इसलिए ग्रूसे ने इसे सासानी-गुप्त कला का नाम दिया है । छठवीं-सातवीं शताब्दी की इस कला ने मध्य एशिया में पेंजीकेन्त की कला पर भी अपना प्रभाव डाला । वामियान की 175 फीट ऊंची बुद्ध की मूर्तियों के आलों में जो मेडालियन हैं उनपर पूर्णतया भारतीय प्रभाव है । कश्मीर के चन्द्रापीड़ तथा ललितादित्य के समय में अफगानिस्तान पर हिन्दू प्रभाव भी पड़ा और महिसासुरमर्दिनी की एक संगमरमर की मूर्ति इसका प्रमाण है। अफगानिस्तान में इस्लामी राज्य की स्थापना से पहले षाहि शासकों का राज्य था जो हिन्दू थे । उनके बाद गजनी एवं गोरियों का राज्य स्थापित हुआ ।

चीनी यात्रियों--फाइयान तथा य्वांग-चांग के वृतान्तों से प्रतीत होता है कि अफगानिस्तान का वहुत सा भाग उस समय भी भारत का अंग माना जाता था । उड्यान अथवा स्वात नदी घाटी क्षेत्र के विषय में फाइयान का कथन है कि यह उत्तरी भारत का ही भाग है और यहां के निवासी मध्य भारत की भाषा का प्रयोग करते हैं तथा साधारण लोगों का भोजन एवं वस्त्र भी मध्य राज्य (भारत का मध्य क्षेत्र) की भांति है । यहां पर बौद्ध धर्म समृद्ध है । य्वांग-चांग के अनुसार लमगान, जलालाबाद तथा स्वात की घाटी सहित पूर्वीय क्षेत्र भारत का ही अंग माना जाता है पर वामियान और कपिश के लोग तोखार देश निवासियों से रूप एवं आकृति में मिलते जुलते थे यद्यपि उनकी बोलचाल की भाषा भिन्न थी और वे उदण्ड प्रकृति के थे। पहाड़ियों से घिरे और हिन्दु-कुश पर्वत के अन्तरल भाग में स्थित वामियान की घाटी का महत्वपूर्ण स्थान था और काबुल से वल्ख (वैक्ट्रिया) का मार्ग यहीं से होकर जाता था। एक किंवदन्ती के अनुसार यहां का शासकीय परिवार कपिलवस्तु से आया था। इसमें सत्यता हो अथवा न हो पर यह सर्वविदित है कि वामियान प्राचीनकाल में बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था। पहाड़ की चट्टानों से काटकर बनाई हुई बुद्ध जी की दो ऊंची मूर्तियां आज भी है जिसका विवरण आगे किया जायेगा। इनके अतिरिक्त भिक्षुओं के रहने के लिए गुफाएं भी बनाई गई है और इनमें

कुषाण तथा गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में लिखे कुछ ग्रन्थ मिले। यूवांग-चांग के समय में बामियान में बौद्ध धर्म बड़ा शक्तिशाली था। यहां पर बहुत से विहार थे जिनमें कई सहस्त्र भिक्षु रहते थे तथा पवित्र अवशेष भी थे। यहां का शासक बौद्ध था और हर्ष की भांति एक पंचवर्षीय संगिति का आयोजन करता था। चीनी यात्री ने यहां बहुत सी गुफाएं तथा बुद्ध की विशाल मूर्तियां देखीं जो आज भी मौजूद हैं।

बामियान के अतिरिक्त कापिश (काफिरिस्तान) भी एक बड़ा तथा विस्तृत राज्य था जिसका आधिपत्य 10 अन्य राज्य स्वीकार करते थे और वह सिन्धु तक फैला था। यहां का राजा क्षत्रिय था तथा उसकी बौद्ध धर्म में पूर्ण आस्था थी। यहां पर कोई 1000 विहार थे जिनमें 6000 भिक्षु रहते थे तथा बौद्ध धर्म से सम्बन्धित बहुत से पवित्र अवशेष भी थे जिनका तथागत और उनके धर्म से सम्बन्ध था। बौद्ध धार्मिक स्थानों के अतिरिक्त बहुत से ब्राह्मण मन्दिर भी थे। ईतसिंग के कथनानुसार बोधगया में एक कापिश मन्दिर था जहां उतर (कदाचित् गन्धार) और अफगानिस्तान से आए भिक्षु रहते थे। अफगानिस्तान के प्राचीन बौद्ध स्थान तथा वहां उत्खनन से प्राप्त कला कृतियों का विवरण प्रथक रूप से आगे किया जायेगा।

अफगानिस्तान के षाहि वंश का इतिहास तथा साम्राज्य उत्तरी-पश्चिमी भारत में जुड़ा है।[3] काबुल की घाटी के तुर्की षाहिय वंश का राज्य विस्तार गन्धार तक बहुत समय तक रहा। इसी वंश के लग तुरमान नामक शासक के समय में कल्लर नामक एक ब्राह्मण मंत्री ने अपने स्वामी को पदस्त कर स्वयं राज्य भार सम्भाल लिया। और नवीं शताब्दी के द्वितीय अर्ध भाग में अफगानिस्तान में हिन्दू षाहि वंश की स्थापना की। इस कल्लर की समानता 'राजतरंगिणी' के लल्लिम से की गई है। इसका काबुल पर अधिकार अधिक समय तक नहीं रहा और 870 में शफारिद याकूब इब्न लेक ने इस पर अधिकार कर लिया। तब लल्लिय ने उदमाण्ड (वर्तमान सिन्धु) पर स्थित उण्ड को अपनी राजधानी बनाया। इसका राज्य काबुल घाटी के तुरुष्कों तथा कश्मीर के दरदों के बीच स्थित था। इस वंश में तोरमाण (कामलुक) तथा जयपाल नामक शासक हुए जिन्होंने मुसलमान आक्रमणकारियों के प्रवाह को रोका। इस परम भट्टारक महाराजाधिराज श्री जयपाल देव का एक लेख ऊपर स्वात में बरीकोट के उतर में एक पहाड़ी पर मिला। इसमें वजिरिस्थन का उल्लेख

है जिसकी समानता वजीरिस्तान से की गई है और इस लेख के अनुसार हिन्दू षाहि शासक जयपाल का राज्य अफगानिस्तान के उत्तरी स्वात तथा सम्पूर्ण पूर्वी अफगानिस्तान तक विस्तृत था। इस षाहि वंश का गजनी के शासकों के साथ बराबर संघर्ष रहा और अन्त में महमूद गजनी ने इस वंश का अन्त कर दिया और इसी के साथ अफगानिस्तान में भारतीय संस्कृति की भी इति श्री हो गई।

अफगानिस्तान के बौद्ध केन्द्र एवं कला कृतियां[4]

अफगानिस्तान के प्राचीन कला सम्बन्धी स्थानों में सुर्ख कोटल (लाल पहाड़ी) इस समय सबसे महत्वपूर्ण स्थान है। यहां के प्रसिद्ध अग्नि के मन्दिर तथा अन्य सम्बन्धित अवशेषों में पाश्चात्य यूनानी, कुषाण एवं ईरानी कला का मिश्रण है। इस ऊंचे मन्दिर के जीने कुषाण कालीन स्तूपों में प्रदक्षिण पथ पर जाने की सीढ़ियों की भांति हैं। स्तम्भों पर यूनानी अथवा रोमन कला का प्रभाव है पर इनके साथ साथ ईरानी प्रभाव भी प्रतीत होता है। इस अग्नि मन्दिर का नाश सासानी आक्रमण के कारण हुआ था जो कदाचित् शापुर प्रथम अथवा अर्दशरि के समय में हुआ था। मन्दिर के ठीक सामने कोई डेढ़ मील की दूरी पर एक और स्थान है जो स्तम्भ चबूतरा प्रतीत होता है। कदाचित् यह कोई बौद्ध स्मारक होगा। इस पर एक लेख भी लिखा है जो कनिष्क के समय के 31वें वर्ष का है। इस लेख का ऐतिहासिक महत्व है। कला की दृष्टि से सुर्ख कोटल में और कोई अवशेष नहीं है क्योंकि इस मन्दिर को जला दिया गया था। यह अग्नि ज्वाला केवल सुर्ख कोटल तक ही सीमित नहीं रही वरन् उस क्षेत्र के कुछ अन्य स्थान भी इसकी लपेट में आ गए।

अफगानिस्तान के उत्तरी भाग में बल्ख की कला का अपना स्थान है और यह भी बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है। युवान-चांग के कथनानुसार बलख (प्राचीन बैक्ट्रिया) में उस समय कोई 100 विहार थे और वहाँ 3000 भिक्षु रहते थे जो हीनयान मत के अनुयायी थे। चीनी यात्री के इस वृतान्त से बहुत पहले बैक्ट्रिया बौद्ध संस्कृति का एक बहुत बड़ा केन्द्र था। इस समय बलख का सबसे बड़ा स्तूप, कुन्दुज के निकट एक विहार, तथा हेबक के विहार ही उस समय की बौद्ध कला के अवशेष के रूप में मौजूद हैं। बलख के अवशेषों में जो स्तूप हैं वे सूखी मिट्टी के बने हैं और उनके चारों ओर अधपकी ईंटें

लगी हैं । इसमें तेपे-रुस्तम ही सबसे अच्छा है और कदाचित् इसका सम्बन्ध युवान-चांग के नये विहार से रहा हो । इसके चारों ओर कोई 36 फीट चौड़ी सोपान है । यह कदाचित् ईसवीं की दूसरी शताब्दी का होगा । अफगान तुर्कि-स्तान की वर्तमान राजधानी से 10 मील की दूरी पर यह प्राचीन अवशेष है । चीनी यात्री ने इसे छोटे राजगृह नाम से भी सम्बोधित किया है और उसके अनुसार यह 20 ली के घेरे में था और उस समय वहां 100 विहार थे जिनमें कोई 3000 भिक्षु रहते थे । इसके उत्तर में एक विशाल स्तूप था जो 200 फीट ऊंचा था तथा विहार के दक्षिण-पश्चिम में एक बौद्ध मन्दिर था । इनके अतिरिक्त बहुत से और भी स्तूप थे । बलख़ (बैक्ट्रिया) वास्तव में अफगानिस्तान का उत्तरी प्रवेश द्वार था और यहीं से विदेशी लोग आए । इसी कारण इसे वैदेशिकों के प्रवाह का प्रथम धक्का सहना पड़ा ।

एवक या हैवक हिन्दुकुश के अन्तर्गल में स्थित है और यहाँ पर भी बहुत सी प्राचीन भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं । इस गाँव से कोई ढाई मील उत्तर में पहाड़ी को काट कर एक स्तूप बनाया गया है जो इस समय तख्त-इ-रुस्तम के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्तूप अद्वितीय है । ऊपर पहाड़ी पर 12 फीट चौड़ी एक गोल खाई काटकर बनाई गई है और 70 फीट के व्यास में एक स्तूप चट्टान के भाग से काटकर बनाया गया है। यह कोई 30 फीट ऊंचा है । ऊपरी भाग अंडाकार न होकर चपटा है और इसी में बीच में हृयपि (हर्मिका) ऊपर बना दी गई है। इस स्तूप के बीच में एक बड़ा गोल छिद्र है जिसका व्यास 60 इंच तथा गहराई 65 इंच है। दक्षिण भाग में एक चौकोर द्वार अन्दर प्रवेश करने के लिए है । स्तूप के चारों ओर प्रदशिणा मार्ग भी काटकर बनाया गया है । इस स्तूप से कोई 100 फीट की दूरी पर उत्तर में एक विहार भी चट्टान काटकर बनाया गया है जिसका द्वार दक्षिण की ओर है । अन्दर भिक्षुओं के रहने के लिए कई गुफाएं बनी हुई हैं।

अफगानिस्तान का प्रमुख कला केन्द्र वामियान[5] है जो अपनी विशाल बौद्ध मूर्तियों के लिए संसार में प्रसिद्ध है। यहाँ पर चीनी यात्री च्वान-चाँग कुछ समय तक ठहरा था औरचे उसने इसका वृतान्त दिया है । उस समय यह एक छोटे राज्य की राजधानी थी जो एक ढालू पहाड़ी पर बसाई गई थी । चीनी यात्री के समय में यहाँ के निवासी बौद्ध थे । उनकी धर्म में निष्ठा थी तथा बुद्ध, धर्म और संघ के अतिरि्त वे कोई एक शत आत्माओं (स्प्रिट्स) को भी

पूजते थे। वामियान में कोई दस बौद्ध विहार थे जिनमें 1000 भिक्षु रहते थे और वे हीनयान के लोकोत्तरवादिन् मत के अनुयायी थे। इस समय यहाँ दो विशाल विहार के स्थान मिले हैं और 1 मील लम्बे क्षेत्र में कोई 2000 गुहाएं भिक्षुओं के रहने के लिए काटकर बनाई हुई मिलती हैं। इन दो विहारों के सामने भाग में दो विशाल बुद्ध मूर्तियाँ चट्टान काटकर बनाई गई हैं। इनमें से एक की लम्बाई कोई 175 फीट है और दूसरे की 125 फीट है। यह दोनों विशाल मूर्तियों के लिए गहरे आले काटे गए हैं। वास्तव में चट्टान से केवल शारीरिक आकृति ही काटी गई है। ऊपर की वेशभूषा इत्यादि के लिए मिट्टी चूने का लेप भूसे में मिलाकर चढ़ा दिया गया है और उसी की संघाटी पहनाई गई हैं। इस प्रकार मूर्तियों पर पत्थर तथा चूने (स्टको) की कारीगरी है जो मुखाकृति, भाव चित्रण एवं वस्त्र की चुन्नतों से प्रतीत होती है। इतनी विशाल मूर्तियों के बनाने का उद्देश्य बौद्ध धर्म को महानता प्रदान करना था। वामियान में शिल्प कृतियाँ तथा स्थाप्य चट्टान कला इन विशाल मूर्तियों तथा चट्टान काटकर बने विहारों और ऊपर की छतों के विभिन्न आकारों से प्रतीत होती है। विशाल बुद्ध मूर्ति के निकट वाले विहार में द्वार के ऊपर पत्थर पर अलंकृति बेल बनाई गई है। वामियान में कुछ चित्र-कला के भी अवशेष मिले हैं। यह चित्र सासानी, भारतीय तथा मध्य एशियाई है यद्यपि तकनीकी दृष्टिकोण से इनमें कोई भिन्नता नहीं है। चट्टानों और वज्रकक्ष (वाल्ट) को छेदनी से समतल करके उस पर मिट्टी और भूसा मिला कर लेप कर दिया जाता था और फिर उस पर हल्के चूने का लेपन होता था। इसके बाद आकृतियाँ खींचीं जाती थीं और उन पर स्थानीय रंगों का प्रयोग होता था। विशाल बुद्ध के ऊपर आले और वज्रकक्ष (वाल्ट) में जो चित्र हैं वे सासानी चित्रकला की देन हैं। भारतीय प्रभाव यहाँ बुद्ध के चित्रों में मिलता है। विशाल बुद्ध मूर्ति के आले की किनारे वाली दीवारों पर ऊपर से नीचे तक पद्मासन में बैठे पंक्तियों में बुद्ध विभिन्न मुद्राओं में चित्रित हैं। इनके ऊपर कुछ देवगण फूलों की वर्षा कर रहे हैं। इन पंक्तियों में चित्रित बुद्धों की समानता तिब्बती मंडल चित्रों से की जा सकती है। एक अन्य गुफा में चित्रित बोधिसत्व की समानता मध्य एशिया के किज़िल के चित्रों से की गई है। इस प्रकार वामियान की चित्रकला में सासानी, भारतीय तथा चीनी कलाओं का समन्वय था और यह कृतियों की आकृति एवं वेशभूषा से प्रतीत होता है।

बामियान के अतिरिक्त फुन्दुकिस्तान[6] में भी चित्रकला के अवशेष मिलते हैं जो सासानी हैं। साथ ही सुन्दर शिल्प कला के भी बहुत से प्रतीक हैं। एक पकी मिट्टी (टेराकोटा) की बोधिसत्व की मूर्ति से प्रतीत होता है कि किस प्रकार भारतीय शिल्प कला ने यूनानी और ईरानी कला पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया था। इस मूर्ति में बोधिसत्व नीचे पैर किए वर मुद्रा में दिखाए गए हैं। वह धोती पहने हैं जिसकी चुन्नते तथा ऊपर के डुपट्टे की परतें साफ दिखाई पड़ रही हैं। गले तथा हाथ में आभूषण हैं और मुद्धट घुंघराले बालों की भांति अलंकृति हैं। हड्डा नामक स्थान, जो जलालाबाद से 6 मील दक्षिण में है, में भी बहुत से प्राचीन स्तूपों के अवशेष हैं और कुछ का उत्खनन भी हुआ है। यह सब गंधार बौद्ध कला से सम्बन्धित है। यहाँ की मिट्टी और चूने (स्टको) की बौद्ध मूर्तियाँ अपनी कला के लिए के प्रसिद्ध है। फ्रांसीसी मण्डल द्वारा उत्खनन कार्य के फलस्वरूप जो कृतियाँ मिलीं उनमें अधिकतर फ्रांस के म्यूज़ेगिमे में सुरक्षित हैं।

अफगानिस्तान का एक अन्य प्राचीन स्थान कापिश भी है जिसका उल्लेख प्लिनी ने भी किया है। चीनी यात्री युवान-चांग के कथनानुसार वहां पर उस समय कोई 100 विहार थे जिसमें 6000 बौद्ध भिक्षु रहते थे। कापिश की समानता वर्तमान वेगराम[7] से की गई है जो पेशवार और बलख़ के बीच सीधे सार्थवाह मार्ग पर पड़ता था। चीनी यात्री के अनुसार यहां का बौद्ध शासक महायान मत का मानने वाला था। उत्खनन में यहां पर हाथी दांत की कुछ कला कृतियां मिली हैं जिन पर भारतीय प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से विदित है। इनके अतिरिक्त कनिष्क के प्रासाद उत्खनन क्षेत्र से कुछ शीशे तथा कांसे की कृतियां मिली हैं जिन पर यूनानी प्रभाव है। एक हाथी दांत की बनी यक्षी की मूर्ति तथा दो अन्य इसी पदार्थ की बनी कृतियां भारतीय हैं। इनके अतिरिक्त कुछ नृत्य दृश्य और वाद्‌वृन्द की सज्जा मथुरा तथा अमरावती कला का प्रतिरूप प्रतीत होती है। हाथी दांत की कृतियों में कहीं पर अंकित खरोष्टी अक्षरों के आधार पर यह कहा जाता है कि यह कला ईसवी की द्वितीय-तृतीय शताब्दी की होगी। वेगराम में फ्रांसीसी पुरातत्विद् ग्रिशमान ने उत्खनन कार्य किया है।

अफगानिस्तान में हद्दा[8], (प्राचीन नगरहार) जो जलालाबाद से कोई 5 मील दक्षिण में है, प्राचीन काल में एक बौद्ध केन्द्र था। मथुरा के प्रसिद्ध

षोडस के लेख से विदित होता है कि नगर-नगरहार (अफगानिस्तान) उस समय सरवास्तिवादिनों का मुख्य केन्द्र था और वहां से एक बौद्ध विद्वान (खलुल) को मथुरा में महासांघिकों से तर्क करने के लिए बुलाया गया था। यह लेख ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी का है। यहां पर चीनी यात्री फाइयान, तो-योग तथा युवांन-चांग आए थे। कहा जाता है कि यहां पर बुद्ध जी का एक दांत, संघाटी तथा उनकी लाठी सुरक्षित थी। प्राचीन स्तूप को इस समय टम्पाकलान कहा जाता है। यहां का विहार 'नवविहार' के नाम से प्रसिद्ध था। इस स्थान से उत्खनन से प्राप्त अवशेषों में स्तूप तथा सहस्त्रों चूने मिट्टी की बनी मूर्तियां मिलीं। बुद्ध, बोधिसत्व की मूर्तियां आलों में रखी हैं तथा उपासकगण खड़े हैं। बीच में स्तम्भ परसीपोलिस के स्तम्भों की याद दिलाते हैं। हद्दा अपनी इन चूने मिट्टी की बनी मूर्तियों के लिए प्रसिद्ध है और इनका सम्बन्ध गन्धार कला से है। यहां पर कलाकारों ने चूने मिट्टी (स्टको) के अतिरिक्त पत्थर की भी मूर्तियां बनाईं। कुछ बेजनटाइन सिक्कों की उपलब्धि से यहां की कला की तिथि ईसवी की पांचवीं शताब्दी मानी जाती है।

कुछ अन्य कला केन्द्रों में कुन्दुज़, बिमरान, तथा शोतोर एवं पैतव हैं। कुन्दुज तोखारिस्तान की प्राचीन राजधानी थी और उत्तरी अफगानिस्तान में है। युवांन-चांग के अनुसार यहां पर बहुत से संघाराम थे तथा बौद्ध महायान एवं हीनयान मत के अनुयायी थे। यहां से प्राप्त कुछ कलाकृतियां इस समय काबुल संग्रहालय में हैं। इनमें एक पत्थर पर अंकित चित्र गौतम के गृह त्याग से सम्बन्धित है। शोतोरक से भी कई कृतियां प्राप्त हुईं। यह मिट्टी की हैं तथा सांचे में ढाल कर बनाई गई है। इनमें से दीपांकर जातक कथा का चित्रण सुन्दर ढंग से किया गया है। पैतव से प्राप्त मैत्रेय की अपने उपासकों सहित मूर्ति उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त बिमरान से प्राप्त सोने की पिटारी जिसमें बुद्ध को इन्द्र तथा ब्रह्मा के साथ नकाशी करके बनाया गया है, सबसे प्रसिद्ध है। यह इस समय ब्रिटिश संग्रहालय में है। इसमें कमल तथा हंस भी दिखाए गए हैं। एक पत्थर के पात्र में यह रखी थी और वहां के स्तूप के उत्खनन में प्राप्त हुई थी। इसमें बुद्ध जी को अभय मुद्रा में दिखाया गया है। इसके साथ ही कुछ एज़ेस की मुद्राएं भी मिलीं। कहा जाता है कि इसमें सर्वप्रथम बुद्ध की प्रतिमा का चित्रण हुआ, और यह ईसवी की प्रथम शताब्दी का है।

अफगानिस्तान की बौद्ध कला वास्तव में भारत की गंधार कला का प्रति-रूप थी, पर स्तूतों का निर्माण अपने ढंग पर हुआ जिसमें न्याधार (प्लिन्थ) पैगोडा की भांति है पर मूल रूप भारतीय है। स्तूप का आधार-चबूतरा धीरे-धीरे ऊंचा होता गया और उसकी ऊंचाई तक पहुंचने के लिए सोपान बनाने पड़े। यहां का स्टको-चूने मिट्टी की बनी मूर्तिकला अद्वितीय है। इसमें मिट्टी, भूसा, ऊन, इत्यादि का मिश्रण होता था और फिर चूना पोता जाता था। चित्रकला में कलाकारों की प्रेरणा का श्रोत भारत था। कदाचित् यह भी गन्धार के एवं अजन्ता से प्राप्त हुई। यहीं से भारतीय कला का मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के साथ साथ प्रवेश हुआ। यद्यपि यहां की कला कृतियां मूलरूप से बौद्ध धर्म से सम्बन्धित है पर कुछ ब्राह्मण मूर्तियां भी मिली है जिनका विवरण आगे दिया जाएगा। बौद्ध धर्म एवं कला के सन्दर्भ में अफ-गानिस्तान के उन प्रसिद्ध बौद्ध विद्वानों का उल्लेख[9] भी आवश्यक है जिन्होंने अपनी विद्वता एवं साहित्यिक कृतियों के कारण बौद्ध जगत में ख्याति प्राप्त की।

अफगानिस्तान के बौद्ध केन्द्र तथा कला कृतियां तथागत के प्रति आस्था एवं बौद्ध धर्म के विकास और विस्तार का प्रतीक हैं। इस सम्बन्ध में इस देश के प्राचीन इतिहास में बौद्ध विद्वानों एवं दार्शनिकों ने भी प्राचीन जगत, मुख्यतया भारत एवं चीन में बड़ी ख्याति प्राप्त की। तुखारिस्तान के घोषक, धर्ममित्र, लोकक्षेम, धर्मरक्ष इत्यादि के नाम इस सन्दर्भ में विशेषतया उल्लेख-नीय हैं। अफगानिस्तान में सरवास्तिवादिनों का प्रमुख केन्द्र था और मथुरा के प्रसिद्ध षोड़स के लेख में नगरहार से एक सरवास्तिवादिन् बौद्ध विद्वान (खलुल) को महासांघिकों के साथ तर्क करने के लिए बुलाया गया था। घोषक नामक वहां के इस मत के विद्वान ने 'अभिधर्मपिटक' की व्याख्या करने में विशेष रूप से अनुदान दिया। उसने 'अभिधर्मामृत' नामक एक मूल ग्रन्थ की रचना भी की थी। उस समय में बलख वैभाषिकों का प्रमुख केन्द्र था और आर्यचन्द्र नामक विद्वान यहीं का निवासी था। उसने 'मैत्रय समिति' का अनुवाद चीनी में किया था। एक अन्य निवासी आचार्य धर्ममित्र ने 'विनयसूत्र टीका' की रचना की थी। एक अन्य विद्वान लोक क्षेम भी अफगानिस्तान के इस उत्तरी क्षेत्र का रहने वाला था और 147 में वह लो-यांग गया था जहां उसने बहुत से बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया था। तुषार

देशीय बौद्ध भिक्षु धर्मरक्ष 36 भाषाओं का ज्ञाता था और उसने 200 बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। ईसवी की तृतीय शताब्दी में वह तुन-हुआंग जाकर बस गया था।

हिन्दू धर्म एवं ब्राह्मण मूर्तियां[10]

अफगानिस्तान और भारत कई शताब्दियों तक राजनैतिक और सांस्कृतिक सूत्रों से बंधे रहे और इसीलिए इस निकटवर्ती देश को 'आर्याना' नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। यहां पर हिन्दू धर्म और संस्कृति से सम्बन्धित बहुत सी कृतियां मिली हैं। यूनानी, पार्थियन एवं कुषाण शासकों ने अपनी मुद्राओं पर भारतीय हिन्दू देवताओं की प्रतिमाएं भी अंकित कीं। यूनानियों ने कृष्ण तथा शिव को क्रमशः हेराक्लीज और डिओनिसस नामों से सम्बोधित किया। इन दोनों देवताओं से सम्बन्धित मतों का भी उल्लेख किया गया है। इनके अतिरिक्त इन्द्र को भी ज्यूस नाम दिया है। मावेस के सिक्कों पर मुद्रित देवता को इन्द्र माना गया है और 'महामयूरी' तथा य्वान-चांग के वृतान्त से विदित होता है कि प्राचीन कापिश के निकट स्वेतवतलय या इन्द्रपुर का नगरदेवता भी इन्द्र था। एगाथाक्लिज़ और पेटालिओन की मुद्राओं पर अंकित स्त्री को लक्ष्मी माना गया है। गांडोफरनिस तथा मावेस की मुद्राओं पर शिव की प्रतिमा अंकित है और 'देव' से इसी ब्राह्मण देवता का संकेत है। य्वांन-चांग के अनुसार पुष्कलावती के नगर द्वार के सामने देव का मन्दिर था जो वास्तव में शिव से सम्बन्धित था। कुषाण शासकों के सिक्कों में शिव और नना (अम्बा) की प्रतिमाएं मिलती है। विमकथफिस के समय से ही शिव को प्रधानता दी गई थी और वह स्वयं 'माहेश्वर' या महेश का उपासक था। उसकी मुद्राओं में शिव को नन्दी के साथ चित्रित किया है। कनिष्क तथा हुविष्क की मुद्राओं में उन्हें दो बाहु तथा चतुर्थ बाहु के रूप में दिखाया है। कुछ मुद्राओं में उमा अथवा नना—अम्बा तथा स्कन्द कुमार, महासेन और विषाख को भी चित्रित किया है। कुन्दुज से प्राप्त एक चतुर्भुज वाली त्रिमूर्ति प्राप्त हुई है जो सिंह की खाल पहने हुए है। यहीं से शिव का इसी प्रकार का रूप दन्दान-उलिक भी गया। कुषाण काल में गन्धार कला पूर्णरूप से अफगानिस्तान में विकसित हुई और इसके विभिन्न केन्द्रों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है।

शैव मत अफगानिस्तान में बहुत पहले समय से प्रचलित था और इसका अपना इतिहास है जो यजुर्वेद के समय से आरम्भ होता है जिसमें रुद्र को भूजवन्त की ओर जाने को कहा गया है। अथर्ववेद में शिव के नन्दी को यहां से सम्बन्धित किया गया है। कुषाण काल में इसकी लोकप्रियता पूर्णतया विदित है और इसके उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। साओजमा-कला (Soazma Kala) से प्राप्त एक त्रिमूर्ति जो इस समय काबुल के संग्रहालय में है, के विषय में कहा जाता है कि यह नकली है। अफगानिस्तान में ब्राह्मण धर्म को षाहि शासकों से प्रोत्साहन मिला। उस समय बहुत सी संगमरमर की शिल्प कृतियां निर्मित हुई। गरदेज से एक शिव का शीश प्राप्त हुआ जिसमें त्रिनेत्र दर्शित है तथा ऊपर की घुंघरीली जटाओं को फीते से बांधा गया है। चन्द्रमौलि चिन्ह भी अंकित है और गुप्त काल के यह सुन्दर प्रतीक हैं। एक शिव-लिंग तग़ब से भी प्राप्त हुआ जिस पर कश्मीरी प्रभाव प्रतीत होता है। यह ईसवी की सातवीं-आठवीं शताब्दी का है। नन्दी पर आरुढ़ शिव-पार्वती की एक पत्थर की मूर्ति आलिंगन मुद्रा में है। यह बहुत ही सुन्दर है और इसकी समानता दन्दान-उलिक तथा वलावस्ते की काष्ट फलकों पर अंकित कृतियों से की जा सकती है। इन सबमें शिव के साथ में चन्द्र तथा सूर्य उनके प्रतीक हैं। तग़ब (Tagab) से प्राप्त एक संगमरमर की टूटी मूर्ति में शिव को धोती पहने दिखाया गया है। यह ईसवी की सातवीं-आठवीं शताब्दी की है और कदाचित् शिव को यक्ष के रूप में दिखाया है अथवा यह यक्ष की ही मूर्ति है। मर्नी-चिनार में इटालियन मण्डल को एक शिव की खड़ी अवस्था में स्टेला पर अंकित मूर्ति मिली। उनके ऊपरी दाहिने हाथ में त्रिशूल है और ऊपरी बायें हाथ में डमरू है तथा नीचे वाले बाएं हाथ में कमण्डलु है। स्वात क्षेत्र में शैव मत का यही एक सुन्दर प्रतीक है। इसी क्षेत्र में बुत्कर में इटालियन उत्खनन मंडल को दो अन्य ब्राह्मण उद्भृत-उमरखा शिल्प कृतियां (रिलीफ) मिलीं। इनमें शिव के हाथ में माला है तथा पार्वती दर्पण लिए हैं। दोनों के माथे पर त्रिनेत्र है। इससे इनके विवाह का संकेत है। एक पत्थर के स्तम्भ पर खुदे हुए चित्र में एक देवता खड़ा हुआ अंकित है। उसके छह हाथ है जिनमें भाला, चक्र, वज्र और असि है। शीश पर किरीट-मुकुट है। इन प्रतीकों से प्रतीत होता है कि इसमें शिव के प्रतीकों (सिम्बल्स) को एक में समन्वित किया गया है।

शिव के अतिरिक्त अन्य ब्राह्मण देवताओं की मूर्तियां अथवा पत्थर पर खुदे उनके चित्र भी मिले हैं। अफगानिस्तान में स्वतंत्र रूप से विष्णु की कोई मूर्ति नहीं मिली है पर बैकुण्ठ विष्णु विचारधारा का अफगानिस्तान में कश्मीर से गन्धार क्षेत्र के द्वारा प्रवेश हो गया था। इस सम्बन्ध में लन्दन के संग्रहालय में बासुदेव विष्णु की एक संगमरमर की मूर्ति है। इसमें सामने वाला मुख बासुदेव-विष्णु का है और दोनों भागों में सिंह और वराह मुख हैं जिनसे संकरक्षण और प्रद्युम्न का संकेत होता है। पीछे पृष्ठ में कोई राक्षस का मुख है जो कपिल का संकेत करता है। इस प्रकार की मूर्ति निर्माण का कश्मीर में चलन था और यह काले पत्थर की बनाई जाती थी। श्वेत मूर्ति का निर्माण कदाचित् किसी कश्मीरी कलाकार द्वारा अटाक क्षेत्र में हुआ था। इस प्रकार की एक कांसे की मूर्ति पश्चिमी बर्लिन के संग्रहालय में है। इसमें पीछे का चतुर्थ मुख नहीं है। काबुल के निकट ख़ैरखानेह से हैकिन ने एक सफेद संगमरमरी पत्थर की मूर्ति प्राप्त की। सूर्य एक सासानीशा6क की वेशभूषा में है और रथ पर बैठे हुए हैं, जिसको घोड़े खींचते दिखाए गए हैं। वह ऊंचे जूते तथा कुर्ता पहने है जिसमें छालरें भी हैं। उनके दोनों ओर दण्डि और पिंगल हैं। रथ वाहक अरुण सूर्य के आसन से नीचे बैठा है। घोड़े पर जीन रखी हुई है। इसकी तिथि ईसवी की पांचवीं-छठवीं शताब्दी मानी गई है। गज़नी से आठ टुकड़ों में ब्रह्मा की भी एक संगमरमर की मूर्ति प्राप्त हुई जो काबुल संग्रहालय में है। यह मूल रूप से भारतीय कलाकृति है और कदाचित्
काबुल संग्रहालय में है। यह मूल रूप से भारतीय कलाकृति है और कदाचित्
मुसलमान आक्रमणकारी इसे अपने साथ में भारत से अफगानिस्तान ले गए थे। ब्रह्मा त्रिमुखी है और बीच वाले मुख में दाढ़ी है और जटा केश हैं। हाथ तथा छाती के नीचे वाला भाग टूटा हुआ है। नीचे किनारे पर मनुष्य प्रतिहारी है और उनका वाहन हंस भी दिखाया गया है। उनके पीछे प्रभामंडल में विष्णु और शिव को बैठाया है। अफगानिस्तान से दो गणेश की खड़ी मूर्तियां भी प्राप्त हुई जो संगमरमर की है। गरदेज़ के निकट प्राप्त गणेश की मूर्ति पर एक ब्राह्मी लेख है जो उत्तरार्द्ध गुप्तकालीन है। इस लेख में परम भट्टारक महाराजाधिराज षाहि खिनगिल द्वारा महाविनायक की इस मूर्ति का अनावरण ज्येष्ठ की त्रयोदशी के दिन उस शासक के राज्यकाल आठवें वर्ष में हुआ था। इसमें गणेश को 'ऊर्ध्वरेतस' रूप में दिखाया है और वह सिंहचर्म पहने हैं।

काबुल से 10 मील की दूरी पर शकरधर से एक अन्य गणपति की मूर्ति प्राप्त हुई और इसमें नीचे किनारों पर 'आयुषपुरुष' भी दिखाए गए हैं। मध्य एशिया में दन्दान-उलिक की कला में गणेश को इस रूप में नहीं प्रस्तुत किया गया है।

शिव-शक्ति मत से सम्बन्धित दुर्गा की भी कई संगमरमर की मूर्तियां अफगानिस्तान में मिली हैं। तगाओं से प्राप्त पत्थर की इस मूर्ति में दुर्गा का केवल शीश ही मिला है जो इस समय काबुल के संग्रहालय में है। इनका त्रिनेत्र माथे पर अंकित है और घुंघराले बाल पीछे एक फीते से बंधे हैं। काबुल क्षेत्र से महिषासुर मर्दिनी दुर्गा की एक छोटी मूर्ति मिली है। यह टूटी हुई है पर देवी का दाहिना पैर महिषासुर राक्षस की पीठ पर है और वे उसे अपने दाहिने हाथ में लिए भाले से भोंक रही हैं। उनका नीचे का भाग साड़ी से ढंका है और वे दाहिने हाथ में चूड़ी पहने हैं। इसका उल्लेख श्लुमवर्गर ने किया है। इनके अतिरिक्त एक विष्णु मूर्ति के कुछ अंश भी गरदेज़ के निकट पाए गए जिनसे प्रतीत होता है कि सातवीं-आठवीं शताब्दी से गरदेज़ में कोई हिन्दू मन्दिर रहा होगा। काबुल में बहुत से मन्दिरों के अवशेष भी है जिनका प्रयोग मुसलमानी धर्मस्थानों में परिवर्तित रूप में कर दिया गया है। गजनी के निकट इटालियन उत्खनन मण्डल को खुदाई में एक अन्य महिषासुरमर्दिनी की पकी मिट्टी की छोटी मूर्ति (टेराकोटा) प्राप्त हुई। इन कला कृतियों तथा यात्रियों के वृतान्त के आधार पर प्रतीत होता है कि अफगानिस्तान का भारत के साथ शताब्दियों तक सांस्कृतिक सम्पर्क रहा। इस देश में भी बहुत से बौद्ध विहार थे जहां भिक्षु तथा भदन्त रहते हैं और इनको भारत में आमंत्रित किया जाता था।

उपरोक्त वृतान्त से प्रतीत होता है कि प्राचीन अफगानिस्तान में बौद्ध धर्म ही प्रमुख रूप से विकसित था पर वहां कुछ ब्राह्मण देवी-देवताओं की मूर्तियां मिली हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि इस धर्म के मानने वाले भी वहां थे। मध्य काल में इस्लाम के प्रवेश से पहले यहां पर हिन्दू षाहि शासकों का राज्य था और उनके समय में ब्राह्मण मत विकसित था। बौद्ध धर्म के विषय में एक चीनी दूत वु-कुंग, जो 753 में गंधार आया था, के अनुसार उस समय उड्यान में दो बौद्ध विहार—सुखावती और पद्मावती थे। उसका यह भी कथन है कि उस समय तक य्वांग-चांग द्वारा वर्णित एवं तत्कालीन परिस्थिति में कोई भिन्नता नहीं थी। चीनी बौद्ध साहित्य में कुधा (काबुल) के प्रज्ञा नामक एक

श्रमण का उल्लेख है जिसने कुछ बौद्ध ग्रन्थों का 785 और 810 के बीच अनुवाद किया था। एक नवीं शताब्दी के पाल वंशीय राजाओं के लेख में नगरहार के एक ब्राह्मण कुलीन बौद्ध भिक्षु का उल्लेख है जिसने महाबोधी की यात्रा की थी और देवपाल द्वारा उसे नालन्दा विहार का अध्यक्ष नियुक्त किया गया था। नवीं शताब्दी में काबुल में तुर्की बौद्ध शासक राज्य कर रहे थे। इस शताब्दी के मध्य भाग में पर्सिया (ईरान) के सफारिद वंश के याकूब ने बलख, बामियान और काबुल पर अधिकार कर अपने राज्य में मिला लिया। इसी समय तुर्की षाहि शासक के मंत्री लल्लिम ने अपने राजा को सिंहासन से हटाकर ओहिन्द के हिन्दू षाहि वंश की स्थापना की। उसका राज्य पूर्व में गन्धार और उड्यान तक फैला था और इसमें पंजाब का भी बड़ा भाग था। इसी वंश के एक अज्ञात राजा के समय में एक चीनी बौद्ध यात्री कि-ए कोई 300 बौद्ध भिक्षुओं के साथ कांसु से गिल्गिट के मार्ग से गन्धार पहुंचा। इन हिन्दू षाहि शासकों एवं गजनी के सुल्तानों के बीच के संघर्ष में, जो बहुत समय तक चला; हिन्दू राजाओं को बड़ी क्षति पहुंची। आनन्दपाल और उसके पुत्र त्रिलोचन पाल ने अपनी स्वतंत्रता बचाये रखने का बड़ा प्रयास किया पर अन्त में वे इस्लाम के वेग को नहीं रोक सके। हिन्दू षाहि वंश के अन्त के साथ ही अफगानिस्तान में भारतीय संस्कृति की भी इतिश्री हो गई।

भारत और ईरान[11]

भारत और ईरान का सांस्कृतिक सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल से ही रहा है। ईसा से पांच-छः सहस्त्र वर्ष पहले ईरान के प्राचीन निवासी खेती करने लगे थे और गांव में बस गये थे। सिअल्क 1–2, चशमेंअली, अनु 1 अ, सुसिआना, इत्यादि स्थानों से उत्खनन में कृषि सम्बन्धी कुछ औजार मिले हैं। मिट्टी के बने मकानों के अवशेष भी मिले हैं। सिअल्क में कुछ तांबे के हथौड़े से पीटे हुए औजार भी मिले। मिट्टी के ठीकरों से बर्तनों के प्रयोग का भी पता चलता है। चौथी सहस्त्रब्दी से लेखन कला के चिन्ह मिलते हैं। उत्तर में हिसार नामक स्थान से प्राचीन ईरानी सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं। कला के क्षेत्र में सूखा और एलम आगे चल कर प्रसिद्ध केन्द्र बन गए। भारत का ईरान के साथ सम्बन्ध सिन्धु घाटी सभ्यता के समय से ही प्रतीत होता है। कुछ विद्वानों का कथन है कि सिअल्क, अनु और हिसार का सिन्धु घाटी के केन्द्रों

के साथ व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों के अतिरिक्त जातीय सम्बन्ध भी रहा होगा। पुरातत्व के अतिरिक्त ऋग्वेद और आवेस्ता नामक प्राचीन ग्रन्थों से भी प्रतीत होता है कि प्राचीन भारतीय एवं ईरानी एक ही जाति वर्ग आर्य लोगों के अंग थे और इन दोनों ग्रन्थों में देवताओं के नाम तथा उपासना हेतु ऋिचाएं भी मिलती जुलती हैं। इन दोनों में धार्मिक क्रियाओं से सम्बन्धित वहुत से समान शब्द हैं जैसे होम (वैदिक-सोम), नौतर (वै होतृ), अथ्रवन् (अथर्वन), मंथ्र (मंत्र), यजत (यजत), यस्न (यज्ञ), आजुति (आहुति) इत्यादि। इस प्रकार वैदिक और आवेस्तन कल्पों में बहुत कुछ समानता थी, तथा इनके देवताओं के नाम भी मिलते जुलते हैं जैसे वरुण (आवेस्तन अहुर), मित्र (मिथ्र), इन्द्र (इन्द्र), वृत्रहन् (वेरेथ्रहन) इत्यादि। वोग़ज़कोई लेख में वैदिक देवता, इन्द्र, मित्र, वरुण और अश्विन कुमारों (नासत्यस्) का उल्लेख भारतीय संस्कृति का पाश्चात्य जगत में ईसवी पूर्व १४०० में प्रवेश का संकेत करता है। आवेस्ता में भारत को "हिन्दू" नाम दिया है जो 'सिन्धु' पर आधारित है।

ऐतिहासिक काल में ईसा पूर्व छठवीं शताब्दी में ईरान और उत्तरी-पश्चिमी भारत एक ही राजनैतिक सूत्र में बंधे हुए थे। हेरोटोडस के अनुसार दारमवुष (डेरियस) का साम्राज्य गान्धार तक विस्तृत था और भारत उसके साम्राज्य की २० वीं क्षत्रपी था। ईरानी आधिपत्य ई० पू० ३३० तक रहा क्योंकि दारमवुष तृतीय ने भारतीय सैनिकों का उपयोग यूनानियों के विरुद्ध आरवेला के युद्ध में किया था। इसके बाद सिकन्दर (अलिकसुन्दर) के आक्रमण के कारण अखमानी वंश का पतन हो गया और भारत में भी कुछ ही समय तक उत्तरी-पश्चिमी भाग एवं सिन्ध पर यूनानी क्षत्रप एवं कुछ भारतीय क्षत्रप राज्य करते रहे। इसके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य पूर्वी अफगानिस्तान तक विस्तृत हुआ और ईरान तथा सीरिया पर यूनानी राज्य करने लगे। अखमानी प्रभाव भारतीय कला क्षेत्र पर पड़ा और कहा जाता है कि पाटलिपुत्र के नगर निर्माण एवं सुरक्षाद्वार तथा अशोक के सतम्भों पर पालिश इन ईरानी कलाकारों की देन थी। प्रथम मुद्रा का प्रचलन भी इन्हीं ईरानी शासकों द्वारा हुआ था और डेरिक तथा सिग्लोई नामक दो प्रकार के सिक्के चलाए गए तथा खरोष्ठी लिपि भी इन्हीं की देन थी। स्पूनर नामक विद्वान ने ईरानी प्रभाव को अपने दो विस्तृत लेखों में बढ़ा-चढ़ा कर लिखा है। कहते हैं कि

सूर्य की उपासना इन्हीं ईरानियों का प्रभाव थी और मागी लोग ईरान से आए थे। अशोक के समय में भारत से बौद्ध धर्म एवं धार्मिक समन्वय और सहिष्णुता का संदेश लेकर पश्चिमी एशिया के शासकों के यहां दूत भेजे गए। इनमें सीरिया तथा वैक्ट्रिया एवं पार्थिया के शासक अंतिओकस भी थे। मौर्यों का सिल्यूकस एवं उसके वंशजों के साथ सम्बन्ध चन्द्रगुप्त के समय से ही चला आता था।

अशोक की मृत्यु के पश्चात् उसके राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गए। पार्थियन शासकों ने भी उत्तरी-पश्चिमी भारत के कुछ भाग पर अपना अधिकार कर लिया। वे मथुरा तथा सौराष्ट्र तक बढ़ आए। जूनागढ़ के लेख में तुषास्प नामक एक पार्थियन (पहलव) का उल्लेख मिलता है। कुषाणों के समय में जोरास्ट्रियन देवताओं एवं देवियों की प्रतिमाएं उन शासकों—मुख्यतया कनिष्क तथा हुविष्क—के सिक्कों पर अंकित की गई। कहा जाता है कि गान्धार कला की कुछ बौद्ध मूर्तियां जैसे मैत्रेय एवं अमिताभ पर जोरास्ट्रियन प्रभाव पड़ा।[12] अमिताभ का व्यक्तित्व और उनकी उपासना एवं शिक्षाएं मिथ्र तथा मानि मत से मिलती जुलती है। मागियों के भारत में आमंत्रित करने के सम्बन्ध में 'भविष्य पुराण' में जो कथा मिलती है उसके अनुसार शक द्वीप से बहुत से मागी बुलाए गए और मुल्तान में सूर्य का बड़ा मन्दिर था। इस प्रकार भारत और ईरान के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध वैदिक काल से लेकर ईसवी की तीसरी-चौथी शताब्दी तक मिलता है। इन दोनों का आदान-प्रदान था। भारतीय प्रभाव वैदिक काल में अधिक था पर ईरानी प्रभाव अखमानी सत्ता जो कई शताब्दियों तक उत्तरी-पश्चिमी भारत पर रही के अन्तर्गत विकसित हुआ। पर्सिपोलिस की चट्टानों पर लिखे लेखों की तुलना अशोक के चट्टान एवं स्तम्भ लेखों से की जाती है। ईरानी प्रभाव कला के अतिरिक्त धार्मिक क्षेत्र में भी पड़ा जिसके अन्तर्गत सूर्य की उपासना एवं मागी ब्राह्मणों का भारत में आमंत्रण माना जाता है। पार्थियन तथा सासानी आधिपत्य एवं प्रभाव केवल राजनैतिक रूप से अफगानिस्तान पर पड़ा। शापुर के समय में सासानियों ने आक्रमण करके बड़ी क्षति पहुंचाई थी जैसा कि सुर्खकोटल के उत्खनन से प्रतीत होता है। भारत का ईरान के साथ सम्बन्ध अफगानिस्तान होकर ही था और इसलिए इस देश की राजनैतिक परिस्थिति का भारत-ईरान सम्बन्धों पर भी प्रभाव पड़ा। बौद्ध धर्म ने ईरान में प्रवेश कर लिया और

ह्वांग-चांग के कथनानुसार यहां पर भी बौद्ध बिहार थे। जिस समय ईरान में इस्लाम के आक्रमण के फलस्वरूप धार्मिक संकीर्णता थी उस समय जोरास्ट्रियन मतावलम्बियों ने भारत ही में आकर शरण ली जैसा कि सांजन के ७३८ ई० के लेख से पता चलता है। मध्य युग में भी ईरान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध बने रहे।

1–अफगानिस्तान के भौगोलिक वृतान्त के लिए देखिए–'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' (1973) वाल्यूम 1, पृ० 236 से। इसके इतिहास का चित्रण पर्सी स्काइज की पुस्तक 'ए हिस्ट्री आफ अफगानिस्तान' (१९४०) में है। प्राचीन भारत और अफगानिस्तान के बीच सम्बन्धोंका विवरण 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इन्डिया' वाल्यूम 1 में विस्तृत रूप से मिलेगा। वैक्ट्रिया और पार्थिया का इतिहास भी इसी देश के प्राचीन इतिहास का अंग है और इसके लिए टानो की पुस्तक "दी ग्रीक्स इन वैक्ट्रिया एन्ड इन्डिया" (1936) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पुरातात्विक अन्वेषण के सन्दर्भ में सबसे पहले विल्सन ने अपनी पुस्तक 'एरियाना एन्टिकुआ"–ए डिस्क्रिप्टिव एकाउन्ट आफ दी एन्टीकुटीज एण्ड क्वायन्स आफ अफगानिस्तान" में किया है (1840)। इसके अतिरिक्त फ्रांसीसी तथा इटालियन उत्खनन मण्डल द्वारा खुदाई किए स्थानों तथा वहां से प्राप्त कलाकृतियों का विवरण उनकी प्रकाशित रिपोर्टों तथा ग्रन्थों में मिलेगा। फ्रांस के म्यूजे गिमे में सुरक्षित कला कृतियों की सूची और संक्षिप्त वृतान्त हैकिन की 'गाइड केटालाग डु म्यूजे गिमे' (पेरिस 1923) में मिलेगा। इसके अतिरिक्त जी आवोनेट ने अपनी पुस्तक में इनका उल्लेख किया है जिसका अंग्रेजी में भी अनुवाद हो चुका है। घोषाल ने भी 'इन्डिया एण्ड अफगानिस्तान' नामक विस्तृत लेख में प्राचीन सम्बन्धों का विवरण दिया है। (ग्रेटर इन्डिया (1960) पृ० 273 से)।

2–सुर्खकोटल के उत्खनन का कार्य श्लुम्बरगर की अध्यक्षता में हुआ था। इसका विवरण कई लेखों में हुआ है। इनका एक लेख 'दी एक्सकवेशन्स ऐट सुर्खकोटल एण्ड दी प्राबलम आफ हेलोनिजम इन वैक्ट्रिया

एण्ड इन्डिया' ब्रिटिश एकाडमी वाल्यूम 47 (1964) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

3–अफगानिस्तान के हिन्दू षाहि शासकों का वृतान्त हेमरे की 'डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इन्डिया' वाल्यूम 1 (1931) अध्याय 2 में मिलेगा। दीनबन्धु पांडे की पुस्तक 'दी षाहिज आफ अफगानिस्तान एण्ड पंजाब' में भी इस वंश के इतिहास एवं कुछ सांस्कृतिक झलकियों का विवरण मिलेगा (1973)।

4–अफगानिस्तान के बौद्ध केन्द्रों का विवरण चीनी यात्री य्वांग-चांग ने दिया है। इस देश में अन्वेषण के अतिरिक्त उत्खनन कार्य भी हुआ है। जिसमें फ्रांसीसी तथा इटालियन पुरातत्विदों का विशेष अनुदान है। अफगानिस्तान के बौद्ध केन्द्रों का उल्लेख फादर हेरास ने अपने एक लेख में विस्तृत रूप से किया है जो बम्बई विश्वविद्यालय की पत्रिका में छपा है (वाल्यूम 6-1938)। के० एन० दीक्षित ने विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थ में इस सन्दर्भ में एक लेख 'बुद्धिस्ट सेन्टर्स इन अफगानिस्तान' शीर्षक से लिखा (पृ० 215)। यह दोनों ही लेख विशेष रूप से उपयोगी हैं। इन बौद्ध केन्द्रों एवं उनकी कला का विवरण इन्साक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड आर्ट, वाल्यूम 1 में विस्तृत रूप से किया गया है। प्रत्येक केन्द्र के विवरण के साथ अध्ययन ग्रन्थ सूची भी दी गई है।

5–वामियान की बौद्ध मूर्तियां अपनी विशालता के लिए संसार में प्रसिद्ध हैं। वेनजामिन रावलेंड के 'दी क्लोसल बुद्ध एट वामियान' शीर्षक लेख में इसका विस्तार से विवरण है। देखिए–'जरनल आफ दी इन्डियन सोसायटी आफ ओरेन्टियल आर्ट' वाल्यूम 15 (1941) पृ० 65। इनका विवरण भारतीय एवं एशिया की प्राचीन कला से सम्बन्धित सभी पुस्तकों में मिलेगा तथा 'इन्साक्लोपीडिया आफ वर्ल्ड आर्ट' में भी इनका पूर्णतया वृतान्त है।

6–इस सन्दर्भ में देखिए– हेकिन का लेख 'दी बुद्धिस्ट मानेस्ट्री आफ फुन्दकिस्तान' (जरनल आफ दी ग्रेटर इन्डिया सोसायटी में छपा (1940) पृ० 1–14।

7–वेगराम में पूर्णतया उत्खनन का कार्य ग्रिशमान ने किया है और उसका विस्तृत वृतान्त अपने ग्रन्थ 'ली वेग्राम' में किया है। (कैरो

1946)। यहां से प्राप्त हाथी दांत की कला कृतियों का विवरण जेनी आवोये ने अपने लेख 'एन्शियेन्ट इन्डियन आइवेरोज फ्राम वेगराम' में दिया है जो 'जरनल आफ दी इन्डियन सोसायटी आफ ओरिन्टिएल आर्ट' वाल्यूम 16 (1958) में छपा।

8-हद्दा में वार्थों ने 1925-28 के समय में उत्खनन कार्य करके प्राचीन नगरहार के अवशेष निकाले। यहाँ पर चूने-मिट्टी (स्टको) शिल्प कला की बड़ी सुन्दर कला कृतियां मिली हैं। वार्थों ने इसका विवरण अपने ग्रन्थ में किया है जो अफगानिस्तान मेंफ्रांसीसी उत्खनन मण्डल की रिपोर्ट चार में प्रकाशित हुआ (1933)।

9-इन विद्वानों का उल्लेख बल्ख के विवरण के साथ हो चुका है। इस सन्दर्भ में देखिए: बागची - 'इन्डिया एन्ड सेन्ट्रल एशिया' पृ० 34-35

10-पी० बनर्जी एवं आर० सी० अग्रवाल के लेख 'हिन्दू स्कलप्चर्स फ्राम अफगानिस्तान' मेंउल्लेख किया है जो विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थ में चित्रों सहित छपा है (देखिए पृ० 215 से) इनमें अन्य लेखों की सूची भी है जिन पर यह लेख आधारित है। हिन्दू मूर्तियों का प्राप्त स्थान तथा अन्य विवरण भी दिया गया है।

11-ईरान की भूगोल तथा प्रागैतिहासिक इन्साक्लोपीडिया ब्रिटानिका में मिलेगा। इस सम्बन्ध में ग्रिशमान की पुस्तक 'हिस्ट्री आफ ईरान' (पेलीकन) उपयोगी है। मार्टीमर व्हीलर तथा स्टूअर्ट पिगट ने 'भारत और ईरान' शीर्षक लेख भारतीय पुरातत्व विभाग की पत्रिका 'एंसिएन्ट इंडिया' नम्बर 4 में छापा। ईरान तथा भारत के प्राचीन राजनैतिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्धों का उल्लेख-कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया' वाल्यूम 1 में भी मिलेगा। इस सन्दर्भ में स्पूनर के दो लेख 'दी जोरास्ट्रियन पीरिएड आफ इण्डियन हिस्ट्री' नाम से जरनल आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी में छपे (जनवरी एवं जुलाई 1915)।

12-इलिएट - 'हिन्दूजम एण्ड बुद्धिजम' 3 प० 451।

अध्याय 11

चीन में बौद्ध धर्म एवं भारतीय विद्वान

मध्य एशिया में भारतीय संस्कृति और उसके प्रसरण एवं विकास के संदर्भ में बौद्ध भारतीय विद्वानों का ही अनुदान रहा है जिन्होंने वहां से चीन में भी प्रवेश किया तथा तथागत के धार्मिक संदेश को चीनी शासकों एवं जनता तक पहुँचाया। भारतीय बौद्ध विद्वानों को मध्य एशिया एवं भारत से बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद करने के लिए बुलाया गया और उनका राजकीय सत्कार हुआ। चीनी बौद्ध विद्वान, जिनमें फाइयान, य्वांग–चांग तथा ईत्–सिंग प्रमुख हैं, के अतिरिक्त बहुत से अन्य जिज्ञासु भारत के बौद्ध तीर्थ स्थानों की यात्रा के लिए भारत आए तथा यहां से बौद्ध ग्रन्थ एवं अन्य उपहार सामग्री को अपने साथ चीन ले गए। भारतीय चीनी विद्वानों का गमन–आगमन कई शत वर्षों तक इसी प्रकार चलता रहा। भेद केवल इतना था कि भारतीय विद्वान् ज्ञान वितरण के लिए जाते थे और चीनी जिज्ञासुओं का ध्येय इसी ज्ञान का अर्चन करना तथा बुद्ध जी और बौद्ध धर्म के प्रति अपनी आस्था दिखाना था। इस प्रकार दोनों के ध्येय विभिन्न होते हुए भी एक दूसरे से जुड़े थे। इस आदान–प्रदान का क्रम बहुत समय तक चलता रहा। चीनियों ने बुद्ध के संदेश को अपनी ही भाषा में ग्रहण किया और भारतीय विद्वानों को भी चीनी भाषा में पूर्णतया पारंगत होना पड़ा। उनकी संस्कृति पूर्णतया विकसित थी इसलिए भारतीय प्रभाव केवल धार्मिक क्षेत्र एवं उससे जुड़ी कला तक ही सीमित रहा। व्यापारिक क्षेत्र में भी प्रगति हुई और दोनों देशों के बीच बौद्ध धर्म के चीन में प्रवेश करने से पहले भी व्यापार होता था। ईसवी की प्रथम शताब्दी से कौशेय मार्ग द्वारा यह बढ़ने लगा और सामुद्रिक मार्ग से भी दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध बने रहे।

चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश एवं प्रारम्भिक विद्वान[1]

चीन का नाम वास्तव में वहां के त्सिन वंश (ई०पू० 221–209) की ही व्युत्पत्ति है। इसका उल्लेख 'महाभारत', 'मनु–स्मृति' तथा 'कौटिल्य अर्थ-

शास्त्र' में मिलता है जिसमें वहां के विभिन्न प्रकार के कौशेय–रेशमी वस्त्रों का विवरण है। हो सकता है कि यह कोई उसी नाम के छोटे राज्य पर आधारित हो और बाद में इस शब्द द्वारा उस विशाल देश को भी सम्बोधित किया जाने लगा, जैसे कि सिन्धु (हिन्दु) से हिन्दुस्तान या भारत, मध्य एशिया में विदित था। वैसे तो भारत और चीन के बीच व्यापारिक सम्बन्ध ईसा से पहले ही स्थापित हो चुके थे। चीनी दूत चांग–किएन ने ईसा पूर्व 127 वैक्ट्रिया में चीन का बना बांस तथा रेशमी कपड़ा बिकते पाया जो चीन से यूनान तथा वर्मा के मार्ग से पूर्वी भारत आता था। एक चीनी ग्रन्थ में ईसवीं की प्रथम शताब्दी में भारत और चीन के बीच व्यापारिक सामुद्रिक यातायात का उल्लेख है। इसमें ह.वांग–चे नामक एक नगर का भी उल्लेख है जिसकी समानता कुछ विद्वानों ने कांची से की है। उन दोनों के बीच व्यापार के अतिरिक्त उपहारों का आदान–प्रदान भी होता था। इस सन्दर्भ में सिन्दूर और कीचक (बांस) शब्द चीनी 'शिन्–तुंग' और 'कि–चोक' से उद्धृत प्रतीत होते हैं। कुछ किंवबन्तियों के अनुसार भारत के बौद्ध धर्म प्रवर्तक ईसा पूर्व 217 में चीन गए थे और ई0पू0 121 में एक चीनी सेनापति ने मध्य एशिया में बुद्ध की एक सोने की मूर्ति खरीदी थी, पर इन दोनों में सत्यता का अभाव प्रतीत होता है, पर ई0पू0 2 में यूची शासकों द्वारा कुछ बौद्ध ग्रन्थ चीनी शासक को भेट किए गए थे। वास्तव में बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश 65 ई0 में हुआ था और यह चीनी शासकीय श्रोतों पर आधारित है। उस वर्ष सम्राट् मिंग–टी ने स्वप्न में एक स्वर्ण पुरुष देखा जिसे बुद्ध समझा गया। उसने अपने दूतों को बौद्ध धार्मिक विद्वानों की खोज के लिए पश्चिम की ओर भेजा और वे अपने साथ धर्मरत्न तथा काश्यप मातंग नामक दो विद्वान् चीन ले गए। यह दूत एक श्वेत घोड़े पर बहुत से बौद्ध ग्रन्थ भी लाए। इसीलिए चीन में इन बौद्ध विद्वानों के लिए जिस बिहार का निर्माण हुआ उसका नामकरण 'श्वेत अश्व विहार' हुआ। इस प्रकार शासकीय प्रोत्साहन के फलस्वरूप इन दो बौद्ध विद्वानों के अतिरिक्त और भी बौद्ध मंडलों ने चीन में प्रवेश किया और जो विद्वान मध्य एशिया से चीन गए उनमें यूची, पार्थियन, सागडिएन, कुचिएन तथा खोतानी बौद्ध विद्वान भी थे। इस प्रकार चीन में बौद्ध धर्म के प्रसरण एवं विकास में भारत के अतिरिक्त अन्य मध्य एशियाई बौद्ध विद्वानों का भी अनुदान था।

इन बौद्ध विद्वानों में शे–काओ (लोकोत्तम) नामकएक पार्थियन कुमार भी था जिसने राजकीय जीवन त्याग कर बौद्ध भिक्षु का रूप ले लिया था। वह बड़ा विद्वान था और चीन के 'श्वेत अश्व विहार' में अन्य पार्थियन एवं सागडिएन भिक्षुओं के साथ रहता था। इन विद्वानों का कार्यक्रम धार्मिक प्रवचन तथा ग्रन्थों का अनुवाद था। यह कोई ईसवी की दूसरी शताब्दी में चीन गए थे। सेंग-हुई (संघ भद्र) नामक एक अन्य विद्वान् सागडिएन था जिसके पूर्वज भारत में बस गए थे। इसका पिता व्यापार हेतु टोंकिन गया था। उसकी मृत्यु के बाद सेंग-हुई ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया और दक्षिण चीन में धर्म प्रचार का कार्य करने लगा। कहा जाता है कि उसने चीनी सम्राट् वू को बौद्ध धर्म में दीक्षा दी थी। नानकिंग में 247 ई० में उसने एक विहार बनवाया तथा एक बौद्ध स्कूल स्थापित किया। कई मन्दिरों का भी निर्माण किया और बौद्ध मूर्तियां स्थापित कर, तथागत के धर्म का प्रसारण किया[2]। फु–हु (धर्मरक्षक) नामक एक यूची बौद्ध विद्वान ने भी धर्म के विकास में अपना अनुदान दिया। उसका जन्म तुन्–हुआंग में हुआ था और शिक्षा दीक्षा भारतीय विद्वानों द्वारा हुई थी। उसने मध्य एशिया तथा भारत के निकटवर्ती देशों की यात्रा की थी। वह संस्कृत और चीनी सहित 36 भाषाओं का ज्ञाता था और ईसवी की तृतीय शताब्दी के मध्य भाग में, चीन की राजधानी नान-किंग में बस गया था। उसने अपना सम्पूर्ण जीवन बौद्ध धर्म के प्रसरण एवं संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद में व्यतीत किया। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य विद्वानों के नाम भी चीनी श्रोतों से उपलब्ध हैं जिन्होंने ईसवी की प्रथम तीन शताब्दियों में बौद्ध धर्म के विकसित होने में अपना योगदान दिया। इन वृतान्तों से प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति पार्थिया से लेकर चीन के पश्चिमी भाग तक विकसित हो चुकी थी। उस समय तुन–हुआंग, जहां दोनों मार्ग मिलते थे, बौद्ध धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था तथा ईसवी की तृतीय शताब्दी में कुछ भारतीय भी वहां बस गए थे। मध्य एशिया की अपेक्षा चीन की सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था सुगठित थी। इसीलिए भारतीय संस्कृति वहां नहीं पहुँच सकी। हां! धर्म के रूप में इसने प्रवेश अवश्य किया और राजकीय प्रोत्साहन के कारण इसका विकास भी हुआ। ईसवी की दूसरी शताब्दी के माऊ–त्स्य नामक विद्वान ने तो इस धर्म

को कन्फ्यूसियस के सिद्धान्तों से भी ऊपर रखा। छोटे-छोटे चीनी राज्यों के शासकों ने इसे बढ़ावा दिया, पर त्सिन बंश ने चीनी एकता स्थापित करने के साथ-साथ बौद्ध धर्म के चीन में विकास में भी पूर्णतया योगदान दिया। सम्राट् बु (ई० 265–290) तथा सम्राट् मिन (ई० 313–16) के समय में देश के विभिन्न भागों में विहार बने और नानकिंग तथा चंग–नगान में कोई 180 धार्मिक संस्थानों की स्थापना हुई। उस समय बौद्ध भिक्षुओं की संख्या कोई 3700 थी। ईत्–सिंग के मतानुसार उसके समय से पाँच सौ वर्ष पहले बीस बौद्ध भिक्षु चीन से भारत आए थे और उनके लिए श्री गुप्त ने एक मन्दिर बंगाल में बनवाया था। चीन और बौद्ध भिक्षुओं ने तथागत के धर्म को द्वितीय-तृतीय शताब्दी में टोंकिन तक पहुंचा दिया था। माऊ-त्सु प्रथम चीनी भिक्षु था जो वहां गया था। तृतीय शताब्दी के मध्य भाग में सेंग-हुई भी यहां आया था और उसने संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। मारजीवक अथवा जीवक नामक विद्वान भारत से पहले फूनान (दक्षिण कम्बुज) आया था तथा हुए सम्राट के समय (ई० 290–306) में वह लो-यांग गया था। उसने सभी स्थानों पर बौद्ध धर्म का प्रचार किया और बाद में भारत लौट आया। एक अन्य विद्वान कालरुचि अथवा कल्याणरुचि नामक सीथियन था जिसने 255–57 के समय में कई बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। तीसरी शताब्दी के अन्त तक टोंकिन में कोई 20 चैत्य थे और 500 बौद्ध भिक्षु थे।

चौथी शताब्दी के विद्वान

ईसवी की चौथी शताब्दी से कूचा के बहुत से बौद्ध भिक्षुओं ने चीन में बौद्ध धर्म के प्रसारण में अपना योगदान दिया। इन विद्वानों में सबसे प्रमुख कुमारजीव था जिसके वंश तथा कृतियों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। वह चीनी सम्राट् के आमंत्रण पर 401 में चीन की राजधानी आया और 412 तक यहां रहा। इस वर्ष उसका देहावसान हो गया। उसने अपना समय पूर्णतया बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों के अनुवाद एवं बौद्ध धर्म और दर्शन की व्याख्या करने में व्यतीत किया। संस्कृत और चीनी भाषाओं का उसे बहुत अच्छा ज्ञान था और इसीलिए उसने 100 संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया था। चीन के विभिन्न भागों से आए बहुत से

विद्वान उसके शिष्य हो गए थे। इस प्रकार कुमारजीव के आगमन ने चीन के धार्मिक इतिहास में एक नया अध्याय आरम्भ कर दिया था। उस समय बौद्ध जगत में कश्मीर का उच्च स्थान था और यहीं से बहुत से विद्वान चीन गए थे जिनकी संख्या अन्य प्रान्त से चीन आए भारतीय विद्वानों से कहीं अधिक थी। इनमें से कुछ के नाम उल्लेखनीय हैं--जैसे संघभूति (ई० 381–84), गौतम संघदेव (384–397), पुण्य त्रात 404), विमलाक्ष (406–13), बुद्धजीव (423), धर्ममित्र (424–442) तथा धर्मयश (400–424)[8]। पुण्यत्रात और विमलाक्ष कुमारजीव के सहयोगी थे और धर्मयश पुण्यत्रात का शिष्य था। इन सभी विद्वानों का कार्यक्रम बौद्ध संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद तथा बौद्ध दर्शनपर प्रवचन था। इन बौद्ध विद्वानों का मध्य एशिया में धर्म तथा साहित्य के सन्दर्भ में विवरण किया जा चुका है।

बुद्धयश एक अन्य कश्मीरी विद्वान था। वह ब्राह्मण कुल में जन्मा था और बाद में बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली थी। काशगर के शासक के आमंत्रण पर वह तीन सहस्र बौद्ध भिक्षुओं के साथ वहां गया था। उसे अपनी शिक्षा से प्रभावित कर वहीं राज प्रासाद में रहने लगा। वहां से वह कूचा गया और फिर एक वर्ष बाद कुमारजीव के पास चीन चला गया। कुमारजीव की मृत्यु के बाद वह कश्मीर लौट आया। गुणवर्धन भी कश्मीर का रहने वाला था और राजवंश में उसका जन्म हुआ था। वह भी बौद्ध भिक्षु हो गया था। वह लंका होकर जावा गया जहां उसने बौद्ध धर्म का प्रसारण किया। चीनी सम्राट् के आमंत्रण पर वह एक हिन्दू वणिक् नन्दिन् के जहाज़ से 431 में नानकिंग पहुंचा जहां सम्राट ने स्वयं उसका स्वागत किया। उसके लिए जेतवन विहार बनाया गया पर एक वर्ष के बाद उसकी मृत्यु हो गई। इस अल्पकाल में उसने 11 संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया।

पाचवीं-छठवीं शताब्दी के बौद्ध विद्वान

भारत के अन्य क्षेत्रों से जो बौद्ध विद्वान चीन गए और वहां उन्होंने तथागत के धर्म का प्रचार किया उनमें मध्य देश के गुणभद्र (435–468), वाराणसी के प्रज्ञारुचि (516–543), उज्जयिनी के उपशून्य (छठवीं शताब्दी)

और पूर्वी भारत (बंगाल तथा असम) से ज्ञानभद्र, जिनयश और यशोगुप्त (छठवीं शताब्दी) थे। इनके अतिरिक्त उत्तरी-पश्चिमी भारत से बुद्धभद्र, विमोक्षसेन तथा जिनगुप्त भी चीन गए। प्रथम दो अपने को शाक्यवंशीय मानते थे जिनके पूर्वज कोशल के विदूदभ द्वारा शाक्यों के विरुद्ध संघार के समय में कपिलवस्तु छोड़कर उड्डियान (स्वात घाटी) और बामियान (काबुल के निकट) चले गए थे और वहीं के शासक बन गए थे। बुद्ध भद्र का जन्म नगरहार (जलालाबाद) में हुआ था और इसने कश्मीर में शिक्षा प्राप्त की थी। फाइयान के साथ आए एक बौद्ध भिक्षु के आग्रह पर उसे बौद्ध संघ ने चीन जाने के लिए चुना था। वह ब्रह्मा तथा टोंकिन के मार्ग से चीन गया और वहां उसने कुमारजीव के साथ ग्रन्थों के अनुवाद कार्य में सहयोग दिया[4]। जिनगुप्त नामक एक अन्य विद्वान गान्धार का निवासी था और ज्ञानभद्र तथा जिनयश का शिष्य था जिनके साथ वह चीन गया था। यह तीनों 559 में चंग-न्गान पहुंचे और उनके लिए एक विशेष विहार का निर्माण हुआ। राजनैतिक अस्थिरता के कारण 572 में इन्हें चीन से लौटना पड़ा। मार्ग में जिनगुप्त के शिक्षकों की मृत्यु हो गई पर वह स्वयं 581 तक तुर्कों के देश में रहा और अनुवाद का कार्य करता रहा। 585 में वह पुनः चीन गया और 600 में उसकी मृत्यु हो गई।

धर्मक्षेत्र, परमार्थ इत्यादि

मध्य भारत से गए विद्वानों में धर्मक्षेत्र और परमार्थ के नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। धर्मक्षेत्र यहां से कूचा गया था और वहां से पश्चिमी चीन गया। 412–432 तक उसने चीन के इस पश्चिमी राज्य में अनुवाद का कार्य किया। वह लौटना चाहता था पर राजा ने अनुमति नहीं दी। आज्ञा उलंघन के कारण उसे मार्ग में अपने जीवन से हाथ धोना पड़ा। परमार्थ उज्जयिनी का रहने वाला था और वह बौद्ध साहित्य एवं दर्शन में पारंगत था। वह मगध में बस गया था। बू-टी द्वारा भेजे मण्डल के आमंत्रण पर वहां के शासक विष्णु गुप्त के आदेश पर वह चीन गया। अनेकों बौद्ध ग्रन्थों सहित 546 में वह चीन पहुंचा जहां वह 569 तक रहा और इस अवधि में उसने कोई 70 बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। इसी वर्ष इसकी मृत्यु हो गई। धर्मगुप्त नामक एक अन्य विद्वान 590 में चीन

के चंग-न्गान नामक स्थान पहुंचा। वह दक्षिण गुजरात के लाट नामक स्थान का रहने वाला था और कन्नौज के कौमुदी-संघाराम में उसने शिक्षा प्राप्त की थी। टक्का (उत्तरी पंजाब) के देव विहार तथा काशगर में कुछ समय रहने के बाद वह मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग से चीन गया जहां वह 590 में पहुंचा। बौद्ध ग्रन्थों के अनुवाद के अतिरिक्त उसने अपनी यात्रा का भौगोलिक वर्णन भी अपनी एक पुस्तक में किया है।

बोधि धर्म एवं नवीन बौद्ध विचारधारा

चीन में बोधि धर्म नामक कांची के राजवंशीय बौद्ध भिक्षु ने बड़ी ख्याति प्राप्त की। सम्राट बू ने उसका स्वागत किया था। उस समय छठवीं शताब्दी का द्वितीय चतुर्थांश है। उसने चीन में महायान मत चलाया। दक्षिण भारत का एक अन्य बौद्ध विद्वान बिनीतरुचि था जो 582 में चीन की राजधानी पहुंचा। उसने दो ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया और वहां से वह टोंकिन चला गया जहां उसने ध्यान मत चलाया। इस प्रकार चौथी से छठवीं शताब्दी तक के काल में भारतीय बौद्ध विद्वानों ने चीन में तथागत और उनके मत के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर दी। उनकी इस धर्म के प्रति आस्था होने लगी और वे भारत के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित करने के लिए यहां आने का प्रयास करने लगे। इस सन्दर्भ में जिन चीनी बौद्ध विद्वानों ने भारतीय संस्कृत एवं बौद्ध धर्म के प्रति चीनियों को जागृत किया उसमें ताओ-न्गान का नाम सबसे प्रमुख है। मूल संस्कृत एवं चीनी अनुवाद में बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन के बाद उसने बौद्ध दर्शन एवं सिद्धान्तों पर व्याख्या की और बहुत से चीनी विद्वानों को इनमें शिक्षा देकर चीन के विभिन्न भागों में प्रचार के लिए भेजा। उसने भारत और उसके प्रसिद्ध बौद्ध धार्मिक स्थानों के विषय पर भी एक पुस्तक लिखी जिसकी प्रेरणा से बहुत से चीनी बौद्ध भिक्षु भारत की यात्रा के लिए उत्सुक हो उठे। फाइयान के साथ भी कई भिक्षु चल पड़े थे और कुछ और मार्ग में उसके साथ हो लिए थे। उसने अपनी यात्रा का पूर्ण वृतान्त दिया है। फाइयान के साथ पाओं-चुन आया था। उसने यहां संस्कृत भाषा का पूर्ण रूप से अध्ययन किया और लौटने पर संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। 420 में फ-योंग नामक चीनी विद्वान 25 चीनी बौद्ध भिक्षुओं सहित मध्य एशिया और

कश्मीरके मार्ग से भारत आया और फिर समुद्री मार्ग से लौट गया। इस नवीन विचारधारा के साथ चीन में भारतीय विद्वानों को आमंत्रण करने की गति ने भी जोर पकड़ा। 518 में वृहत वाई वंशीय सम्राग्री के आदेश पर शुंग-युन नामक एक दूत एवं एक बौद्ध भिक्षु मध्य एशिया होते हुए उड़ियान और गन्धार पहुंचे। वहां उन्होंने कोई 170 ग्रन्थ संचित किए जो महायान मत से सम्बन्धित थे। शुई वंश के सम्राट यंग (605–617) ने भी मध्य एशिया तथा भारत में शिष्ट मंडल भेजे।

चीन में पूर्वी त्सिन वंश के शासक भी बौद्ध धर्म के संरक्षक थे और उन्होंने भिक्षुओं के लिए बड़े-बड़े विहारों का निर्माण कराया। वाई वंश के राज्यकाल में उत्तरी चीन में बौद्ध धर्म ने 386–534 के युग में बड़ी प्रगति की। कई वाई सम्राट बौद्ध थे। बु-टी (386–401) ने तो 15 चैत्यों और 2 विहारों का निर्माण कराया तथा 1000 स्वर्ण मूर्तियोंकी स्थापना की। कुल मिलाकर 47 विहारों का निर्माण वाई सम्राटों ने किया तथा कोई 30,000 बौद्ध मन्दिर जनसाधारण व्यक्तियों के अनुदान से बने। वाई के अतिरिक्त अन्य शासकों ने भी बौद्ध धर्म के विकास में प्रोत्साहन दिया। उत्तरी त्सी वंश तथा दक्षिणी सोंग, त्सी एवं लिएंग वंश के शासकों ने इस धर्म को बढ़ावा दिया। विद्वानों को संरक्षण प्रदान किया गया, ग्रन्थों के चीनी भाषा में अनुवाद की पूर्ण व्यवस्था की गई और चैत्यों एवं विहारों का निर्माण हुआ। साथ ही बौद्ध ग्रन्थों की खोज के लिए मण्डल भी भेजे गए। कुछ शासक तो स्वयं बौद्ध भिक्षु की तरह जीवन व्यतीत करने लगे। महायान मत के प्रवेश से बौद्ध धर्म का नया अध्याय आरम्भ हुआ। बोधिधर्म के एक शिष्य चि-काई ने तो एक नई विचारधारा चलाई। भारत के साथ सांस्कृतिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित हुए और वाई वंश के समय में (384–534) भारत से भी कोई आठ दूत मण्डल चीन गए[5]।

सातवीं शताब्दी के विद्वान एवं चीनी यात्री

तांग वंश की स्थापना (ई० 618) एवं राजकीय एकीकरण से चीन में बौद्ध धर्म और भारतीय संस्कृति बड़ी लाभकारी सिद्ध हुई। इस लम्बे राजवंशीय काल (618–907) में भारतीय-चीनी सम्बन्ध अपनी चरम सीमा पर पहुंच गए। भारत के सहस्रों बौद्ध धर्म प्रवर्तक-भिक्षु एवं व्यापारी

चीन पहुंचे और वहां से भी बहुत से चीनी भिक्षु तथा राजकीय दूत ईसवी की तृतीय शताब्दी में भारत आए। उस समय नालन्दा विश्वविद्यालय की ख्याति पूर्वी विश्व जगत में फैली हुई थी और इसने दूर-दूर तक जिज्ञासुओं को अपनी ओर आकर्षित किया था। चीनी विद्वान भी अपनी ज्ञान पिपासा की शान्ति के लिए यहां आए और बौद्ध धर्म तथा दर्शन के अतिरिक्त ब्राह्मण दर्शन, गणित, ज्योतिष, भिषज् इत्यादि विषयों का उन्होंने यहां अध्ययन किया। 629 में य्वांग-चांग नामक चीनी बौद्ध भिक्षु मध्य एशिया के उत्तरी मार्ग से चलकर एक वर्ष बाद कापिश पहुंचा और फिर कोई 14 वर्ष के काल में उसने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण किया। अध्ययन के लिए वह दो वर्ष तक कश्मीर और लगभग इतने ही समय तक नालन्दा में ठहरा जहां शीलभद्र से उसने योगचार मत के साहित्य का अध्ययन किया। हर्षबर्द्धन एवं भाष्कर वर्मन् द्वारा सम्मानित होकर वह 644 में मध्य एशिया के दक्षिणी मार्ग से चीन लौट गया। इस चीनी यात्री ने कोई 74 ग्रन्थों का अनुवाद किया और 'सि-यू-कि' नामक पुस्तक में अपनी भारत यात्रा का सम्पूर्ण विवरण राजनैतिक, भौगोलिक एवं सांस्कृति दृष्टिकोणों से किया है। 664 में उसका देहावसान हो गया।

सातवीं शताब्दी में कोई 60 बौद्ध भिक्षु भारत आए जिनका विवरण चीनी स्रोतों में प्राप्य है। इनमें ईत्सिंग सबसे प्रमुख है। वह 671 में चीन से समुद्री मार्ग से चला था तथा सुमात्रा के श्रीविजय में कुछ वर्ष अध्ययन कर 673 में ताम्रलिप्ति नामक बंगाल के पटन पर उतरा। वह भारत में कोई दस वर्ष तक नालन्दा में रहा जहां उसने बहुत से बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा अनुवृति (कापींग) भी की। कोई 400 बौद्ध ग्रन्थ लेकर वह चीन लौटा। उसने कई ग्रन्थों का अनुवाद किया तथा एक संस्कृत-चीनी शब्दकोश भी लिखा। उसने अपनी यात्रा एवं भारत और मलाया में बौद्ध धर्म का सम्पूर्ण विवरण दिया है। भिक्षुओं के दैनिक जीवन में उसकी विशेष रुचि थी। उसने उन 60 चीनी बौद्ध विद्वानों का जीवन भी चित्रित किया है जो भारत आए थे।

प्रभाकर मिश्र इत्यादि एवं शासकीय अनुदान

इस शताब्दी में बहुत से भारतीय विद्वान भी चीन गए। नालन्दा का

प्रभाकर मित्र नामक प्रसिद्ध विद्वान जो मध्य भारत के किसी राज्यवंशीय परिवार का था, 10 भिक्षुओं के साथ पहले मध्य एशिया के पूर्वी तुर्कों के देश गया और वहां पर चीनी दूत के आमंत्रण एवं सम्राट् के अनुरोध पर वह 627 में चीन पहुंचा। यहां पर उसके अनुवाद कार्य में शासन की ओरसे 19 चीनी विद्वानों का सहयोग था। 633 में चीन में उसकी मृत्यु हो गई। 693 में बोधिरुचि नामक विद्वान चालुक्य शासक के वहां आए चीनी दूत के निमंत्रण पर चीन गया। अनुवादन कार्य में उसकी सहायता के लिए चीनी और भारतीय विद्वान थे। भारतीयों में मध्य भारत से चीन आया ब्रह्म नामक एक दूत तथा पूर्वी भारत का कोई स्थानीय शासक ईश्वर भी था। सम्राट् स्वयं भी इस प्रयास में रुचि लेता था तथा प्रासाद की स्त्रियां और उच्च प्रशासनिक व्यक्ति भी उनको देखने के लिए आ जाते थे। बोधिरुचि ने कोई 53 ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। उसकी मृत्यु 727 में हो गई।

मध्य भारत के शासक ईशान् वर्मन् का पुत्र वज्रबोधि नालन्दा का एक प्रसिद्ध विद्वान था। वह पल्लव शासक नरसिंह वर्मन् द्वितीय का शिक्षक था। वह कांची से लंका गया और एक शिष्ट मंडल के साथ वहां से 720 में चीन पहुंचा। उसने वहां तंत्रयान का प्रचार किया और इस विषय पर कई पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, जो वहां बड़ा लोकप्रिय हुआ। उसकी मृत्यु 732 में हुई और उसके बाद उसके कार्य को उसका शिष्य अमोघवज्र करता रहा जो उसके साथ चीन में था। दस वर्ष के लिए वह 736 में लंका लौट आया पर फिर चीन जाकर कोई 25 वर्ष की अवधि में उसने 77 ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। 774 में उसकी मृत्यु हो गई। इस प्रकार विद्वानों की चीन की यात्रा एवं उनके वहां स्वागत ने दोनों देशों के बीच सांस्कृतिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर दिए और राजदूतों का एक देश से दूसरे देश आना जाना आरम्भ हो गया। भारत के उत्तरी, मध्य, पूर्वी एवं दक्षिण के प्रान्तों से राजाओं ने अपने दूत चीन भेजे और वहां से भी इन राज्यों में दूत आए। तांग वंश के इतिहास में चीन और भारत के बीच राजनैतिक सम्बन्धों का सम्पूर्ण वृतान्त मिलता है।

बौद्ध धर्म का विकास एवं धार्मिक कृतियां

चीनी स्रोतों के अनुसार कापिश, उड़ियान, गन्धार, मगध और कश्मीर

के साथ हर्ष के समय से एक शताब्दी तक राजनैतिक सम्बन्ध बने रहे। चीन ने भी इस लम्बे काल में बहुत से दूत भारत के इन राज्यों में भेजे । 727 में तो चीन ने भारत के राजाओं के साथ तिब्बत के विरुद्ध मैत्री स्थापित करने का प्रयास किया । इन सम्बन्धों के साथ साथ चीन में बौद्ध धर्म भी विस्तृत रूप से फैला जिसके कारण स्थानीय धार्मिक शक्तियों में विरोध की भावना भी उत्पन्न हुई, पर यह बौद्ध धर्म के अन्तर्राष्ट्रीय रूप लेने के कारण ज़ोर न पकड़ सकी । मध्य एशिया में बौद्ध धर्म ने अपना दृढ़ स्थान बना लिया था । भारतीय बौद्ध विद्वानों ने चीन में संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद कर उस देश को अपनी धार्मिक धरोहर सौंप दी । जो ग्रन्थ भारत में उपलब्ध नहीं रहे उनके अनुवाद चीनी में उपलब्ध है। इसका श्रेय य्वांग-चांग को है जिसने यहां से बहुत से बौद्ध ग्रन्थों को ले जाकर वहां चीनी में अनुवाद कराया । प्रशासनीय सूचीपत्र के अनुसार छठवीं शताब्दी तक 5000 ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद हुआ और तांग काल की सूचना के अनुसार 2427 ग्रन्थ 8476 भागों में, तथा 799 ग्रन्थ 3364 भागों में अनुवादित किए हैं।[6] इनको लकड़ी के ब्लाक बनाकर छापने का कार्य 972 से आरम्भ हुआ। इस प्रकार चीन में बौद्ध साहित्य के भंडार में वृद्धि होने लगी और इस प्रयास में य्वांग-चांग का बड़ा योगदान था । उसने योगाचार या विज्ञानवाद और सरवास्तिवाद बौद्ध मतों का चीन में संचार किया और इसके एक शिष्य ने विनय मत का प्रसारण किया । इनसे प्रतीत होता है कि बौद्ध मत सम्पूर्ण रूप से चीन में विकसित था । आठवीं शताब्दी में बज्रबोधि ने तंत्रवाद चीन में फैलाया जिसके कारण भारत की भांति चीन में भी बौद्ध धर्म का ह्वास आरम्भ होता है ।

बौद्ध कला एवं ललित कला तथा अन्य साहित्य

बौद्ध धर्म ने कला को भी प्रोत्साहन दिया और इसका प्रभाव चीनी कला पर भी पड़ा । वहां पर एक चीनी भारतीय कला का उत्कर्ष हुआ ।[7] वाई काल में इसमें बड़ी प्रगति हुई । तुन-हुआंग, युन-कांग और लोंग-मेन में चट्टान-गुहा मन्दिर बने तथा उनमें 60—70 फीट ऊंची बुद्ध की मूर्तियों का निर्माण हुआ और दीवारों पर बुद्ध जी की जीवन गाथा का भी चित्रण हुआ । इसमें भारतीय अनुदान भी था । इस सम्बन्ध में तीन भारतीय चित्रकारों के नाम

शाक्य बुद्ध, बुद्धकीर्ति एवं कुमारबोधि विशेषतया उल्लेखनीय हैं जिन्होंने वाई काल में चीन में बौद्ध कला कृतियां बनाईं। इस काल की सबसे सुन्दर मूर्तियां अजन्ता तथा सारनाथ बौद्ध कला पर आधारित प्रतीत होती हैं। तांग काल में भी बौद्ध कला को प्रोत्साहन मिला। तुन-हुआंग में 1000 बुद्धों की गुफाएं इसी काल की है। यहां चीनी कला ने गन्धार, गुप्त कालीन एवं ईरानी कलाओं ने भारतीय कला परम्पराओं को अपना लिया। स्थाप्य कला में भी इनको स्थान मिला और कई मंजिलों के ऊंचे मन्दिरों का निर्माण हुआ। सोंग काल में भारतीय कला शान्सी प्रान्त में मन्दिरों के निर्माण में प्रचलित थी। कला के अतिरिक्त भारतीय गायन विद्या ने भी चीनियों को प्रभावित किया। कूचा के भारतीय गायकों ने चीन में सर्वप्रथम इसका प्रसारण किया और शीघ्र ही यह लोकप्रिय हो गई। 581 में भारत से भी एक गायन मंडल चीन गया। काओत्सु (581–595) नामक चीनी सम्राट् ने तो भारतीय गेय विद्या के प्रति अरुचि दिखाई, पर उसके उत्तराधिकारी ने इसे प्रोत्साहित किया। जापानी किंवदन्तियों के अनुसार तांग काल में चीन से बोधिसत्व और भैरव नामक दो प्रकार के राग जापान गए और इसका श्रेय बोधि नामक एक भारतीय विद्वान को था। चीन में भारतीय ज्योतिष, गणित तथा भिषज् (आयुर्वेद) भी प्रचलित हो चुका था। वहां तीन ज्योतिष केन्द्र थे जो सातवीं शताब्दी में गौतम, काश्यप और कुमार के नाम से प्रसिद्ध थे। संस्कृत में ज्योतिष ग्रन्थ 'नवग्रह सिद्धान्त' का तांग काल में चीनी में अनुवाद हुआ था। 455 में लिखित एक चीन भेषज्य ग्रन्थ या तो कोई भारतीय संस्कृत ग्रन्थ का अनुवाद था अथवा कई ग्रन्थों के अंशों का संकलन था। 11वीं शताब्दी में एक अन्य भारतीय संस्कृत ग्रन्थ 'रावेण कुमार चरित्र' का चीनी में अनुवाद हुआ था। इस ग्रन्थ में बच्चों की बीमारियों और उनके उपचार का विवरण है। इस प्रकार भारत और चीन के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध कई क्षेत्रों में थे। तांगकाल में भारत-चीन के बीच समुद्री मार्ग से व्यापार होता था। 749 के एक वृतान्त के अनुसार कैन्टन में तीन ब्राह्मण विहार थे जहां वे ठहरे थे। कदाचित् ब्राह्मणों के लिए मन्दिर और ठहरने के स्थान बनाए गए होंगे।

आठवीं शताब्दी और उसके बाद धर्मदेव इत्यादि

आठवीं शताब्दी के अन्त में भारत और चीन के बीच सम्पर्क राजनैतिक

परिस्थितियों के कारण समाप्त हो गया। मध्य एशिया में अरबों के प्रवेश ने भारत और चीन के बीच सम्पर्क तथा पश्चिमी जगत के साथ कौशेय व्यापार को बड़ा धक्का पहुंचाया। सोंग वंश (960–1279) के शासकों ने इस सम्बन्ध को पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। 972 में 44 भारतीय भिक्षु चीन गए। एक वर्ष बाद नालन्दा से धर्मदेव नामक विद्वान चीन गया और सम्राट् ने स्वयं उसका स्वागत किया। उसने बहुत से ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया और वह 1001 तक वहां रहा और चीन में उस वर्ष उसकी मृत्यु हो गई। 970 से 1026 के समय में बहुत से भारतीय भिक्षु चीन गए और उनमें मंजुश्री नामक एक पश्चिमी भारत का राजकुमार भी था। 10-11वीं शताब्दी में चीन की राजधानी में बहुत से भारतीय विद्वान थे। यह विद्वान अपने साथ बहुतायत में बौद्ध धार्मिक ग्रन्थ लाए थे और इनका चीनी में अनुवाद करने के लिए एक मण्डल (बोर्ड) बनाया गया जिसमें तीन भारतीय उच्च स्तर पर थे। उन्होंने 982 और 1011 के समय में कोई 200 ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। 950 और 1033 के बीच काल में चीन से बहुत से बौद्ध यात्री भारत आए। 964 में ही कोई 300 भिक्षु भारत के लिए चले और उनकी यात्रा कोई 12 वर्ष रही। दो वर्ष बाद कोई 257 भिक्षुओं का दल भारत आया। चीनी यात्रियों में से पांच ने बोध गया में छोटे लेख लिख छोड़े हैं जिनमें उनकी यात्रा का उल्लेख है। चे-यी 950 में भारत आया था। 1022 में आए तीन यात्रियों ने एक पत्थर के स्तूप निर्माण का उल्लेख किया है। अन्तिम लेख 1033 का है और इसमें सम्राट् ताई-सोंग के समय में एक स्तूप के निर्माण का उल्लेख है जिसके लिए हुए-बेन नामक भिक्षु को आदेश दिया गया था। अन्तिम चीनी यात्री 1033 में भारत आया और 1036 में नौ भारतीय बौद्ध भिक्षु चीन गए। इसके बाद 1053 में केवल एक भारतीय के आगमन का उल्लेख है अन्यथा 1036 के बाद भारत और चीन के बीच बौद्ध विद्वान एवं बौद्ध यात्रियों के गमन-आगमन की क्रिया समाप्त होती है और इसी के साथ ही दोनों देशों के बीच बौद्ध धर्म के सन्दर्भ में सम्पर्क का भी अन्त हो गया। एक स्रोत में चीन में बौद्ध भिक्षुओं की संख्या दी गई है जो 1062 में 1021 की अपेक्षा बहुत घट गई है।

अन्तिम चरण

सोंग काल में दक्षिण भारत और चीन के बीच राजनैतिक सम्बन्ध भी

स्थापित हो गए थे। चीनी स्रोतों के अनुसार एक चोल राजदूत 1015 में चीन गया था और वह अपने साथ बहुत सा उपहार का सामान ले गया था जिसमें मोती तथा हाथीदाँत भी था। 1033 और 1077 में दो और दूत चोलों की ओर से चीन भेजे गए। दक्षिण भारत का चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध बना रहा पर यह कहना कठिन है कि इस व्यापार में भारत का कितना अनुदान था। सोंग वृतान्तों में 971 में कैन्टन में आए हुए व्यापारियों में भारतीयों का उल्लेख नहीं है, पर 1178 में कु--फाई ने भारत-चीन के बीच व्यापार के सन्दर्भ में कुलोन का नाम दिया है। इससे प्रतीत होता है कि अरब लोगों ने पूर्वी एशिया का व्यापार भारतीयों के हाथ से छीन लिया था। तंजोर में मिले 15 चीनी सिक्कों से यह अवश्य प्रतीत होता है कि दक्षिण भारत और चीन के बीच सोंग काल तक व्यापार चलता रहा। भारत और चीन के सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्पर्क 12 वीं शताब्दी से टूट ही गये और किसी भारतीय विद्वान के के चीन जाने का कहीं उल्लेख नहीं मिलता है।

कोरिया एवं जापान में बौद्ध धर्म और विद्वान

चीन के साथ-साथ कोरिया में बौद्ध विद्वानों के आगमन का विवरण भी इसी सन्दर्भ में किया जा सकता है। कोरिया में बौद्ध मत का प्रवेश चीन से हुआ था। इस देश में ईसा पूर्व 57 से 668 ई० के काल तक तीन राज्य थे : उत्तर में कोगुर्यु, दक्षिण-पश्चिम में पक्चे और दक्षिण पूर्व. में शिल्ल। बौद्ध धर्म और चीनी चित्र लिपि ने कोगुर्यु में उत्तर से 372 में प्रवेश किया और कुछ वर्ष बाद दक्षिण से पक्चे में तथागत का संदेश एवं चीनी लिपि पहुँची। शिल्ल में बौद्ध धर्म 424 में पहुँचा। कोरिया से बौद्ध धर्म ने जापान में भी प्रवेश किया। पक्चे के शासक ने जापान के साथ शिल्ल के विरुद्ध मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उपहार के रूप में कुछ बौद्ध ग्रन्थ और मूर्तियाँ भेजीं। कोरिया के भिक्षुओं ने भी इस कार्य में अपना अनुदान दिया। शिल्ल राज्य ने बौद्ध धर्म को 528 में अपना लिया था। 374 में अताओ और शुनताओं नामक दो बौद्ध भिक्षुओं को उत्तरी चीन से कोगुर्य की राजधानी में आमंत्रित किया गया और दूसरे ही वर्ष उनके लिए दो मंदिरों का निर्माण हुआ। 384 में मालानन्द नामक

विद्वान का मध्य भाग में पैक्चयो (पक्चे) में स्वागत किया गया। ऐतिहासिक विवरणों से मन्दिरों के निर्माण एवं चीनी और भारतीय बौद्ध विद्वानों का कोरिया में आगमन और यहाँ बौद्ध धर्म के प्रसारण का वृतान्त मिलता है। दक्षिण में भी बहुत से विद्वानों ने आकर बौद्ध धर्म को फैलाया और शिल्ल के शासकों ने मन्दिरों का निर्माण कराया। एक शासक जिसने 540–576 के काल में राज्य किया था स्वयं बौद्ध भिक्षु हो गया और उसकी रानी भी भिक्षुणी बन गई तथा एक बौद्ध भिक्षु प्रासाद का राज पुरोहित बन गया। लगभग 150 वर्ष में सम्पूर्ण कोरिया बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। यहीं से कोरियाई बौद्ध भिक्षु तथागत का संदेश लेकर जापान गए और बुद्ध की एक मूर्ति तथा बौद्ध ग्रन्थ वहाँ के शासक को उपहार के रूप में भेंट कीं।

जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश कोरिया के द्वारा हुआ जहाँ चीनी प्रचारक एवं विद्वान गए थे पर चीनी और जापानी बौद्ध धर्म में भिन्नता है। जापान में लामाओं को कोई स्थान नहीं मिला और उसका भारत के साथ भी सम्बन्ध नहीं रहा। चीन में तो कुछ सम्राटों ने बौद्ध धर्म को अपनाया और प्रोत्साहन दिया और कुछ ने इसका विरोध किया। इसको राजकीय धर्म भी नहीं माना गया पर जापान में इसका विरोध नहीं हुआ। सातवीं शताब्दी से शिन्टों मन्दिरों को बौद्ध भिक्षुओं के नियंत्रण में दे दिया गया और स्थानीय देवताओं एवं ऐतिहासिक महान पुरुषों को बुद्ध एवं बोधिसत्वों का अवतार मान लिया गया। यहाँ पर चीन के विपरीत बौद्ध धर्म का सामाजिक, राजनैतिक तथा सैनिक क्षेत्रों में सम्पर्क रहा। जापान में बौद्ध धर्म के कई मत अथवा विचारधाराएं और संगठन हो गए जिनकी संख्या 12 थी, पर अधिकतर महायानी विचारधारा के थे। कुछ हीनयानी भी थे। जापान के बौद्ध धर्म को 'जेन' कहा जाता है जो 'छन' अथवा 'ध्यान' का परियायवाची है। इन जेन बौद्धों ने जापान की राजनीति में भी भाग लिया। इसके अनुसार साधारण जीवन व्यतीत करना एवं मन और शरीर पर नियंत्रण रखना तथा उच्च आदर्शों पर चलना ही श्रेष्ठ कर्म है। बौद्ध धर्म के चीन, कोरिया तथा जापान में प्रवेश की अपनी कहानी है। चीन में भारतीय-विद्वान समय-समय पर गए और वहाँ तथागत के मत का प्रसारण किया और बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। वहीं से कुछ विद्वान

जैसे मालानन्द, जो भारतीय नाम है, कोरिया गए और फिर चीनी एवं कोरियायी बौद्ध विद्वान जापान गए। चीन में आए हुए भारतीय विद्वानों में बोधिधर्म का नाम विशेषतया उल्लेखनीय है। 520 में कैन्टन में उसका आगमन चीन के बौद्ध धर्म एवं संगठन के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी। उसने यहाँ ध्यान मत चलाया जिसके अनुसार सच्चा ज्ञान केवल ध्यान द्वारा ही मिलता है और विचारों का आदान प्रदान ही इसके प्रसारण का माध्यम है। उसने कोई पुस्तक नहीं लिखी। सम्राट-वू-टी के सम्मुख उसका 520 में दिया हुआ उपदेश चीनी श्रोतों में मिलता है। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में बुद्ध प्रकृति है और केवल अपने हृदय में सीमित उसी बुद्ध के ध्यान से ही मनुष्य को प्रकाश मिलता है। इसमें बुद्ध को 'आत्मन्' का ही स्वरूप माना है और यह विचारधारा उपनिषद् से मिलती जुलती है। इसमें माया का भी विवरण है और इस प्रकार यह शंकर के अद्वैतवाद का ही स्वरूप है। बोधिधर्म की शिक्षाएं ताओ मत के समान हैं जिसके अनुसार शक्ति और प्रकाश मनुष्य को स्वयं अपने हृदय से लेनी चाहिए। इसके अतिरिक्त और भी बौद्ध मत चीन में प्रचलित थे। धर्म के अतिरिक्त चीन में संस्कृत भाषा ने भी बहुत समय तक अपना स्थान बनाए रखा। तांग काल में बहुत से चीनी विद्वान बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का मूल संस्कृत में अध्ययन करते थे। सोंग बंश में इसके अध्ययन को प्रोत्साहन मिला तथा धार्मिक शब्दकोष भी बना। कुछ चीनी विहारों में संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थ भी रहे होंगे और कई एक को पाश्चात्य विद्वानों ने उपलब्ध करके प्रकाशित भी किया। इस प्रकार भारतीय संस्कृति बौद्ध धर्म एवं संस्कृत भाषा के रूप में चीन में विकसित रही और इसमें भारतीय विद्वानों का बड़ा योगदान था। उन्होंने कुवलेखन ऐसे महान विजेताओं को भी तथागतके धर्म में शरण प्रदान का और उनकी क्रूर प्रवृत्तियाँ शान्ति और सन्मार्ग में परिणित हो गई। भारतीय संस्कृति की बौद्ध धर्म के रूप में यही सबसे बड़ी देन थी।

———

1- चीन में बौद्ध धर्म और बौद्ध विद्वानों का विवरण बागची ने अपने अपने ग्रन्थ 'इन्डिया एण्ड चाइना' में विस्तृत रूप से किया है। इसके अतिरिक्त उनकी एक अन्य फ्रांसीसी में लिखी पुस्तक'लो कैनान बुद्धिक एन चीने" में भी विवरण मिलेगा। इलियट ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दुजम एण्ड बुद्धिज़म' में चीन में बौद्ध धर्म और कुछ भारतीय विद्वानों के योगदान का उल्लेख किया। लामोत की'इस्टुबाग डु बुद्धिज़म आंडियान' तथा 'इन्साक्लोपीडिया आफ रेलीज़न एण्ड एथीक्स' में भी 'बुद्धिजम' तथा 'मिशन्स" के सन्दर्भ में चीन के बौद्ध धर्म और वहां गए भारतीय विद्वानों का वृतान्त है। मजुमदार ने भारतीय विद्या-भवन द्वारा प्रकाशित 'दी एज आफ इम्पीरियल यूनिटी', 'क्लासि-कल एज' तथा 'दी एज आफ इम्पीरियल कन्नौज' में चीन तथा अन्य देशों में बौद्ध धर्म और भारतीय विद्वानों का पूर्णतया विवरण दिया है। इनके अतिरिक्त 'प्रेज़ान्स डु बुद्धिजम' नामक संकलित ग्रन्थ में भी विभिन्न देशों में बौद्ध धर्म का उल्लेख है। नीलकण्ठ शास्त्री की पुस्तक 'फारेन' नोटिसेज़ आफ सदर्न इन्दिया' में चीन और दक्षिण भारत के बीच सम्पर्कों का उल्लेख है। इस सन्दर्भ में मध्य एशिया से गए भारतीय विद्वान जैसे कुमारजीव आदि के जीवन काल तथा कृतियोंका उल्लेख पहले ही हो चुका है। पार्थियन, सागडियन तथा यूची विद्वानों का उल्लेख बागची ने अपनी पुस्तक 'इण्डिया एण्ड सेन्ट्रल एशिया' में किया है। उत्तरी भारत भारत में आए चीनी दूतों का विवरण पेटेख की पुस्तक 'नार्दन इन्डिया एकार्टिंडग टू दी शुई-चिंग-चू (रोम 1950) में मिलेगा।

2- बुलेटिन इ कौले फ्रांसे, 32, पृ० 212-13।

3- इन तिथियों के सम्बन्ध में बागची की पुस्तक 'इन्डिया एण्ड चाइना' और उनके दो लेख देखें जो 'साइनी-इन्डियन स्टडीज़' बाल्यूम 1 में छपे-पृ० 1-17 तथा 65-84।

4- अवेसकी के अनुसार बुद्धभभद्र ३९८ में चीन आया और उस समय फाइ-यान वहीं था। (जे० आर० ए० एस० 1903 पृ० 362)। इस लेख में लंका से चीन गए अन्य दूतों का भी उल्लेख है। (पृ०-368 70)।

5– इनका उल्लेख मजुमदार ने 'क्लासिकल एज' में किया है (पृ० 617)। कि-पिन से 451, 502, 508 तथा 517 में, कपिशा से 503 में, पुरुषपुर से 511 में, गन्धार तथा कश्मीर से भी उसी वर्ष में राजदूत चीन भेजे गए। दक्षिण भारत से भेजे गए दूतों का उल्लेख नीलकण्ठ शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'फारेन नोटिसेज' में किया है ('पृ० 83)।

6– बी० सी० ला० वाल्यूम– पार्ट 1 पृ० 66 से।

7– चीनी कला मुख्यतया चित्रकला का विवरण बैंकोफर ने अपनी पुस्तक "ए हिस्ट्री आफ चाइनीज पेंटिंग्स' में किया है।

8– इस विषय में इल्यिट की पुस्तक 'हिन्दुजम और बुद्धिजम"भाग 3 २ देखें तथा 'इन्साक्लोपीडिया आफ रेलीजन एण्ड एथीक्स' भी देख (वाल्यूम 3 और 8)। जापानी बौद्ध मत पर सूज्नकी का 'ज़ेन बुद्धिजम' सबसे विस्तृत ग्रन्थ है। भारत और कोरिया के बीच सांस्कृतिक सम्बन्धों का उल्लेख रघुबीर ने अपने लेख में किया है जो विवेकानन्द स्मृति ग्रन्थ में छपा है (पृ० 341 से)। इसमें कोरिया में भारतीय आचार्य, कला और साहित्य में बौद्ध धर्म—कुछ प्रसिद्ध विद्वान्, ध्यान मत तथा कोरियायी कला पर भारतीय प्रभाव इत्यादि विषयों पर प्रकाश डाला गया है। कोरिया से आए विद्वानों में छः का नाम मिलता है। लौटकर उन्होंने कोरिया तथा चीन में बौद्ध धर्म का प्रसारण किया। भारत से भी कई विद्वान वहां गए। अन्तिम विद्वान जिगोंग था जो 14 वीं शताब्दी के प्रथम चरण में वहां गया था। जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश कोरिया से ही हुआ और इसमें वहां के विद्वानों का बड़ा योगदान था।

———

अध्याय 12

सारांश

भारत और मध्य एशिया एवं चीन के बीच लगभग एक सहस्र वर्ष के सम्पर्क की आधार शिला भारतीय संस्कृति और उसी का अंग बौद्ध धर्म एवं कला थी। इसके प्रसारण का श्रेय किसी शासक को नहीं था और न इसके लिए बल का ही प्रयोग किया गया था। अशोक ने भी केवल शान्ति दूत ही भारत से बाहर पश्चिमी एशिया के राजाओं के यहाँ भेजे। मध्य एशिया के किसी शासक का नाम उसके लेखों में नहीं मिलता है! हाँ, किंवदन्ती के अनुसार उसके पुत्र कुस्तन का सम्बन्ध खोतान से दिखाया गया है जिसके पुत्र ये–उ–ल की समानता चीनी वृतान्तों में उल्लिखित यु-लिन से की गई है जो ईसवी की प्रथम शताब्दी में खोतान पर राज्य कर रहा था। वास्तव में दक्षिण-पूर्व एशिया की भांति मध्य एशिया क्षेत्र में भी भारतीय संस्कृति के प्रसारण का श्रेय कुछ राजकुमारों तथा व्यापारियों को है। हो सकता है कि उनके साथ कुछ ब्राह्मण भी गए हों। चीन के सम्राट् मिंग द्वारा स्वप्न आने पर बौद्ध विद्वानों को अपने देश में आमंत्रित करना और उसके बाद से क्रमशः मध्य एशिया और भारत से बौद्ध विद्वानों का चीन जाना एवं चीनी यात्रियों का भारत में बौद्ध ग्रन्थ तथा ज्ञान की खोज में आना, दोनों देशों के बीच घनिष्ट सम्बन्धों के स्थापित करने की कहानी है। मध्यस्थ के रूप में मध्य एशिया साँस्कृतिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में अपना योगदान देता रहा। चीन और रोम तथा पश्चिमी जगत के बीच स्थल व्यापारिक कौशेय (रेशम) मार्ग इसी के बीच से होकर जाते थे। चीनी यात्रियों ने भी इन्हीं मार्गों का अनुसरण कर भारत की यात्रा की। इस विशाल मध्य एशिया क्षेत्र का भौगोलिक विस्तार चीन के पश्चिमी भाग से अफगानिस्तान तथा ईरान के पूर्वी भाग तक सीमित था और इसमें विभिन्न जातीय लोग रहते थे। उत्तरी क्षेत्र वाले तो घुमन्तू प्रकृति के थे और दक्षिण के निवासी प्रायः कृषि और वाणिज्य करके एक ही क्षेत्र में सीमित

थे। घुमन्तू व्यक्तियों ने अपनी प्रकृति तथा परिस्थिति के फलस्वरूप केवल मध्य एशिया में ही नहीं वरन् पूर्व में चीन तथा पश्चिम में ईरान, अफगानिस्तान और उत्तरी भारत की राजनीति में बलपूर्वक हस्तक्षेप किया। इन जातियों ने केवल मध्य एशिया में ही संघर्ष नहीं किया वरन् उनका प्रकोप तो निकटवर्ती देशों तक पहुँचा। हूणों ने रोम तक अपनी विजय की ज्वाला प्रज्वलित की। भारत में भी मध्य एशिया की कई जातियाँ आईं पर वे सब यहीं का अंग बनकर घुल-मिल गईं। शक, कुषाण तथा हूणों का मूल स्थान मध्य एशिया ही था।

भारत से मध्य एशिया और वहां से चीन जाने के लिए हिन्दूकुश पार कर बैक्ट्रिया होकर अथवा पूर्वी भारत, उत्तरी ब्रह्मा (बर्मा) होकर क्रमशः पश्चिमी चीनी सीमा तथा दक्षिणी पश्चिमी सीमा प्रान्त पहुंचने के दो मुख्य स्थल मार्ग थे। उत्तरी मार्ग प्रसिद्ध कौशेय (रेशम) मार्ग से मिलता था जो दो अथवा तीन रास्तों से चीन जाता था। मध्य एशिया के बीच से जाते हुए दक्षिणी मार्ग पर अफगानिस्तान के प्रसिद्ध स्थान बामियान, यारकन्द, खोतान, मिरान, चारचन तथा लोबनोर स्थित थे। उत्तरी मार्ग पामीर से काशगर, कूचा, किजिल तथा तुरफान होता हुआ जाता था। दोनों मार्ग तुन-हुआंग में मिलते थे जो एक प्रसिद्ध केन्द्र था और चीन की प्रसिद्ध वृहत् दीवार और उसके अन्तिम गढ़ 'जेड द्वार' के बाहर था। इस प्रकार एक ओर अफगानिस्तान का बामियान और दूसरी ओर तुन-हुआंग के बीच सार्थवाह मध्य एशिया के दुर्गम और सुनसान मार्ग को तय करते थे। इस कौशेय मार्ग की उत्तरी तथा दक्षिणी धुरी पर नगर बसे हुए थे। बीच में तकला माकान का वृहत् मरुस्थल भी पड़ता था। पश्चिम में काशगर महत्वपूर्ण स्थान था क्योंकि यहीं से उत्तरी और दक्षिणी मार्ग आरम्भ होते थे और यहां भारतीय, ईरानी, तुर्की, चीनी लोगों, जो विभिन्न धार्मिक विचारधारा के थे, का समागम होता था।

काशगर से चीन जाने वाले दोनों मार्गों पर स्थित प्राचीन नगरों के अवशेष ढूंढ़ निकालने का श्रेय विभिन्न देशीय अन्वेषण कर्त्ता एवं पुरातत्विदों को है जिन्होंने प्राकृतिक कठिनाइयों को झेलते हुए इन स्थानों को ढूंढ़ निकालने तथा उत्खनन करने का प्रयास किया और उसमें इनको सफलता मिली। इन स्थानों में भारतीय सांस्कृतिक अवशेष मिले हैं जिनके आधार पर कहा

जा सकता है कि यहां भारतीय उपनिवेश अथवा छोटे राज्य रहे होंगे। इन्देरे, लूलान तथा नीया से प्राप्त सात सौ से अधिक खरोष्ठी लेखों के आधार पर वहां की संस्कृति के विभिन्न अंगों का चित्रण किया जा सकता है और इसमें भारतीय अनुदान का भी पता चल सकता है। इन उपनिवेशों में बहुतों के नाम भी भारतीय हैं जैसे शैलदेश (काशगर), येज-कि (अग्निदेश) (वर्तमान कारशार), सो-क्यू अथवा चोक्कुक (यारकन्द) इत्यादि। खोतेन (खोतान) में तो विजयवंश के शासकों ने बहुत समय तक राज्य किया। अन्य भारतीय उपनिवेशों में दक्षिणी मार्ग पर दोमोको, नीया, दन्दान-उलिक, इन्देरे, लूलान, रवाक तथा मिरान थे और उत्तरी मार्ग पर भरुक (उच्च तुरफान) के निकट कुचि-कूचा थे। इन सब स्थानों में बौद्ध धर्म विकसित था। यहां बौद्ध स्तूपों, चैत्यों तथा विहारों के अवशेष मिले हैं जो भारतीय परम्परा पर आधारित है। बहुत से उपलब्ध बौद्ध ग्रन्थ संस्कृत तथा प्राकृत में लिखे हैं और कुछ स्थानीय भाषाओं में हैं। ब्राह्मी और खरोष्ठी में लिखे कुछ अन्य लेख भी प्राप्त हुए हैं। लेखों में शासकों की भारतीय उपाधियां भी दी हैं, जैसे महनुअब महरय (महानुभाव महाराज)। इन लेखों में भारतीय नाम भी मिलते हैं और उन शब्दों का प्रयोग किया गया है जो भारतीय शासन व्यवस्था से सम्बन्धित है जैसे 'चर', 'दूत' इत्यादि। लेखों पर आधारित सांस्कृतिक जीवन का चित्रण विभिन्न अवयवों सहित विस्तृत रूप से किया जा चुका है।

खोतान सबसे प्रसिद्ध भारतीय उपनिवेश था और एक खरोष्ठी लेख में खोतानी शासक महाराज राजातिराज देव विजित सिंह का उल्लेख है। तिब्बती साहित्य में इस भारतीय उपनिवेश के इतिहास का चित्रण किया गया है। इसके अतिरिक्त बौद्ध किंवदन्ती के अनुसार इसका सम्बन्ध अशोक के पुत्र कुणाल से है जो तक्षशिला से खोतान चला आया था और स्वतंत्र रूप से वहां राज्य करने लगा था। खोतान में बौद्ध धर्म का प्रवेश विजितसंभव के राज्यकाल के पांचवें वर्ष से आरम्भ होता है। यहां का गोमती विहार मध्य एशिया में विद्या केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध था। इस सन्दर्भ में यदि खोतान वंश का मौर्य शासकों के साथ सम्बन्ध न भी माना जाये फिर भी यह पूर्णतया विदित है कि भारतीय संस्कृति ने कदाचित् ईसवी की पहली शताब्दी में खोतान में अपना स्थान बना लिया था। कुषाण शासकों का राज्य मध्य

एशिया तक फैला था और इस प्रकार दोनों देश एक राजनैतिक सूत्र में बंध गए थे। खोतान बौद्ध धर्म का भी एक बड़ा केन्द्र बन चुका था। बहुत से भारतीय विद्वान यहां आते थे और अनेकों प्रसिद्ध विद्वान यहां आकर बस गए थे। चीनी यात्री एवं जिज्ञासु भी ज्ञान प्राप्त करने के लिए खोतान के बौद्ध केन्द्र आते थे। उत्तरी मार्ग पर कुचि अथवा कूचा भारतीय संस्कृत का गढ़ था। यहां के शासकों के नाम भी भारतीय मिलते हैं जैसे सुवर्णपुष्प, हरिपुष्प, हरदेव, सुवर्णदेव इत्यादि। यह नगर भी सम्पन्न था और यहां बहुत से बौद्ध विहार तथा विशाल भवन थे। यहां से प्राप्त साहित्य के आधार पर वहां के शैक्षिक जीवन पर भी प्रकाश पड़ता है। संस्कृत भाषा का अच्छी तरह से अध्ययन होता था और कान्तार व्याकरण की शिक्षा दी जाती थी। यहां के विद्वान संस्कृत के मूल ग्रन्थों का कूचियन में सरलता से मौखिक रूप से अनुवाद कर लेते थे। लिपि भारतीय ब्राह्मी थी। धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त भारतीय ज्योतिष, नक्षत्र विद्या तथा चिकित्सा शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ भी खोज में मिले हैं।

कूचा के आगे अग्निदेश था जो वर्तमान काराशार है। यह भी एक प्रसिद्ध भारतीय उपनिवेश था। यहां के शासकों के नाम भी भारतीय थे जैसे इन्द्रार्जुन, चन्द्रार्जुन इत्यादि। इतने भी बौद्ध धर्म के प्रसारण में अपना योगदान दिया और यहां से बौद्ध धर्म ने चीन में प्रवेश किया और बौद्ध विद्वानों ने इसका वहां प्रसार किया। एक अन्य कला केन्द्र बेजाक्लिक है जो प्राचीन काल में बौद्ध धर्म और कला का प्रसिद्ध केन्द्र था। यहां पर बहुत से मन्दिरों के अवशेष मिले हैं और उनकी दीवारों पर भारतीय भिक्षुओं के चित्र बने हुए हैं तथा उनके नीचे ब्राह्मी लिपि में उनके नाम लिखे हैं। यह पीले रंग की संघाटी पहने दिखाये गये हैं। अन्य भिक्षु ऊदे रंग का वस्त्र पहने हैं और उनके नाम तिब्बती अथवा चीनी में हैं। इस सन्दर्भ में अनेकों भारतीय उपनिवेश थे जहां से प्राप्त साहित्यिक एवं कला कृतियां उनकी प्राचीनता एवं बौद्ध धर्म से सम्बन्धित होने का प्रतीक है। यह भी प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म का विस्तार क्षेत्र बहुत ही विस्तृत था और कौशेय मार्ग के दोनों किनारों—पश्चिम में बामियान तथा खोतान, और पूर्व में तुन-हुआंग तक वह उत्तरी तथा दक्षिणी मार्गों के विभिन्न केन्द्रों में फैला हुआ था। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण

मत से सम्बन्धित अवशेष भी प्राप्त हुए हैं। इनमें नीया से प्राप्त मोहरों पर अंकित कुबेर तथा त्रिमुख मूर्तियां और इन्देरे में चित्रित गणेश हैं। इस क्षेत्र में हीनयान तथा महायान दोनों ही बौद्ध मत प्रचलित थे।

ईसवी की प्रारम्भिक शताब्दियों का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ धम्मपद है जो खोतान से १३ मील दूर तक एक अन्य स्थान से प्राप्त हुआ था। इसमें पालि 'धम्मपद' के प्राकृत में लिखे कुछ पद हैं जो और कहीं नहीं मिलते हैं। इसकी भाषा के विषय में कहा जाता है कि यह उत्तरी-पश्चिमी भारत से सम्बन्धित थी और किसी भारतीय भिक्षु ने खोतान में इस ग्रन्थ को लिखा था। इस उप-भाषा (डाएलेक्ट) की अपनी विशेषताएं है। इस समय के कुछ प्रमुख ग्रन्थ जो भारत में खो चुके हैं, मध्य एशिया से ही प्राप्त हुए हैं। इनमें 'उदानवर्ग' नामक ग्रन्थ का 'सरवास्तिवादिन' [मत से सम्बन्ध है। यह मध्य एशिया में बहुत ही लोकप्रिय था और इसका अनुवाद चीनी, तिब्बती तथा मध्य एशिया की और भाषाओं में हुआ था। इसका कुषाण कालीन अनुवाद तुन-हुआंग से प्राप्त हुआ था। तुरफान से अश्वघोष रचित 'सारिपुत्रप्रकरण' तथा उसी कवि एवं नाटककार की दो अन्य नाटकों के अंश भी प्राप्त हुए। यह सबसे प्राचीन संस्कृत नाटक है और यह प्रतीत होता है कि नाटक खेलने की भारतीय परम्परा मध्य एशिया में ईसवी की दूसरी शताब्दी तक पहुंच चुकी थी। इस प्रकार धर्म, कला एवं साहित्य के क्षेत्रों में भारत ने मध्य एशिया में योगदान दिया और यह पूर्णतया भारतीय रूप में ही विकसित हुए। भारतीय उपनिवेश भी कई स्थानों पर स्थापित हो चुके थे और शासकों के नाम भी भारतीय थे। मध्य एशिया की प्रारम्भिक बौद्ध कला वास्तव में गन्धार की यूनानी बौद्ध कला का ही रूप है।

मध्य एशिया से बौद्ध विद्वान एवं प्रचारकों ने तथागत के धर्म एवं साहित्य से चीन को ओतप्रोत किया। कुछ विद्वान भारत से भी गए। बौद्ध धर्म का प्रवेश वस्तुतः ईसवी की प्रथम शताब्दी में धर्मरत्न तथा काश्यप मातंग द्वारा हुआ। इनके अतिरिक्त शे-काओ (लोकोतम) नामक पार्थियन कुमार भिक्षु, सेंग-हुई (संघ भद्र) नामक एक सागडिएन भिक्षु, फ-यु (धर्मरक्षक) नामक एक यूची विद्वान भी चीन गए और वहां धर्म प्रचार के अतिरिक्त उन्होंने बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का भी संस्कृत से चीनी भाषा में अनुवाद किया। चीनियों ने बौद्ध धर्म का स्वागत किया और माक-तस्यू नामक एक चीनी विद्वान ने

बौद्ध धर्म की प्रशंसा की है। वू तथा मिन वंशीय चीनी सम्राटों के समय में चीन में बहुत से विहार बने। नानकिंग तथा चेग-न्थान में कोई १८० धार्मिक स्थान थे। चीनी बौद्धों ने भारत में बौद्ध धार्मिक तीर्थ स्थानों में दर्शन ग्रन्थों का संकलन करने एवं विद्वानों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयास भी किया। फाइयान के समय से तो चीनी विद्वानों एवं जिज्ञासुओं के भारत आने का क्रम पूर्णतया प्रचलित हो गया और समय के साथ बौद्ध धर्म का प्रभाव भी चीन में बढ़ने लगा। मध्य एशिया के बौद्ध विद्वानों ने तथागत के धर्म प्रसारण एवं ग्रन्थों के अनुवाद कार्य में पूर्ण रूप से योगदान दिया। इन विद्वानों में सर्वप्रथम कुमारजीव का नाम आता है जो कुमारायण और जीवा नामक कूचा की एक राजकुमारी का पुत्र था। उसने अपनी मां की संरक्षकता में कश्मीर में बौद्ध धर्म और दर्शन में शिक्षा प्राप्त की थी तथा मध्य एशिया के विभिन्न बौद्ध शिक्षा केन्द्रों में ज्ञानोपार्जन किया था जिससे उसकी बौद्ध जगत में बड़ी ख्याति हुई। कूचा पर चीनी आक्रमण में वह बन्दी बनाकर चीन ले जाया गया जहां वह कांसु प्रान्त के शासक के पास १५ वर्ष रहा। और फिर ४०१–४१२ तक वह चीनी सम्राट् के आमंत्रण पर राजधानी में रहा। अपने चीनी प्रवासकाल में उसने बौद्ध धार्मिक ग्रन्थों का अनुवाद एवं दर्शन की व्याख्या की। कोई १०० ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद हुआ तथा महायान बौद्ध विचारधारा का सर्वप्रथम चीन में प्रचार किया।

कुमारजीव के अतिरिक्त बहुत से भारतीय बौद्ध भी चीन गए जिनमें सबसे अधिक संख्या कश्मीर के विद्वानों की थी। इनमें संघमूर्ति, गौतम संघदेव, पुण्यत्रात, विमलाक्ष, बुद्धजीव, धर्ममित्र और धर्मयश प्रमुख थे। यह सब चौथी शताब्दी के अन्त और पांचवीं के प्रथम अर्द्ध भाग में चीन गए जहां उन्होंने बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया।

मध्य एशिया में कूचा के अतिरिक्त खोतान तथा काशगर भी बौद्ध धार्मिक केन्द्र थे। कहते हैं कि काशगर के शासक ने एक धार्मिक उत्सव के लिए ३००० बौद्ध भिक्षुओं को आमंत्रित किया था। इनमें बुद्धयश नामक एक कश्मीरी विद्वान भी था जो शासक के साथ वहीं प्रासाद में रहने लगा था। कुमारजीव ने उसके साथ महायान ग्रन्थों का अध्ययन किया था। वह कूचा तथा चीन भी गया था और कुमारजीव का चीन में सहयोगी था। उसकी मृत्यु के बाद बुद्धयश कश्मीर लौट आया। गुणवर्मन नामक एक अन्य विद्वान जो

राज्यवंशीय था, सामुद्रिक मार्ग से लंका तथा जावा होता हुआ चीन गया था। ४३१ में चीनी सम्राट् के निमंत्रण पर वह नानकिंग पहुंचा पर केवल एक वर्ष बाद उसकी मृत्यु हो गई। भारत के अन्य क्षेत्रों से गए विद्वानों में गुणभद्र, प्रज्ञारुचि, उपशून्य, ज्ञानभद्र, जिनयश, यशोगुप्त, बुद्धभद्र, विमोक्ष-सेन और जिनगुप्त के नाम उल्लेखनीय हैं। यह पांचवीं-छठवीं शताब्दी में चीन गए। परमार्थ नामक विद्वान को तो एक चीनी शिष्ट मंडल अपने साथ चीन ले गया और उसने कोई ७० बौद्ध ग्रन्थों का चीनी में अनुवाद किया। दक्षिण भारत से भी बौद्ध विद्वान गए जिनमें बोधिधर्म सबमें प्रमुख हैं और इसने वहां ध्यान मत चलाया। चीन की ओर से भी बहुत से जिज्ञासु भारत आए जिनकी कुल संख्या लगभग २०० होगी। इनमें फाइयान के अतिरिक्त युवांन-चांग तथा ईत्सिंग प्रमुख हैं। सातवीं शताब्दी में भारत से नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वान प्रभाकरमित्र और बोधिरुचि और आठवीं में बज्रबोधि चीन गए। बज्रबोधि ने तंत्रायण बौद्ध विचारधारा का चीन में प्रसारण किया। भारत और चीन के बीच इस प्रकार विद्वानों एवं जिज्ञासुओं और धार्मिक पर्यटकों के गमन आगमन से मध्य एशिया क्षेत्र की भी पूरी जानकारी प्राप्त होती है। फाइयान तथा युवांग-चांग मध्य एशिया के मार्ग से ही भारत आए थे और उन्होंने यहां के राज्यों एवं बौद्ध धर्म की प्रगति तथा विहारों और उनमें रहने वाले भिक्षुओं की संख्या इत्यादि का उल्लेख किया है। खोतान के राज्य वंश का उल्लेख तिब्बती वृतान्तों में मिलता है जिसमें विजयकीर्ति के समय तक के शासकों का नाम भी है। बाद में अन्य शासकों के नाम भी मिलते हैं। अन्तिम विजय वंशीय शासक आठवीं शताब्दी के द्वितीय अर्द्ध भाग तक राज्य कर रहा था। इसका नाम कदाचित् विश्वाहे था जिसका उल्लेख मध्य एशिया में प्राप्त दो लेखों में मिलता है। बौद्ध धर्म का विकास एवं विस्तार पूर्ण तथा विस्तृत रूप से हो चुका था।

दक्षिण मार्ग पर स्थित खोतान की भांति उत्तरी मार्ग पर कूचा या कूचि बौद्ध धर्म का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। इसका भारत के साथ घनिष्ट सम्बन्ध था जैसा कि कुमारजीव और उसके पिता कुमारायण के जीवन वृतान्त से प्रतीत होता है। यहां की बोलचाल की भाषा भी हिन्द-यूरोपीय वर्ग की थी और लिपि तो ब्राह्मी थी। चीनी श्रोतों

के अनुसार यहां ईसवी की चौथी शताब्दी में कोई १०,००० स्तूप और मन्दिर थे। इनके साथ बहुत से विहार थे और कुछ में भिक्षुणी रहती थीं। इनमें से कुछ कुमारजीव के गुरु बुद्धस्वामिन् की संरक्षता में थे। भिक्षुणी प्राय: राजवंशीय कुल की थीं और वे पूर्ण रूप से नियंत्रित जीवन व्यतीत करती थीं। यूवांग-चांग के समय में भी कूचा में बौद्ध धर्म अच्छी तरह विकसित था। उस समय कोई १०० विहार थे जिनमें कई सहस्र भिक्षु रहते थे। राजधानी के बाहर बुद्ध जी की ६० फीट ऊंची एक विशाल मूर्ति थी जिसके सम्मुख हर पांचवें वर्ष एक बौद्ध संगिति होती थी तथा धार्मिक जुलूस भी निकलते थे। यहां के निवासी ललित कला में भी दक्ष थे और वीणा अच्छी बजाते थे। उनकी गेय विद्या पर पूरा भारतीय प्रभाव था। यहां पर भारतीय गायक एवं वृन्द वादक भी आए थे। चीनी श्रोतों ने त्साओं ब्राह्मणकुल (कदाचित् झाया उपाध्याय) के गायकों का उल्लेख किया है जो भारत से आकर यहां बस गए थे और उनके वंशज अपना पैतृक व्यवसाय कर रहे थे। इसी कुल का एक सदस्य ५५०–५७७ काल में चीन गया था। सुजीव नामक एक अन्य गायक, जो भारतीय प्रतीत होता है, भी इस समय में चीन गया था। कूचा की गायन परम्परा भारतीय गेय शास्त्रों पर आधारित थी। इसके अतिरिक्त चिकित्साशास्त्र का भी यह अध्ययन होता है जैसा कि बोवर द्वारा उपलब्ध चिकित्सा शास्त्रीय पोथीसे पता चलता है। कुछ संस्कृत के अन्य ग्रन्थ भी मिले।

पश्चिमी क्षेत्र में तारिम और उत्तरी सिन्धु के बीच के भाग में भी बौद्ध धर्म विकसित था। यूवांग–चांग के समय में बलख का राज्य बौद्ध धर्म धर्म का प्रसिद्ध केन्द्र था और इसकी राजधानी को 'छोटा राजगृह" कहा जाता था। यहां कोई १०० विहार थे जिनमें ३०० भिक्षु रहते थे। उस समय वहां बहुत से बुद्धजी के अवशेष भी थे। 'नव संघाराम' नामक विहार सबसे प्रसिद्ध था। अरबों के आक्रमण के फलस्वरूप बलख में बौद्ध (विहार प्रमुख) के पुत्र ने इस्लाम धर्म ग्रहण कर खालिद इब्न बमक के नाम से उच्च पद प्राप्त किया। उसके पुत्रों तथा दो पौत्रों ने ७८६ और ८०३ के बीच के काल में भारतीय ज्योतिष, गणित तथा चिकित्सा शास्त्र का अरब देश में प्रचलन किया। बदकशा और काशगर के बीच में गज़नी (त्सौकुल), कुन्दुक़ (हबोह) तथा अन्य

स्थानों में भी य्वांग-चांग के समय में बौद्ध धर्म विकसित था और वहां के दो शासक अपने को शाक्य वंशज मानते थे। बौद्ध धर्म के अतिरिक्त ब्राह्मण मत भी प्रचलित था पर यह केवल अन्दख (अन-त-लो-पो) तक ही सीमित था। पश्चिमी तुर्कों पर भी बौद्ध धर्म का प्रभाव पड़ा था और नालन्दा के प्रसिद्ध विद्वान प्रभाकर मित्र ने तुर्कीखन के यहां ठहर कर उसे बौद्ध धर्म में रुचि दिलाई तथा तथागत के धर्म की शिक्षाएं भी दीं। कहा जाता है कि आठवीं शताब्दी में एक तुर्की शासक अपनी पत्नी तथा पुत्र के साथ भारत आया था और उसने कश्मीर तथा गन्धार में दो-दो मन्दिरों का निर्माण कराया था। ईतसिंग ने अपने विवरण में तुर्किस्तान में बौद्ध धर्म तथा भारत के साथ उसके सम्पर्क पर प्रकाश डाला है। कहा जाता है कि संघवर्मन् नामक एक समरकन्द का बौद्ध भिक्षु बोधगया में महाबोधि के मन्दिर में दर्शनार्थ आया था। उत्तरी देश के रहने वाले विहार स्वामिन् के नाम से तुषारों द्वारा बोध गया में बने विहार में रहते थे।

मध्य एशिया का तिब्बत तथा मंगोलिया भी अंग माने जाते हैं। कहा जाता है कि तिब्बत के राजकीय वंश की स्थापना एक भारतीय शासक के पुत्र द्वारा हुई थी। पश्चिमी तिब्बत अथवा लद्दाक के राजा भी अपने को शाक्य वंशीय मानते थे। वास्तव में भारत और तिब्बत के बीच सम्पर्क का छठवीं शताब्दी से पहले का प्रमाण नहीं मिलता है। प्रसिद्ध शासक श्रोण-त्सान गां-पो ने लिपि के सन्दर्भ में भारत में एक शिष्टमंडल भेजा और उसके लौटने पर तिब्बत में ब्राह्मी लिपि को अपना लिया गया। बौद्ध धर्म का प्रवेश भी इसी शासक के प्रयास से हुआ और इसका श्रेय शासक की चीनी तथा नेपाली पत्नियों को है। उसने तिब्बत में कोई ९०० विहारों का निर्माण कराया तथा बहुत से बौद्ध विद्वानों को अपने देश में आमंत्रित किया। आठवीं शताब्दी से तिबव्त में बौद्ध धर्म और बौद्ध विद्वानों के आगमन ने ज़ोर पकड़ा। ख्रि–श्रोण–इदे-त्सन ने बौद्ध धर्म को प्रोत्साहित किया। उसे मंजुश्री का अवतार माना गया है। उसने नालन्दा से संघरक्षित को आमंत्रित किया और तिब्बत में भदन्त पद पर सुशोभित किया। इसी ने यहां लामा मत का संचालन किया। इसके समय में पद्म संभव तथा मगध के प्रसिद्ध

दार्शनिक कमलशील भी तिब्बत आए। तिब्बती शासक ने ओदन्तपुरी के प्रसिद्ध मन्दिर की भांति प्सम-यश मन्दिर का निर्माण कराया जो ल्हासा से कोई ३५ मील की दूरी पर है। भारत से आए अन्य प्रसिद्ध विद्वानों में धर्मकीर्ति, विमलमित्र, बुद्धगुह्य तथा शान्तिगर्भ ने यहां बौद्ध तंत्रवाद का संचालन किया। पद्मसंभव को तिब्बत में बड़ी ख्याति मिली और उसकी मूर्ति भी स्थापित की गई। भारतीय विद्वानों ने बौद्ध ग्रन्थों का भी तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। इन अनुवादककारों में जिनमित्र, सुरेन्द्रबोधि, शैलेन्द्र बोधि, बोधिमित्र तथा धनशील के नाम उल्लेखनीय है। सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान दीपांकर श्री ज्ञान के तिब्बत में आगमन ने तो कहानी का रूप ले लिया है। उसका राष्ट्रीय सम्मान के साथ तिब्बत में स्वागत हुआ था। वह कोई १३ वर्ष तिब्बत में रहा और वहां कोई २०० बौद्ध ग्रन्थों की रचना की। पाल काल में तिब्बत और भारत का घनिष्ट बौद्धिक सम्बन्ध बना रहा। वज्रयान तथा सहज्रयान नामक बौद्ध धर्म से सम्बन्धित गुह्य मतो ने भी तिब्बती विचारधाराओं को समन्वित कर वहां नया रूप दिया जो निरन्तर रहा। इसी विचारधारा ने मंगोलिया में भी तिब्बत से ही प्रवेश किया। वास्तव में तिब्बती और मंगोल लामा मत में देवता, सिद्धान्त और चर्याओं को लेकर कोई भिन्नता नहीं है। मंगोली राजनैतिक और सैनिक क्षीणता का कारण भी यह प्रवृत्ति हो सकती है जिसने मंगोलों की क्रूरता, बर्बरता को दया और शील में परिणत कर दिया। कुबले-खन ऐसे विजेताओं ने भी बौद्धधर्म में रुचि दिखाई। पर यह सच है कि तथागत के धर्म ने तिब्बती लामा मत के रूप में वहां की विचारधाराओं तथा प्राचीन धार्मिक परम्पराओं को समविन्त करके मंगोलिया में भी सहिष्णुता की भावना से प्रवेश किया और यह पूर्ण रूप से विकसित भी हुआ।

कोरिया में बौद्ध धर्म का प्रवेश चीनी बौद्ध विद्वानों द्वारा हुआ। भारत से भी वहां विद्वान गए जिनमें मालानन्द का नाम प्रमुख है। कोरिया से बौद्ध जिज्ञासु यहां के नालन्दा विश्वविद्यालय में अपनी ज्ञान पिपासा की शान्ति के लिए आए। कोरिया से ही बौद्ध धर्म ने जापान में भी प्रवेश किया। यहां का बौद्ध जेन मत के नाम से प्रसिद्ध है और इसके भी कई भाग हैं। चीन तथा जापान में बौद्ध धर्म तो अवश्य फैला पर वहां के निवासियों पर

भारतीय संस्कृति के अन्य अवयवों जैसे सामाजिक जीवन, वेशभूषा इत्यादि का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने अपनी देशीय परम्पराओं को नहीं छोड़ा। पश्चिमी क्षेत्र में अफगानिस्तान तथा पूर्वी ईरान के भाग का भारत के साथ राजनैतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्ध बहुत समय तक रहा। मध्य एशिया की जातियों ने अफगानिस्तान होकर ही भारत में प्रवेश किया और भारतीय भी इस मार्ग से वहां गए। बौद्ध धर्म वहां पूर्णतया विकसित था। अफगानिस्तान में दसवीं शताब्दी तक हिन्दू राज्य रहा और वहां की संस्कृति भारत से मिलती जुलती थी अथवा इसी का अंग थी। अखमानी साम्राज्य में तो उत्तरी-पश्चिमी भारत एवं सिन्ध का भाग सम्मिलित था और ईरान के साथ भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध भी थे जिसका प्रभाव धर्म तथा कला के क्षेत्र में पड़ा। भारत ने ईरानी जराथुसरा के अनुयायियों को अपने यहां आश्रय दिया। इस प्रकार भारत का ईरान के साथ सम्बन्ध बना रहा।

भारतीय संस्कृति का मध्य एशिया के विभिन्न क्षेत्रों में प्रसारण का यह संक्षिप्त सारांश है। यह संस्कृति बौद्ध धर्म से जुड़ी हुई थी पर उसके अन्य अवयवों जैसे सामाजिक-आर्थिक जीवन, शैक्षिक व्यवस्था, कला इत्यादि का भी उन जनजातियों पर अधिक प्रभाव पड़ा जिनकी सामाजिक व्यवस्था सुगठित नहीं थी और उनमें धार्मिक आस्था का अभाव था। रेशम मार्ग पर स्थित होने के कारण विभिन्न देशों का उनके नवजीवन पर प्रभाव पड़ा। भारतीय संस्कृति ने उन्हें प्रभावित किया और तथागत की उन्होंने शरण ली। बौद्ध धर्म की सहिष्णुता के कारण तिब्बत के अन्धविश्वास तथा विभिन्न विभूतियों को भी बौद्ध धर्म में स्थान मिल गया। ब्राह्मण धर्म ने भी इस दिशा में प्रयास किया। रामायण की कथा भी यहां प्रचलित हुई पर रूप कुछ भिन्न था और पात्रों में भी समानता न थी। शिव तथा गणेश की मूर्तियां भी मिली हैं। इस प्रकार वास्तविक मध्य एशिया के उस क्षेत्र, जो तिएन-शान और कुन-लुन के बीच तारिम नदी के दोनों ओर फैला है, में भारतीय संस्कृति अपने सभी अवयवों सहित विकसित हुई। साहित्य और कला के क्षेत्रों में भी बड़ी प्रगति हुई। अरबों के आक्रमण और इस्लाम के प्रवाह ने इस क्षेत्र की राजनैतिक परिस्थिति बदल दी और जन-जीवन को नया मोड़ दिया। बौद्धों

न अपने धर्म और साहित्य की रक्षा के लिए प्रकृति का सहारा लिया और वास्तव में तकला माकान मरुस्थल ने लहलहाती संस्कृति और कलाकृतियों को अपने आंचल से छिपा लिया। लगभग एक शताब्दी के अथक परिश्रम के फलस्वरूप इसको पुनः चित्रण करने का प्रयास किया गया और इसमें सफलता भी मिली। अभी भी बहुत से क्षेत्र उत्खनन की प्रतीक्षा में हैं जिससे इस देश के अतीत के इतिहास को पूर्णतया प्रस्तुत किया जा सके और भारतीय सांस्कृतिक अनुदान का विस्तृत रूप से पता चल सके।

परिशिष्ट

सहायक ग्रन्थ सूची

पुस्तकें

Andrews, F.H. — Descriptive Catalogue of Antiquities recovered by Sir Aurel Stein during his explorations in Central Asia, Kansu and Eastern Iran. Delhi, 1936.
— Wall Paintings from Ancient Shrines in Central Asia. London, 1948.

Anand, Mulk Raj — Tibetan Art—Marg Special Number Vol. XVI. No. 4, 1963.

Bagchi, P.C. — India and Central Asia, Calcutta. 1955.
— India and China, Calcutta, 1944.

Banerji, J.N. — Development of Hindu Iconography, Calcutta. 1956.

Beal, S. — Buddhist Records of the Western World, Vol. I & II. London, 1906.

Benjamin, R. — The Wall-Paintings of India, Central Asia and Ceylon — a comparative study. Boston, 1938.

Belenitsky, A. — Central Asia. London, 1969.

Boyer, A.M., Rapson, E.J. & Senart, E. — Kharoshthi Inscriptions discovered by Sir Aurel Stein in Chinese Turkistan, I III. Oxford, 1921-29.

Burrow, T. — The Language of the Kharoshthi Documents from Chinese Turkistan. Cambridge, 1937.

Bussagli, M. — Paintings of Central Asia, Geneva, 1963.

Coomaraswamy, A, K — History of Indian and Indonesian Art. London, 1927; 1965.

Dabbs, J.A. — History of the discovery and exploration of Chinese Turkestan. The Hague, 1963.

Eliot Charle — Hinduism and Buddhism, Vol. I-III. London, 1921.

Giles, H.A. — The Travels of Fa-hien. Delhi, 1972.

Gray, B. — Buddhist Cave Paintings at Tunhuang. London, 1959.

Hambly, G. — Central Asia. New York, 1969.

Hedin, Suen — Central Asia and Tibet towards the holy city of Lassa, 2 Vols. London 1903.

Ingholt, H. — Gandhara Art in Pakistan. New York, 1937.

Le Coq, A. Von. — Buried Treasures of Chinese Turkestan. London, 1928.

Macgovern, W.M. — The Early Empire of Central Asia—(University of North Carolina Press, 1939).

Majumdar, R.C. — The Age of Imperial Unity, Bombay, 1960.

— Classical Age. Bombay, 1964.

— The Age of Imperial Kanauj, Bombay, 1964.

Marshall, J. — Gandhara Art. Cambridge, 1968.

Pelliot, P. — Les grottes de Touen-houang. 6 Vols. Paris, 1920-24.

Puri, B.N. — India under the Kushanas. Bombay, 1965.

Petech, L. — Northern India according to Shui-Ching-Chu. Rome, 1950.

— The Wall Paintings of India, Central Asia and Ceylon. Boston, 1938.

Rice - Talbot, T. — Ancient Arts of Central Asia. London, 1965.

Stein, Aurel — Sand-Buried Ruins of Khotan. London, 1904.

— Ancient Khotan, 2 Vols. Oxford, 1907.

— Ruins of Desert Cathay, 2 Vols. London, 1912.

— Serindia, 5 Vols. Oxford, 1921.

— Innermost Asia, 3 Vols. Oxford, 1929.

— Central Asian Tracks. London, 1920. 1920.

Verma, Usha — Madhya Asia ke Kharoshthi Lekhon me Jewan, Samaj aur Drama. Varanasi, 1959.

लेख

Aalto, P. — On the Role of Central Asia in the spread of Indian Cultural Influence. (India's contribution to World Thought and Culture, Vivekanand Commemoration Volume, pp. (249-262).

Agrawala, R.C. — Some Aspects of Indian Culture in the Kharoshthi Documents from Chiness Turkestan (ibid. pp. 275-281).

— Position of Women and dependents in the Kharoshthi Documents from Chinese Turkestan. (Indian Historical Quarterly—IHQ. 1952.

— Position of slaves and serfs and dependents in the Kharoshthi documents from Chinese Turkestan. IHQ. 1953 pp. 97-110.

— Numismatic Data in the Kharoshthi documents from Chinese Turkestan. (Journal of the Numismatic Society of India—JNSI—1953—pp. 103-06.

— Numismatic Data in the Niya Kharoshthi Documents from Central Asia. JNSI, 1954, pp. 219-30.

— A study of weights, measures in tha Kharoshthi documents from Chinese Turkestan. (Journal Bihar Research Society—JBRS—pp. 365 ff.)

— Form of Taxation in the Kharoshthi documents from Chinese Turkestan. IHQ. 1953, pp. 340-53.

— Some family letters in the Kharosh-

thi documents from Chinese Turkestan. IHQ. 1954, pp. 50-67.

— A Study of textiles and garments in the Kharoshthi documents from Chinese Turkestan. (Bhartiya Vidya, Bombay, 1953 pp. 75-94).

— Life of monks and serfs and dependents in the Kharoshthi documents Chinese Turkestan. 'Swaroop Bharati'—Journal of the Vivekanand Research Institute, 1954, pp. 173-181.

Bagchi, P. — Indian Culture in Central Asia. JBORS. 1946. pp. 9-20.

Banerji, P. — Indra from Balawaste (Indo-Iranian Culture 1968, Vol. XVII.

— Hindus Deities in Central Asia (Vivekanand Volume, pp. 281-288).

Bhattacharya, Chaya —India—A major source of Central Asian Art (ibid, p. 289-298).

Bailey, H.W. — Indo-Iranian (Bulletin School of Oriental and African Studies—BSOAS—1949-50, pp. 121-39; 920-938).

— Gandhari—ibid 1943-46 pp. 764-97.

— The Khotan Dhammapada, ibid, pp. 43-56; 488-512.

— The Rama story in Khotanese (Journal of the American Oriental Society—JAOS—Vol. LIX, pp. 460-8; also in BSOAS.

Binyon, L. -- Essay on the art of Tun-huang Paintings (Serindia, III, pp. 1428-31).

Brough, J. — Legends of Khotan and Nepal—(BSOAS, 1947-48 pp. 333-39).

Burrow, T. — Iranian words in the Kharoshthi documents from Chinese Turkestan, (BSOAS, 1934, pp. 509-16; 779-90).

— Tokharian elements in the Kharoshthi documents from Chinese Turkestan (JRAS 1935, pp. 667-79).

— Further Kharoshthi documents from Niya (BSOAS, 1937, pp. 111-123).

Bushell, S.W. — The Early History of Tibet (JRAS, 1888).

Bussagli, M. — Indian influence in Central Asia (**5000 years of the Art of India**).

Das, Saratchandra — Contributions on the Religion, History etc. of Tibet (Journal of the Asiatic Society of Bengal,—JASB—1881, pp. 187 ff; 1882, pp. 1 ff and 87 ff).

— Indian Pandits in Tibet (Journal of the Buddhist Society of India, I. 1893).

Datta, B. — Early History of Afghanistan ('Man in India' XIX pp. 157-86; 218-73).

Dikshit, K.N. — Buddhist Centres in Afghanistan—(Vivekanand Volume, pp. 229-238).

Filliozat, J. — The expansion of Indian Medicine abroad (Vivekanand Volume, pp. 67-72).

Gupta, S. P. — Pre-historic Indian Cultures in Soviet Central Asia (Vivekanand Volume, pp. 239-248).

— Some Aspects of Buddhist Art in Central Asia (AN Jha Volume I, pp. 43-60).

Hackin, J. — Buddhist Art in Central Asia—In-

dian, Iranian and Chinese influences from Bamiyan to Turfan (**Studies in Chinese Art and some Indian Influences**, 1937, pp. 1-14).

Hackin, J. — The work of the French Archaeological mission in Afghanistan—Indian Arts & Letters—IA & L—XII pp. 41-9.

— The Buddhist Monastery of Fondukistan (Journal of the Greater Indian Society (JGIS) 1940 pp. 1-14; 85-91).

Hambia, Louis — Asia-Central (**Encyclopedia of World Art**—See also **Khotan, Tibetan Art, Tun-huang** and other Centres by the same author in the Encyclopedia of World Art, Vol. s I-XIV).

Harmata, J. — The Oldest Kharoshthi Inscription in Inner Asia ('Acta Orientalia')—Hungary—1966 pp. 1-12.

— The Oldest Brahmin Inscription in Innermost Asia—(A.O. Hungary, 1967, pp. 1-32).

Kingamill, T.W. — The Intercourse of China with Eastern Turkestan. (JRAS, 1882 pp. 74 ff).

— The Migration and Early History of the White Huns (JRAS 1878).

Konow, Sten — Documents relating to the ancient history of the Indo-Scythians (JRAS 1970).

— Strater and Drachim in old Kharoshthi inscriptions (Acta Orientalia—AO—1928, pp. 255-56).

— Some Notes on Central Asian Kharoshthi Documents (BSOAS 1943-46 pp. 513-40).

Litvinsky, B.A. — India and Soviet Central Asia (Vivekanand Volume pp. 263-274).

— Buddhism in Central Asia (Diushanbe Conference Papers, 1968).

Le Coq, A Von — The Fourth Turfan Expedition (JRAS, 1928 pp. 227-230).

Pelliot. P. — Indian influences in the early Chinese Art in Tun-huang (Indian Arts and Letters—IAL 1926).

Puri, B.N. — Geographical Information from Raja sekhara's works (Journal of Indian History—JIH—1962 pp. 412 ff).

Rowland, B. — Studies in the Buddhist Art of Bamiyan—'Art & Thought', 1947 pp. 46-50.

Stein, Aurel — Archaeological Discovery in the neighbourhood of Niya (JRAS, 1901, pp. 569-72).

— Archaelogical work about Khotan (JRAS, 1901, pp. 295-300).

— Ancient Manuscript from Khotan (JRAS. 1906, pp. 695 ff).

Silva, A. — The spices and silk Roads (Vive) kanand Volume, pp. 299-304).

Thomas, F.W. — Buddhism in Khotan & its decline (Asutosh Mookerjee Volume III, pp. 30-52).

— Glimpses of Life under Tibetan rule in Chinese Turkestan. Man. XXXIII pp. 101 ff.

— Some Notes on the Kharoshthi documents from Chinese Turkestan. (Acta Orientalia (AO), Vol. XII, 1934 pp. 39-90).

— ibid. Vol. XIII, 1935, pp. 45-80.

— Some Notes on Central Asian Kharoshthi Documents (BSOAS. 1943-46 pp. 513-40).

— The terms employed in the Central Asian documents (BSOAS, 1935-37, pp. 789-94).

Williams, J. — The Lexiography of Khotanese Paintings 'East & West' Vol. 23— nos. 1-2—1973 pp. 109-154.

६ भिक्षुओं सहित बुद्धजी (मिरान)
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)
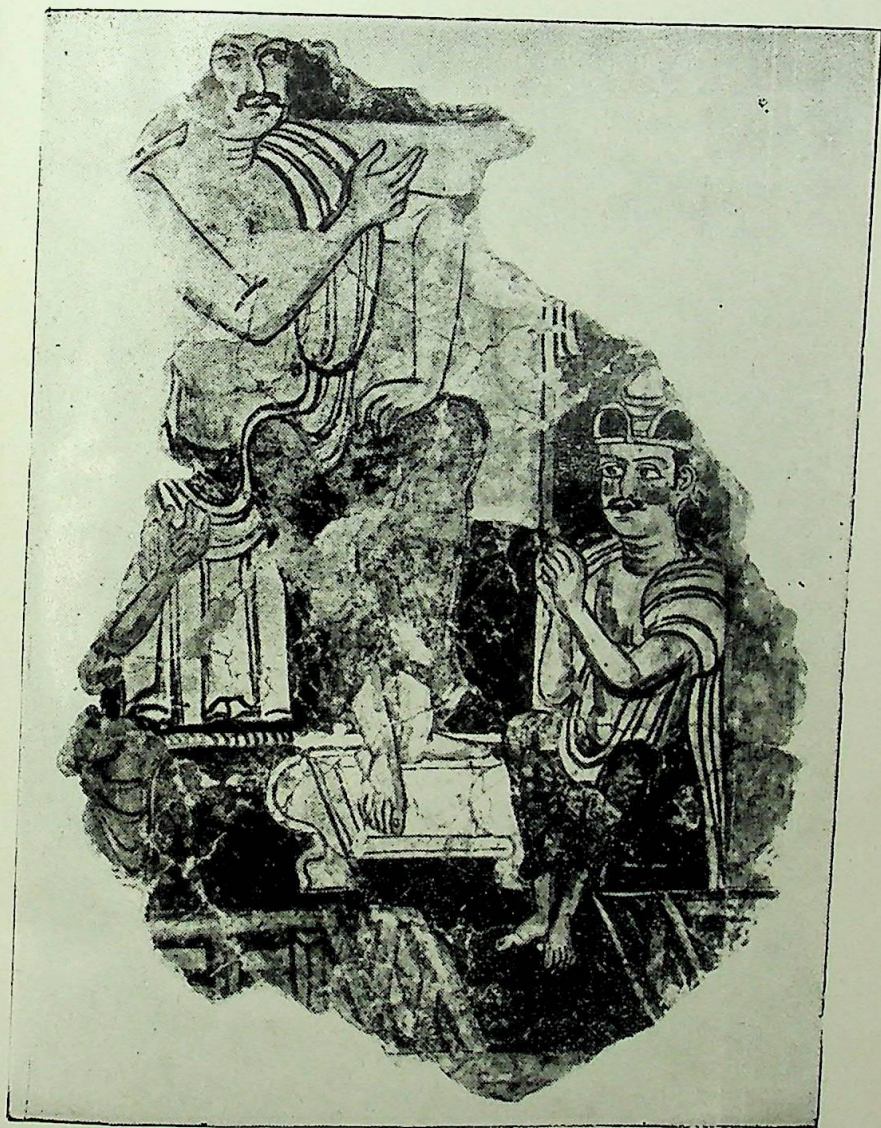
बुद्ध जी उपासकों के साथ (मिरान)
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

बलावस्तै म चित्रित उपासक
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

काशहार के एक बौद्ध विद्वान का चित्र
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

काशहार से बौद्ध भिक्षुओं का चित्र
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)
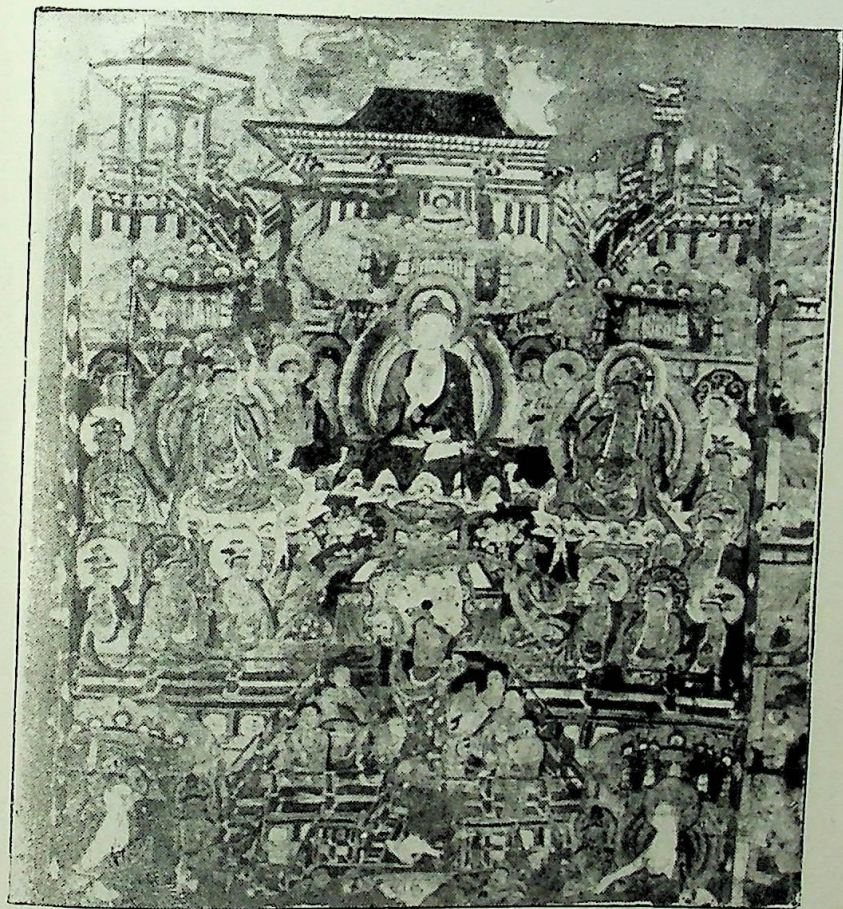
तुन-हुआंग से प्राप्त रेशमी पट पर बौद्ध स्वर्ग चित्रित
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

तुन–हुआंग से प्राप्त रेशमी पट पर चित्रित बोधिसत्व
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

तुन-हुआंग से प्राप्त रेशमी पट पर चित्रित बोधि सत्व
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)
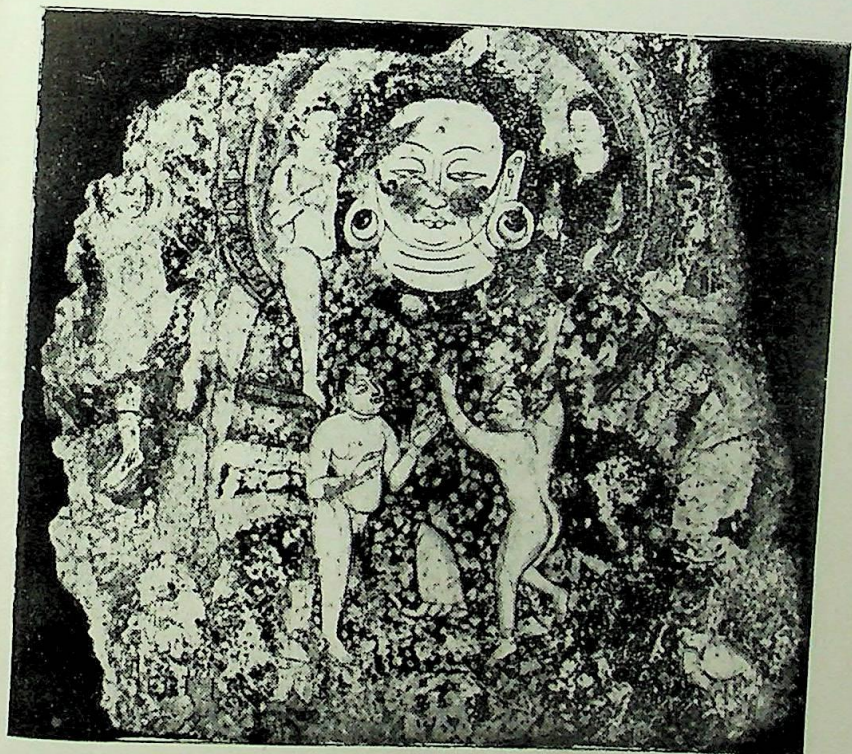
हरीती अपने बच्चों सहित (फरहद-वेजयेलाकी)
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)
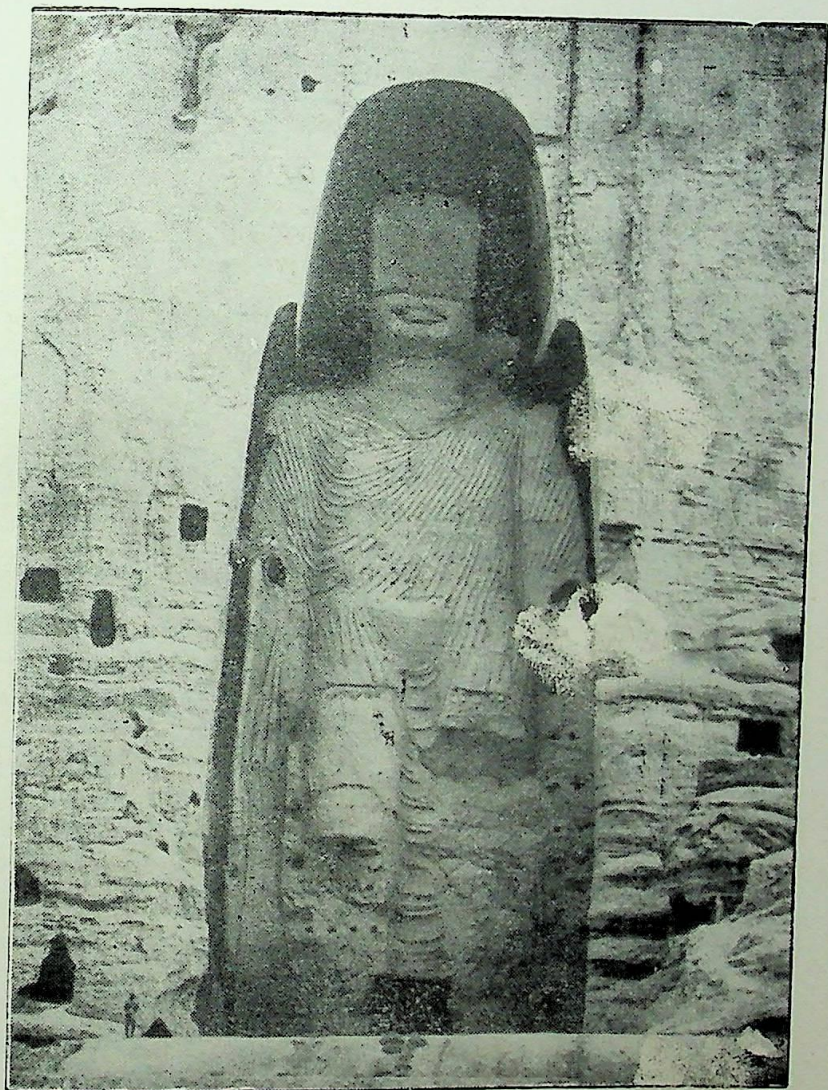
वामियान की गुफा में बुद्धजी की विशाल मूर्ति
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

वामियान की गुफा में बुद्धजी की छोटी मूर्ति
(भारतीय पुरातत्व विभाग के सौजन्य से)

अफगानिस्तान से प्राप्त एक अन्य कलाकृति जो इस समय म्यूजे गिमें, पेरिस के संग्रहालय में है ।
(संग्रहालय के सौजन्य से)

हद्दा (अफगानिस्तान) से प्राप्त एक दैवि–प्रतिमा जो इस समय
म्यूज़े-गिमें पेरिस के संग्रहालय में है ।
(संग्रहालय के सौजन्य से)

प[illegible]क-परिचय

[illegible] और कुन-लुन पहाड़ियों के बीच का क्षेत्र वास्तव में मध्य एशिया की संस्कृति का पालना रहा है। यहां के निवासियों-मुख्यतया शक [illegible] हूणों ने एशिया तथा यूरोप की राजनैतिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों को नया मोड़ दिया। उन्होंने दोनों क्षेत्र में अनुदान दिया। जिसका मूल्यांकन अपना महत्व रखता है। यह क्षेत्र कौरोम अथवा रेशम मार्ग के लिए भी प्रसिद्ध था और यहीं से चीन तथा पश्चिमी जगत के बीच शताब्दियों तक सुचारू रूप से व्यापार होता रहा भारत का भी इस अन्तराल एशिया-जिसे 'सरेन्डिया के नाम से भी सम्बोधित किया गया है— के साथ सैकड़ों वर्ष तक गहरा सम्बन्ध रहा। यहाँ पर बहुत से भारतीय उपनिवेश भी थे तथा भारतीय शासकों के नाम भी मिलते हैं। बौद्ध विहारों, संघारामों इत्यादि का उल्लेख तो चीनी यात्री ख्वांग-यांग ने भी अपने वृतान्त में किया है, पर भारतीय संस्कृति का विवरण उपलब्ध लेखों एवं कला तथा साहित्यिक कृतियों से मिलता है। प्रस्तुत पुस्तक में सम्पूर्ण सामग्री के आधार पर इस क्षेत्र को भौगोलिक परिचय, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, अतीत की खोज, सांस्कृतिक जीवन शासन व्यवस्था, धर्म तथा साहित्य एवं कला का अध्ययन है। द्वितीय भाग में तिब्बत तथा वहाँ भारतीय विद्वानों का अनुदान, तिब्बती कला, अफगानिस्तान एवं पूर्वी ईरान, तथा चीन में बौद्ध धर्म और भारतीय विद्वानों का विवरण हैं।

यह पुस्तक केवल विश्वविद्याल के विद्यार्थियों के लिए नहीं वरन् सर्व साधारण पाठकों के लिए भी लाभदायक होगी जिनकी भारतीय संस्कृति तथा इसके प्रसरण में रुचि है।

मुद्रक : अजन्ता आर्ट प्रेस, निशातगंज, लखनऊ